

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA

ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 43749

CALL No. 891.431/Mis





मीरा
की
प्रेम-साधना

Mirā ki prema-sādhana

Bhuvaneshwar Nath
Mishra



राजकमल प्रकाशन



मीरा
की
प्रेम-साधना

43749



डॉ० मुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

891.431

Mis

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

Oriental & Foreign Book-Sellers,

P. B. 1165, Nai Sarak, DELHI-6.

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 43749

Date 22.11.65

Call No. 8.91.131/Mis.



प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन (प्रा०) लि०
दिल्ली-६

© भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

मूल्य : १०.००

परिवर्तित एवं परिवर्धित चतुर्थ संस्करण

मुद्रक

एवरेस्ट प्रेस, ४ चमेलियान रोड,
दिल्ली-६

1st edn.

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस ग्रन्थ के लेखक श्री माधवजी ने काशी विश्वविद्यालय से अंग्रेजी और हिन्दी में एम० ए० कर चुकने के बाद देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन, विशेषतः करवन्दी आन्दोलन में तीन वर्ष और फलतः जेल में डेढ़ वर्ष रह चुकने के बाद काशी के 'सनातनधर्म' के प्रधान सम्पादक रहते हुए परम पूज्य मालवीयजी महाराज के परम पावन चरणों का सान्निध्य लाभ किया। इनके जीवन-निर्माण में पूज्य मालवीयजी महाराज के कृपा-प्रसाद का विशेष हाथ रहा है। कुछ दिनों तक ये प्रयाग के 'चाँद' और 'भविष्य' के भी प्रधान सम्पादक रहे और 'भविष्य' में एक सम्पादकीय के कारण इन्हें राज-विद्रोह के अभियोग में पुनः इलाहाबाद की मलाका जेल में सेल-की सजा भुगतनी पड़ी। परन्तु इनके जीवन को वास्तविक रससिचन का अवसर तब मिला जब गीता प्रेस, गोरखपुर में 'कल्याण' तथा 'कल्याण कल्पतरु' (अंग्रेजी मासिक पत्रिका) में संयुक्त सम्पादक के रूप में पूरे ग्यारह वर्ष सेवा करने का इन्हें शुभ संयोग मिला। 'कल्याण' में श्री पोद्दारजी का अजस्र वात्सल्य-स्नेह तो मिला ही, साथ ही देश के प्रमुख सन्त-महात्माओं के शुभ सान्निध्य का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्दजी, अरुणाचलम के श्री रमण महर्षि और पांडिचेरी के श्री अरविन्द का सान्निध्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'कल्याण' के अनन्तर आरा जैन कॉलेज में ये छः वर्ष तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे और तदुपरान्त सच्चिदानन्द सिन्हा कॉलेज औरंगाबाद के प्राचार्य पद पर पूरे सात साल। फिर लगभग पाँच वर्ष तक ये बिहार सरकार के शिक्षा विभाग में समाजशिक्षा के उपनिदेशक तथा समाजशिक्षा बोर्ड के सचिव पद पर काम कर पाठ्यग्रन्थ शोध-संस्थान के निदेशक हुए और १९६० से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक हैं।

इनकी मुख्य कृतियाँ 'सन्त साहित्य', 'मीरा की प्रेम-साधना', 'धूप-दीप', 'मेरे जनम-मरण के साथी', 'सन्त वाणी', 'हँसता जीवन', 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' 'श्री अरविन्द चरितामृत' और 'पुराण स्मरण' हैं। 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' शोध-ग्रन्थ पर इन्हें 'डॉक्टर ऑफ़ फिलासोफी' की उपाधि मिली है। सन्तों और भक्तों के साहित्य में माधवजी का हृदय विशेष रमता है।

Received from Mrs. Murali Ram Prasad, D. T. 4/11/85 for Rs. 10/-



निवेदन

मीरा की प्रेम-साधना का सौन्दर्य मेरे हृदय-मन्दिर का एक हँसता हुआ स्निग्ध प्रकाश है। इसकी सहायता से मैं जो कुछ देख सका हूँ उसी को आपके सम्मुख ला रखने की विनम्र चेष्टा इस छोटी-सी पुस्तक का उद्देश्य समझा जाना चाहिए। इस उद्देश्य में मुझे सफलता कहीं तक मिली है, यह बताना मेरा काम नहीं है। मैं तो अपने को इतने ही से वन्य समझूँगा कि मेरे इस प्रथम प्रयास को आप सहृदयतापूर्वक स्वीकार कर लेने की कृपा करें।

अपने आदरणीय आचार्य ध्रुवजी तथा शुक्लजी को मैं धन्यवाद कैसे दूँ ? मेरे प्रति इन दोनों गुरुवरों के हृदय में जो अमूल्य वात्सल्य-स्नेह भरा रहता है, धन्यवाद के शब्द लिखकर, उसका मूल्य कैसे निर्धारित कर दूँ ? इन्होंने अपनी-अपनी ओर से 'परिचय' और 'प्रस्तावना' लिखकर मेरी इस छोटी-सी पुस्तक की महत्ता बढ़ा दी है। इसके लिए मेरा हृदय कृतज्ञ है, पर बागी तो मूक ही रहेगी।

हाँ, यह आवश्यक है कि इस पुस्तक में जो कुछ भूल-चूक हो, मेरी या छापे की, उसके लिए मैं अपने पाठकों और आलोचकों से नम्रतापूर्वक क्षमा माँग लूँ। वस।

असी सङ्गम, काशी

माधव

द्वितीय संस्करण की भूमिका

लगभग बारह वर्ष पूर्व 'मीरा की प्रेम-साधना' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ और साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में इसका बड़े उल्लास के साथ स्वागत हुआ। सबने बड़े प्रेम से इसे अपनाया। देश और विदेश के विख्यात विद्वानों तथा मनीषियों ने, प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा की और उनमें से कईयों ने निजी तौर पर पत्र लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया। उन पत्रों और सम्मतियों को प्रकाशित कर मैं पुस्तक का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता।

मीरा के साथ मेरे अन्तर्जीवन की एक दिव्य समरसता है जो भावयोग के कारण बड़ी ही मीठी, प्यारी, पर साथ ही परम रहस्यमय एवं गोपनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा के साथ मेरे किसी अतीत जीवन का अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध रहा है। 'मीरा' नाम सुनते ही वह सुघ हरी हो आती है। यह मादक मिठास मुझे बेहाल, बेचैन, पर फिर भी 'रस' में सराबोर किये रहती है। परिणाम यह है कि चलता जा रहा हूँ और 'तलाश' जारी है। खोजने का अनुपम आनन्द अपने-आप में इतना नशीला होता है कि वह किसी और चाह को स्थान नहीं देना चाहता। इस 'खोज' में खो जाना ही शायद साधना का चरम सौन्दर्य है। अस्तु।

इस बार इस परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण में कई और नये अध्याय लिखे गए और पुराने अध्यायों को भी नये सिरे से लिखा। सौ-सवासी और पद इस संग्रह में संकलित किये गए और उनके फूटनोट में काफ़ी विस्तार हुआ। पर सच तो यह है कि मीरा पर लिखते हुए कभी भी मेरा जी न भरा। मालूम होता है बाहर-ही-बाहर चक्कर काटकर रह जाता हूँ और 'हृदय की बात' लिखने को रह गई। रसज्ञ पाठक मेरी बेबसी समझेंगे।

पुस्तक बड़ी ही अस्तव्यस्तता की अवस्था में छपी है, अतएव इसमें छापे की बहुत भूलें रह गई हैं, जिनके लिए मैं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

तृतीय संस्करण में

आज 'मीरा की प्रेम-साधना' का तीसरा संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे अपूर्व आह्लाद हो रहा है। इस बीच गंगा का बहुत-सा जल पुल के नीचे से बह चुका है और बहुत-सी बातें 'पुरानी' होकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गई हैं। पर यह आश्चर्य है कि मीरा मेरे लिए नित्य नई होती जा रही है—ऊषा की भाँति। जितनी बार उसे देखता हूँ, और देखने की लालसा बनी ही रहती है; जितना निकट आता गया, और निकट आने की लालसा बढ़ती गई है। लगता है, उसे कभी छू न पाऊँगा, पा न पाऊँगा। इसीलिए उसके बारे में सब-कुछ कहकर भी ऐसा अनुभव होता रहा है कि कहने की बात तो कही ही न जा सकी, मन-की-मन में ही रह गई। अजीब विवशता है, पर है बड़ी भारी, बड़ी मीठी, सर्वथा स्वसंवेद्य।

इस संस्करण में दो नये अध्याय और जुड़े हैं। इधर मीरा पर विद्वानों का ध्यान गया है और बहुत-कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है। परन्तु लगता है हम अपनी 'पंडिताई' में मीरा के साथ अन्याय करते चले जा रहे हैं। उसके प्रेम-प्रवण हृदय पर पांडित्य की शल्य-चिकित्सा भयावह है; साहित्य-साधना, शील, सौन्दर्य, प्रेम, अन्तःप्रेरणा, भावमाधुर्य किसी भी दृष्टि से। परन्तु आज का विद्वान् अपनी विद्वत्ता के घाट सब-कुछ उतारने पर आमादा है, परिणाम चाहे जो हो। परिणाम जो भी हो, इसकी परवाह न करना साहित्य-स्त्रष्टा और समालोचक का धर्म है, परन्तु अपने समालोच्य या वर्ण्य विषय के साथ अन्याय न होने पाए इतना तो हर हृदय रखने वाले सुधी को सोचना ही पड़ेगा। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में भावपूर्ण ग्रहण करना साहित्य के पिपासु को शोभा देता है, परन्तु वह वैसी क्यों है, ऐसी क्यों नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मीरा क्यों आने लगी? सचमुच मीरा भाव-भक्ति से निःसृत अपने गीतों की पंडिताऊ व्याख्या और समालोचना देखकर असीसती होगी, विद्वान् समालोचकों और घुरन्धर पंडितों को। वह देखती होगी ये लोग कहीं उसे खींचे लिये जा रहे हैं। परन्तु इसका एक शुक्ल पक्ष भी तो है और वह यह कि सबकी अपनी-अपनी पूजा की स्वतन्त्र शैली है और जो कुछ भी चढ़ाया जा रहा है—तुलसीदल हैं या विल्वपत्र—सब उपासना के प्रकार के भीतर ही है।

इस संस्करण के मुद्रण के समय मैं अपने कार्यालय के कार्य-भार से इतना दबा हुआ था कि प्रूफ-संशोधन के लिए समय निकालना कठिन था। इस विवश परिस्थिति में श्री शीलभद्र साहित्यरत्न ने इस कार्य में मेरी अत्यधिक सहायता प्रदान की है। यदि उनका हार्दिक सहयोग न मिला होता तो पुस्तक अशुद्धियों से इतनी मुक्त न होती जितना पाठक इसे पा रहे हैं। इस सहयोग के लिए मैं श्री शीलभद्र साहित्यरत्न का सदा आभारी रहूँगा।

विनीत

माधव

२।६ बेली रोड, पटना

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, २०१४ वि०

प्रस्तावना

भक्ति में श्रद्धा और प्रेम दोनों का योग रहता है। दोनों की मात्रा के भेद से भक्ति के कई स्वरूप हो जाते हैं। ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध को विशेष रूप से लेकर जहाँ भावना चलती है वहाँ श्रद्धा का अवयव अधिक रहता है। जहाँ भक्त केवल अपना और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलता है वहाँ प्रेम का अवयव प्रधान हो जाता है। जहाँ दोनों अवयव समान हों वहाँ भक्ति की साम्यावस्था सम्भनी चाहिए।

भारतवर्ष में जो वैष्णव भक्तिमार्ग चला आ रहा है उसमें भावों की अत्यन्त विशद और मार्मिक व्यंजना रामभक्ति और कृष्णभक्ति के क्षेत्रों में हुई। इन दोनों क्षेत्रों की भक्ति के स्वरूप में भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामभक्ति के क्षेत्र में भगवान् और जगत् की सम्बन्ध-भावना बराबर ऊपर रही। इससे वहाँ शील, भक्ति और सौन्दर्य—इन तीनों विभूतियों से समन्वित भगवान् का लोकरक्षक और लोकरंजक रूप सामने रहा। इस प्रकार वहाँ श्रद्धा और प्रेम का साम्य रहा। पर श्रीमद्भागवत के पीछे श्रीकृष्ण का लोकसंग्रही रूप क्रमशः हटता गया और वे कर्मक्षेत्र से अलग होकर प्रेम के मधुर आलम्बन मात्र रह गए। आगे चलकर मुसलमानी जमाने में बल्लभाचार्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण अपने सम्प्रदाय में आवश्यक ठहराया। इस प्रकार कृष्णभक्ति के क्षेत्र में श्रद्धा का अवयव दबता गया और प्रेमत्व की प्रधानता होती गई। लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई। भक्तजन केवल अपना और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलने लगे। इस प्रकार कृष्णभक्ति के क्षेत्र में रहस्य-भावना का उदय हुआ।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का जो स्फुरण हुआ वह जब से क्रमशः प्रधानता प्राप्त करने लगा तभी से कृष्णभक्ति की साधना कुछ-कुछ व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध-निर्वाह के रूप में आने लगी थी। यह बात दक्षिण में विशेष रूप से घटित हुई। वहाँ कई-एक भक्तियों ऐसी हुई जिन्होंने श्रीकृष्ण को एकान्त भाव से पति मानकर भक्ति की साधना की थी। दक्षिण के मन्दिर में देवदासियाँ रखने की जो प्रथा थी उससे इस 'माधुर्यभाव' की उपासना को

और भी सहारा मिला। कुछ लोग अपनी कुमारी कन्याओं को मन्दिर में चढ़ा आते, जहाँ उनका विवाह देवता के साथ हो जाता था। ये ही देवदासियाँ कहलाती थीं। इन देवदासियों के लिए उस देवता की भक्ति पति-रूप में ही विधेय थी। इनमें 'अंदाल' सबसे प्रसिद्ध भक्तितन हो गई हैं। वे कृष्ण को ही अपना पति कहती थीं और उन्हीं के प्रेम में मग्न रहती थीं। 'अंदाल' का जन्म विक्रम संवत् ७७० के लगभग हुआ था।

सूफियों की भक्ति-साधना भी ऐकान्तिक और माधुर्य-भावपूर्ण थी। इससे मुसलमानी जमाने में कुछ कृष्णभक्तों पर सूफियों का भी पूरा असर दिखाई पड़ता है। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की अनेक प्रवृत्तियाँ साफ़ दिखाई पड़ती हैं। जिस प्रकार सूफी कब्बाल गाते-गाते बेहोश या 'हाल' की दशा में हो जाते हैं, उसी प्रकार महाप्रभुजी की मण्डली भी नाचते-नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्योन्मुख भक्ति का प्रधान लक्षण है। उत्तर भारत के प्रसिद्ध कृष्णभक्तों में मीराबाई और नागरीदास की भक्ति 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत आती है। मीराबाई 'लोकलाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं। नागरीदास की भक्ति तो साफ़-साफ़ सूफी ढाँचे में ढली हुई थी। उसमें तो यार, महबूब के साथ मद, प्याला, मूर्च्छा, उन्माद—सूफियों के सारे सामान मौजूद हैं।

कबीर ने भी 'राम की बहुरिया' बनकर अपने प्रेमभाव की व्यंजना की है, पर 'माधुर्य भाव' की जैसी व्यंजना स्त्री-भक्तों द्वारा हुई है वैसे पुरुष-भक्तों द्वारा न हुई है, न हो सकती है। पुरुषों के मुख से वह अभिनय के रूप में प्रतीत होती है। उसमें वैसा स्वाभाविक भोलापन, वैसी मार्मिकता और कोमलता आ नहीं सकती। पति-प्रेम के रूप में ढले हुए भक्ति-रस ने मीरा की संगीत-धारा में जो दिव्य माधुर्य घोला है वह भावुक हृदयों को और कहीं शायद ही मिले।

उस दिव्य माधुर्य का, उस अलौकिक मिठास का, जो अनुभव पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' को हुआ है, उसी को बताने का प्रयत्न इस छोटी-सी पुस्तक में उन्होंने किया है और, मैं समझता हूँ, कि वे बहुत-कुछ बता भी सके हैं। उस मिठास के अनुभव के लिए जिस ढाँचे की भावुकता चाहिए उस ढाँचे की भावुकता उनमें है। माधुर्य भाव से प्रेरित मनोवृत्तियों की बड़ी अच्छी परख का परिचय उन्होंने दिया है। उनकी भावुकता की पद्धति के अनुरूप ही उनकी भाषा भी कहीं हावपूर्ण, कहीं मदाकुल और कहीं रहस्यमयी है। पुस्तक के आरम्भ में भक्ति और प्रेम का व्यापक दृष्टि से कुछ ऐतिहासिक

तथा आध्यात्मिक कहा जाने वाला विवेचन भी है। इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि मीरा के डब के कुछ और भक्तों का भाव-सौन्दर्य भी माधवजी इसी प्रकार प्रदर्शित करेंगे।

दुर्गाकुण्ड, काशी

२६-१२-१९३३

रामचन्द्र शुक्ल
(अध्यक्ष, हिन्दी विभाग)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सूची

परिचय	...	१
अन्तर्दर्शन	...	११
पद-सूची	...	६२
विषय-प्रवेश	...	६७
शृंगार के मनोभाव	...	७४
मधुर रस का स्वरूप और उसकी व्यापकता		८१
भागवत धर्म में श्रीकृष्ण	...	१०३
कला की साधना	...	१११
परम भाव का स्वरूप	...	१२०
अध्यात्म और शृंगार	...	१२७
रास और चीर-हरण का रहस्य	...	१३२
वेदना का सौन्दर्य	...	१३८
मीरा के आविर्भाव-काल में भक्ति की धाराएँ		१४६
रागानुगा भक्ति और गोपीभाव	...	१५३
प्रेम की चिन्तगारी	...	१६३
लौ	...	१७०
रूपराग	...	१७५
विषाद की अभावस्था	...	१८०
आँख-मिचौनी	...	१८५
लीला-विहार	...	१८६
उत्फुल्ल प्रेम	...	१९७
विरह-वेदना	...	२०६
रहस्योन्मुख भावना	...	२१६
मीरा और अन्य प्रेमी कवि	...	२२५
जीवन की एक भलक	...	२३५
उपसंहार	...	२४८
बिनय	...	२५६
रूप-राग	...	२६६

गुरुकृपा और प्रीतिदान	...	२७५
प्रेमाभिलाषा	...	२८६
अभिसार	...	२९२
मिलन और आनन्दोन्माद	...	३०२
प्रेम की पीर	...	३१५
स्वगत	...	३३२
परिशिष्ट	...	३३७
शब्दानुक्रमणिका	...	३६१

परिचय

मनुष्य की अपेक्षा परमात्मा अनन्त गुणवाला है। उसकी लीला अनिर्वचनीय है। वह इस अद्भुत सृष्टि की नाट्यशाला का माया-यवनिकाच्छन्न नटनागर है। मनुष्य उसकी महिमा के अणुमात्र अंश को भी अपनी कल्पना-शक्ति से नहीं समझ सकता। अतएव तत्त्वदर्शी लोग परमात्मा की सत्ता मानते हुए, उसके स्वरूप की अज्ञेयता से उत्पन्न हुए आश्चर्य में निमग्न हो जाते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति, कश्चिदेनमाश्चर्यवद वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

(गीता, २.२६)

केशव ! कहि न जाय का कहिये ।

देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मर्नाहि मन रहिये ॥

(विनयपत्रिका)

गीता के श्लोक के भाव का सन्निवेश महात्मा तुलसीदास ने दो पंक्तियों में कैसी मधुरता से किया है ! इन उद्गारों से भगवान् की आश्चर्यमयी देवमाया के निरन्तर निदिध्यासन में निरत हो जाना यह वेदान्त का पक्ष है। यह पक्ष ज्ञानी को बहुत ही रुचिकर है। परन्तु परमात्मा की अमित महिमा को देखकर चकित न होते हुए उसके मधुर सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाना और उसके अज्ञेय स्वरूप को न सोचते हुए उसके प्रत्यक्ष प्रेम पर आत्मसमर्पण कर डालना यह एक दूसरा पक्ष है जो परममुख की प्राप्ति का सरल साधन है। पहला पक्ष ज्ञानमार्ग का और दूसरा भक्तिमार्ग का है। यद्यपि दोनों मार्गों में कोई तात्त्विक विरोध है नहीं, तथापि मानव-हृदय इन दोनों में प्रायः एक ही ओर झुकता है। इनमें जिस पथ का पथिक जो कोई बन गया वह अपने जीवन के निर्दिष्ट लक्ष्य तक अवश्य पहुँच जाता है—

“सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।”

भक्ति और ज्ञान के परस्पर विरोधी अंश को छोड़कर दोनों ही को अपने हृदय में अवकाश देना यह तो परमात्माभिमुख हृदय की उच्च से उच्च अवस्था है। परन्तु मनुष्य के हृदय में भक्ति और ज्ञान दोनों में एक का

प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक है। दोनों ही मार्गों को मानते हुए प्रत्येक मार्ग में मन्द और शिथिल रहने की अपेक्षा एक ही मार्ग पर आरुढ़ हो जाने से परमात्मा के स्वरूप का अनुभव भली प्रकार हो सकता है।

ऐसे ही एकदेशीय किन्तु अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट साधन के अभ्यास से उत्पन्न हुए अनुभव का निम्नलिखित पद में सन्निवेश है, जिसमें 'आत्मसमर्पण' का भाव कूट-कूटकर भरा है—

मेरे तो गिरिधर [गोपाल दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥
माता छोड़ी पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई ।
सन्तन ढिग बँठि-बँठि लोक लाज खोई ॥
सन्त देखि राजी भई, जगत देखि रोई ।
प्रेम आंसू डार डार अमरबेल बोई ॥
मारग में तारण मिले, सन्त राम दोई ।
सन्त सदा शीश ऊपर राम हृदय होई ॥
अन्त में तन्त काड़यो पीछे रही सोई ।
राणा मेल्या विख का प्याला पीने मस्त होई ॥
अब तो बात फँल गई जाणें सब कोई ।
दासि मीरा लाल गिरिधर होनी हो सो होई ॥

यह पद मेवाड़ की सुप्रसिद्ध भक्तिविह्वला मीराबाई का है। उस साध्वी का स्वाभाविक अबलापन उसकी परमात्म-प्रेमजन्य विवशता में, और उसका मेवाड़-उचित पौरुष, प्रेम में विघ्नभूत संसार-शृंखला को कच्चे धागे की नाई विच्छिन्न कर डालने में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अबलापन और पौरुष—उत्कट प्रेम और वैराग्य—इन दोनों का यथार्थ चित्र इन सुन्दर पंक्तियों में उत्तम रीति से अंकित किया गया है। जिस हृदय में इस रस की तरल तरंगें कभी-कभी उठती होंगी उसे तो इस सुचारु संगीत से कुछ अनिर्वाच्य आनन्द मिलेगा। परन्तु जो इस भाव से नितान्त अनभिज्ञ है, जिसने इस रस का कदापि आस्वादन नहीं किया, उसे इस भावमयी कविता की मार्मिकता और उत्कृष्टता विशद करके बताना निष्प्रयोजन होगा। तथापि इस वैराग्य और प्रेम के विलक्षण भाव में किलोल करती हुई रस-लहरियों के पृथक्-पृथक् अवलोकन करने का यत्न अनुचित न समझा जाएगा।

वैराग्य और प्रेम

परमात्म-प्राप्ति के लिए सबसे पहला और आवश्यक साधन वैराग्य है। जगत् के व्यवहार की ओर कुछ अरुचि उत्पन्न हुए बिना मनुष्य परमात्माभिमुख

नहीं हो सकता। यद्यपि परिणाम में ज्ञानी को जगत् में ही परमात्म-दर्शन होता है, तथापि आरम्भ में जगत् पर जगत् रूप से त्याज्य-बुद्धि होना आवश्यक है। मायिक जगत् से अपनी ममता हटाकर, और परमात्मा की ओर प्रेम-प्रवण होकर ही मनुष्य कृतकृत्य होता है। जब तक मनुष्य की आत्मा की महत्ता को ममता की शृङ्खलाओं ने नियन्त्रित कर रखा है, तब तक वह आत्मा की स्वाभाविक विशालता का अनुभव नहीं कर सकता। इस प्रकार का अनुभव तो उसे तभी होता है जब वह यह समझ लेता है कि मैं यह देह नहीं और माता-पिता भी मेरे नहीं। अनन्त काल-महोदधि में जीवन के पाँच, पचास या सौ वर्ष तो एक-एक क्षण-बिन्दु मात्र ही हैं। इतने परिमित काल तक प्रतीयमान वस्तुओं में, जो अनाद्यनन्त है, उस आत्मा को कैसे सुख मिल सकता है? ऐसे महान् पदार्थ ही होना चाहिये और वह पदार्थ परमात्मा के बिना और कुछ नहीं। वही जीव का सच्चा आश्रय और परम लक्ष्य है। “रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दो भवति”—वही रस है और उसको पाकर जीव सन्तुष्ट होता है। अतएव भक्त-जन बार-बार यह कहते हैं कि परमात्मा ही हमारा घर है—“God is our home”.

“परा हि मे विमन्यवो पतन्ति वस्य इष्टये वयो न वसतीह्य”

—श्रुग्वेद

जैसे पक्षी अपने घोंसले की ओर लौटते हैं वैसे ही, उतने ही आनन्द और उल्लास से, मेरी मनोवृत्तियाँ परमात्मा की ओर खिचती हैं।

आत्मोन्नति की इस ऊँची अवस्था को प्राप्त कर मीरा कहती है—

“माता छोड़ी, पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई।

अब तो बात फँल गई जाणे सब कोई ॥”

लोक-सुखवाद के वर्तमान समय में इस तरह संसार छोड़ने की बात सुनकर कुछ लोग अप्रसन्न होंगे। उनकी दृष्टि में जगत् में रहकर भी परमात्म-चिन्तन हो सकता है। कर्तव्य-कर्म तो सदा करना ही चाहिये। प्रवृत्ति में ही सच्ची निवृत्ति है। संन्यास का वास्तविक अर्थ त्याग नहीं, किन्तु कर्म-फल का त्याग है। इस शैली की उक्तियाँ प्रायः हम सुना करते हैं। यद्यपि इन युक्तियों में बहुत-कुछ सत्य है, तथापि मीराबाई के त्याग की अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः ज्ञान के लिए वैराग्य परमावश्यक है। यद्यपि महा-पुरुष जगत् में विचरते हुए भी अरण्य सद्गुरु एकान्तवास का अनुभव कर सकते हैं, तथापि यह बात तो बिरलों में ही देख पड़ती है। क्या जाने ऐसे महानुभाव पुरुष का जगत् में ‘पद्मपत्रमिवाम्भसा’ निर्लेप रहना उसके असंख्य जन्मों के वैराग्यमय संस्कारों का ही परिणाम हो! मीरा का जीवन अनन्य भक्ति का

आदरणीय दृष्टान्त है। इस मेवाड़-रमणी का त्याग जगत् के बड़े-बड़े धर्म-घुरीण महात्माओं के त्याग के सदृश ही था। क्राइस्ट, बुद्ध, शंकर आदि महात्माओं ने जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन चलाये, उन्हें वे संसार में रहते हुए कभी न चला पाते। उनके त्यागमय जीवन से ही उनका दिग्विजय मनुष्य के हृदय पर स्थापित हो सका। धर्मभावना में त्याग का कैसा माहात्म्य है, इसे समझने के लिए सम्राट् अकबर के चलाये हुए दिव्य-धर्म (दीन-ए-इलाही) का दृष्टान्त बहुत ही शिक्षाप्रद है। उस धर्म में वैराग्य का बड़ा अभाव था, जिस कारण वह निष्फल हुआ। सच तो यह है कि साधारणतया संसार के पामर जीव संसार में पुष्करपलाशवत् निर्लेप नहीं रह सकते। अतएव संसार-त्याग के उद्यम दृष्टान्त के बिना उनका धर्म और ज्ञान की ओर प्रवृत्ति होना असंभव है। मीरा का वैराग्य शुष्क संसार के भगड़ों से नहीं, बल्कि परमात्मा के प्रति अगाध प्रेम से ही उत्पन्न हुआ था।

जगत् से विरक्त होकर रहने वाला मनुष्य जगत् को प्रायः कठोर दृष्टि से देखा करता है। परन्तु मीरा के वैराग्य में परमात्मा का प्रेम-रस भरपूर होने से कुछ मनोहर मृदुता थी, उसका हृदय अत्यन्त कोमल और करुणार्द्र था। वह जगत् के पारमार्थिक दुःखों से दुःखी थी। वर्तमान समय के परोपकारी पुरुष जगत् के व्यावहारिक दुःखों से सहानुभूति करते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझते कि संसार के पारमार्थिक दुःख तो अत्यन्त आसदायक हैं। सूक्ष्म होने के कारण वे स्थूल दृष्टि से प्रतीत नहीं होते। अतएव वे और भी भयंकर हैं। 'जो परमात्मप्रेम मेरा हृदय अनुभव कर रहा है वह समस्त जगत् क्यों न अनुभव करे', इस प्रकार की प्रगाढ़ उत्कण्ठा प्रत्येक परोपकार-परायण हृदय में हुए बिना नहीं रहती। इसलिए ऐसी ही प्रबल उत्कण्ठा से प्रेरित होकर मीरा—

'जगत् देखि रोई'

ऐसा दयार्द्र हृदय बिरले ही महात्माओं में होता है। बुद्ध में था, क्राइस्ट में था, मीरा में था। क्राइस्ट और बुद्ध ने दया से ही प्रेरित हो जगत् के उद्धार करने का मार्ग रचा था। मेवाड़ की यह भक्त महिला यह सब-कुछ तो न कर सकी, किन्तु केवल भक्ति, प्रेम और दया के दिव्य दृष्टान्त रूप में प्रकट होकर उसने अपनी मधुर मूर्ति भारत के हृदय में सदा के लिए स्थापित कर दी। क्या यह बात कुछ साधारण है? मीरा के सदृश परमात्म-प्रेम की सरस मूर्ति जगत् में मिलना बहुत ही कठिन है। अतः उसके दृष्टान्त मात्र से ही हमारा कल्याण हो सकता है।

प्रसङ्गवशात् लौकिक नियमों के माननेवाले पुरुष यह आक्षेप करेंगे कि जिस स्त्री ने पति-सेवा न की उसके दृष्टान्त से जगत् की रीति-नीति और

मर्यादा टूट जाएगी। इस आक्षेप का उत्तर यही है कि सच्चे परमात्म-प्रेम के आवेग में पति की उपेक्षा करना भी क्षम्य है। क्या किसी अलौकिक प्रतिभाशाली कवि की कृति में काव्य के छोटे-मोटे नियमों का उल्लंघन होते हुए भी साधारण मनुष्य को दोषोद्भावना करने का अधिकार है? क्या किसी महापराक्रमी पुरुष को प्राकृत नियमों में बाँधा जा सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार महात्माओं के साधारण नियम-भङ्ग करने में कोई दोष नहीं होते—“समरथ को नाह दोष गुसाईं”। इस दृष्टि से देखते हुए मीरा ने जो साहस किया वह दोष रूप नहीं, किन्तु उसकी कीर्ति को अमर करने वाला तथा जगत् को उन्नत भावना की ओर आकृष्ट और प्रेरित करनेवाला एक उच्च पराक्रम है।

भक्ति, ज्ञान, अभूतत्व

परमात्म-प्रेम के अनेकानेक स्वरूप हो सकते हैं। प्रभु की मधुर मूर्ति का कोई पितारूप से, कोई मातारूप से, कोई बालकरूप से, कोई प्रियारूप से, तो कोई पतिरूप से भजन करते हैं, अर्थात् उससे किसी प्रकार के प्रेम का नाता जोड़ भक्तजन तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि यह प्रेम लौकिक प्रेम के अनुरूप होता है तथापि लौकिक प्रेम से परमात्म-प्रेम में कुछ विलक्षण विभिन्नता होती है। इसका कारण परमात्मा की परता—अर्थात् उसका हर प्रकार के लौकिक भाव से अतीत होना है। परन्तु मनुष्य उस ‘परता’ अर्थात् विदूरता को सहन नहीं कर सकता। अतएव मनुष्य अपने हृदय में प्रिय-से-प्रिय वस्तु का रूपक लेकर परमात्मा की आराधना करता है। इस विधि की आराधना से यह न समझना चाहिए कि हम उस परमतत्त्व को, जिसकी कोई प्रतिमा नहीं—“न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः” किसी तरह की संकीर्ण दृष्टि से देखते हैं अथवा उसे स्थूल स्वरूप दे देते हैं। हम उस चैतन्यघनतत्त्व को हृदय में प्रेम का ऊँचे-से-ऊँचा आसन देकर उसकी आराधना करते हैं। गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम अनन्यता का अनुपम दृष्टान्त है। *‘भक्ति परम प्रेमरूपा’—यथा व्रजगोपिकानाम्’ इस प्रकार भक्ति का लक्षण बतलाकर इसकी विशद व्याख्या करते हुए देवर्षि नारद ने

*“Hence the Soul’s devotion to the Deity is pictured by Radha’s self abandonment to her beloved Krishna and all the hot blood of Oriental passion is encouraged to pour forth in one mighty flood of praise and prayer to the Infinite Creator who waits with loving, out-stretched arms to receive the worshipper into his bosom and to convey him safely to eternal rest across the seemingly shoreless Ocean of Existence. Yet I am persuaded that no indecent thought entered their minds

कहा है—“तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणो परमव्याकुलतेति” अर्थात् रपमात्मा के लिए अखिल कर्मों का अर्पण करना और उसकी क्षणमात्र विस्मृति में अत्यन्त व्याकुलता अनुभव करना—इस अवस्था का नाम ‘प्रेम’ या ‘भक्ति’ है। इस अलौकिक प्रेम के उन्मेष में मीरा गद्गद् कण्ठ से बोल उठती है—

“अमुअन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई ।”

“मैंने तो प्रेम के आसुओं से सिंचन कर अमर प्रेम-बेल लगाई है।” वह अमरबेल तो अमृतत्व ही है, जिसके विषय में, भक्ति-मूर्ति मीरा की नाई; ज्ञान-मूर्ति मंत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था—“येनाहं नामृता स्यां तेन कि कुर्याम्—अमृतत्वस्व वित्तेन नाऽशाऽस्ति ।” मुझे तो अमृतत्व चाहिये, वित्त से अमृतत्व की आशा नहीं, इसलिए वित्त लेकर मैं क्या कहूँगी ? प्रेम, परमात्म-प्रेम, यही अमृतत्व का साधन है, क्योंकि उस प्रेम में ही आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है, और स्वरूप साक्षात्कार अमृतत्व ही किसी स्वर्ग में या अन्य किसी स्थान में मिल सकनेवाली वस्तु नहीं और न इसका यह अर्थ है कि यह भौतिक देह नित्य निरन्तर स्थायी बन सकता है, या अमुक समय से जरा-मृत्यु के बन्धन से मनुष्य छूट सकता है। अमृतत्व यह आत्मा का नित्य-सिद्ध स्वभाव है जिनका अनुभव करना ही ‘अमृतत्व’ है। यह दशा ज्ञान-साध्य है, क्रिया-साध्य नहीं। आत्मा के साक्षात्कार होने ही का नाम ‘अमृतत्व’ है।

आत्मा का अमरत्व सिद्ध करने का यत्न अनेक विद्वानों ने किया है। इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि आत्मा का अमरत्व देश-काल-परिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का अमरत्व उसके लिए तृप्तिकर होने के बदले केवल क्लेशजनक ही होगा। कोटि वर्ष-पर्यन्त यहाँ या सर्वोत्तम स्वर्ग भूमि में रहकर भी क्या करना है ? विषयता के प्रवेश से आत्मा का गतसंग हो जाना ही उसकी सच्ची अमर दशा है। उस आत्मा का या परमात्मा का अमरत्व भी विषयता के प्रदेश से अतीत है, इसलिए वह अमरत्व क्रिया-साध्य नहीं किन्तु ज्ञान-साध्य है।

पूर्वोक्त प्रकार का ज्ञान किस विधि से प्राप्त हो सकता है ? हमारी तर्क-बुद्धि तो—आत्मा अमर है—इस विचार से अधिक दूर पहुँच नहीं सकती। तो फिर आत्मा के अमर भाव का साक्षात् अनुभव किस रीति से हो सकता

when they wrote those burning words; and to those who would protest, as I have heard the protest made, against using the images of the secular in dealing with the most sacred mysteries of the soul, I can only answer—‘Wer den Dichter will verstehen Muss in Dichters Lande gehen.’”

Dr. Grierson's Introduction to the Satsaiya of Biharilal.

है ? ज्ञान से अथवा भक्ति से ? प्रेम-लक्षणा भक्ति ही ज्ञान है और अपरोक्ष ज्ञान ही भक्ति है, इस सिद्धान्त पर यद्यपि कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, तथापि भक्ति और ज्ञान की एकता किस प्रकार की है, इस पर कुछ विचार करना चाहिए ।

भक्ति के दो मुख्य और आवश्यक अङ्ग हैं— प्रेम और श्रद्धा । प्रेम और श्रद्धा के द्वारा भय, शंका आदि दोषों से आत्मा मुक्त हो जाता है । प्रेम से उसमें चैतन्य का विकास होकर आनन्द का भान होता है । ज्ञान के द्वारा भी यही वस्तु प्राप्त की जाती है और उसकी प्राप्ति के लिए भी श्रद्धा और प्रेम अलग ढंग से आवश्यक होते हैं, क्योंकि उनके बिना ज्ञान अस्थिर, शिथिल, शुष्क और परोक्ष रह जाता है । ज्ञान और भक्ति का समन्वय मानते हुए यह शंका उत्पन्न होती है कि भक्ति द्वैत के बिना हो ही नहीं सकती, क्योंकि जब मनुष्य को परमात्मा पर भरोसा और प्रेम करना आवश्यक है तब उसे अपने से भिन्न पदार्थ अथवा द्वैत को स्वीकार करना ही पड़ता है । परन्तु वस्तुतः भक्ति ही द्वैत के अपलाप का सच्चा साधन है । परमात्मा के प्रेम में संलग्न प्रेमी अपनी अहन्ता ममता से मुक्त हो जाता है और यही मुक्ति अद्वैतवाद का भी परम लक्ष्य है । ज्ञान के द्वारा भी यही दशा प्राप्त की जाती है । वस्तुतः आत्मा को अहन्ता ममता का बन्धन नहीं, इसका तात्पर्य यही है कि अहन्ता ममता से रहित आत्मास्थिति प्राप्त करना चाहिये । अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस अहन्ता ममता से रहित आत्मा ही ब्रह्म है । यदि यह बात ध्यान में रखें तो यह स्पष्ट समझ में आता है कि भक्ति और ज्ञान के उभय पक्षों में परमात्मा का समान रीति से अन्तर्भाव है, अर्थात् उभय साधनों द्वारा एक ही गति प्राप्त होती है । इतना ही नहीं, किन्तु दोनों पक्षों में धार्मिकता का भाव भी समान है । तात्पर्य यह कि एक ही तत्त्व पर भक्ति और ज्ञान का लक्ष्य होते हुए भी एक को यदि तत्त्वज्ञान (Philosophy) और दूसरे को धर्म (Religion) कहा जाए तो यह भी अनुचित है । ज्ञान और भक्ति दोनों ही धर्म हैं और एक ही पदार्थ के विभिन्न स्वरूप हैं ।

उक्त प्रकार के प्रेम से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि प्रेम होते ही जब 'मैं' ऐसी वस्तु ही नहीं रहती तब कौन जरा और मृत्यु के पाश में बँधा हुआ कहा जा सकता है ? जिन्होंने अपनी अहमाकार वृत्ति परमात्मा को अर्पित कर दी है, अर्थात् जैसे नदियाँ नाम रूप तजकर समुद्र में लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिसने अपनी भेदमयी अहंमूर्ति ब्रह्मरूप प्रेमसागर में लीन कर दी है, उसकी दृष्टि में ब्रह्म से अलग 'मैं' कहने लायक कोई पदार्थ ही अवशिष्ट नहीं रहता और ऐसी स्थिति में यदि ब्रह्म का नाश सम्भव हो तो वह अपना भी नाश होना मान सकता है ।

जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु हैं हम नाहिं ।
 प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥
 प्रीतम छवि नैननि बसो, औ छवि कहाँ समाय ।
 भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय ॥

यदि ब्रह्म अपने से भिन्न हो तो किसी काल में अपने नाश होने की आशङ्का हो सकती है, किन्तु जब अपना आत्मत्व ही ब्रह्म में है तो फिर अपना विनाश कैसे सम्भव हो सकता है ? अद्वैत वेदान्त में इसी रीति से आत्मा के अमृतत्व के अनुभव करने की प्रक्रिया है। इस विचार-शृंखला से इतना स्पष्ट हुआ कि जो भक्ति को मन्दाधिकारी के लिए उपयुक्त मानते हैं और जो परमात्मा के ज्ञान के बदले (अहङ्कारास्पद) आत्मा के ज्ञान सम्पादन करने में ही सिद्धि मानते हैं, वे वेदान्त-सिद्धान्त को भली-भाँति नहीं समझे।

साधु संगत

परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधु-सङ्ग का कितना माहात्म्य है, इस पर अब कुछ विचार करना चाहिये। मीरा ने ठीक ही कहा है—

“भारग में तारण मिले, सन्त राम बोई ।
 सन्त सदा शीश ऊपर, राम हृदय होई ॥”

इस संसार-सागर से तारण करनेवाले दो ही पदार्थ हैं—एक ‘सन्त’ और दूसरा ‘राम’। उनमें सन्त का स्थान ‘शीश’ ऊपर और राम का ‘हृदय’ में है। सन्त केवल परोक्ष रीति से मार्ग बताकर दूर रहते हैं, वे अपने सहवास से जितना असर हो सकता है उतना करते हैं, किन्तु परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव करना—यह अन्तिम काम हृदय का है। सन्त का मान करना चाहिये और राम हृदय में विराजने चाहिएँ। गुरु का प्रयोजन मार्ग-प्रदर्शन मात्र है और वह जितनी सरलता से उस मार्ग का अनुभव करा सकता है, उतना ही वह आदरणीय है—शिरोधार्य है। किन्तु जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उसको भूलकर उस लक्ष्य के बतलानेवाले गुरु के ही समाराधन में लग जाना एक अत्यन्त शोचनीय भूल है। निःसन्देह साधु-संग बड़ा श्रेयस्कर है। साधुता परमात्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप है। सचमुच इसके सम्पर्क से आत्मा सहज ही में निर्मल हो जाता है।

अमुक व्यक्ति सन्त है या नहीं, इसकी समीक्षा हमें आँख खोलकर करनी चाहिये। सद्गुरु का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं उसी पथ का हमारा सहचर पथिक बने और उस विकट मार्ग की जो-जो कठिनाइयाँ हों उन्हें समय और अधिकार देखकर हमें बतलाए।

सन्त के समागम से, मनुष्य की धीर-से-धीर पशुवृत्ति शान्त हो जाती है और उसके सच्चे मनुष्यत्व का विकास होने लगता है। शास्त्रों में सत्संग की बड़ी महिमा गाई गई है—

सन्तो विशन्ति चक्षुषि बहिरर्कः समुत्थितः ।

देवता बन्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥

भागवत, ११, २६, ३४

आकाश-मण्डल में उदय हुआ सूर्य मनुष्य को केवल बाह्य नेत्र देता है, किन्तु सन्तजन ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं। अतः सन्तजन देवता और बन्धुरूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् भगवान् रूप ही हैं।

प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।

स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।

अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥

त एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवाजिताः ।

संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते ॥

भागवत, कपिल-देवहृति संवाद

विवेकी जन संग को ही आत्मा का अच्छेद्य बन्धन मानते हैं, किन्तु वही साधु पुरुषों के साथ किया जाने पर मोक्ष का खुला द्वार हो जाता है। जो लोग सहनशील, करुणामय, समस्त देहधारियों में हितचिन्तक, शत्रुहीन, शान्त, शास्त्रानुसार चलनेवाले और सद्गुण-सम्पन्न होते हैं, जो मुझ (भगवान्) में अनन्य भाव से सुहृद् प्रेम करते हैं, मेरे लिए सम्पूर्ण कर्म तथा अपने अंगे-सम्बन्धियों को त्याग देते हैं और मेरी पवित्र कथाओं का परस्पर कीर्तन-श्रवण करते हैं, उन मुझ ही में चित्त लगाने वाले भक्तों को संसार के विविध ताप कोई कष्ट नहीं पहुंचा सकते। हे साध्वि ! ऐसे सर्वसंगपरित्यागी महापुरुष ही 'साधु' होते हैं।

तुम्हें उन्हीं का संग प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वे सम्पूर्ण दोषों को दूर कर देने वाले होते हैं।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ॥

भगवत्तद्भिःसंगस्य मर्त्यानां किमुताशियः ॥

भीरावाई का जीवन आत्मसमर्पण का जबलन्त उदाहरण था। उसने प्रेम की अश्रुधारा से अमरवेलि का सिंचन किया था, और सत्संग में काल व्यतीत कर 'लोकापवाद' की तनिक भी परवाह न की। किसी भी अजसवी आदर्श के लिए आत्मसमर्पण करते हुए मनुष्य को लोक-लाज बहुत ही सताती है,

इसके कारण उसकी महत्वाकांक्षाएँ मन-की-मन ही में विलीन हो जाती हैं । लोग क्या कहेंगे, इस आशंका से पीड़ित होकर बहुत से विवेक-सम्पन्न पुरुष भी अपने ध्येय का ध्यान से तिरोधान कर देते हैं । किन्तु मीरा ने तो—

सन्तन संग बैठि-बैठि लोक लाज छोई ।

ऐसा ही गोपिकाओं ने भी किया था—

किती न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सिख दीन ।

कौने तजी न कुलगली, ह्वँ मुरली सुर लीन ॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां

वृन्दावने किमपि गुल्मलतीवधीनाम ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा

भेजुकुन्दपदवीं श्रुतिभिविमृश्याम् ॥

उद्धव ने प्रार्थना की है—अहो ! इन गोपियों की चरणरज को सेवन करने वाले वृन्दावन में उत्पन्न हुए गुल्म, लता और औषधियों में से कुछ भी मैं होऊँ, क्योंकि इन्होंने दुस्त्यज (कठिनाइयों से भा नहीं छोड़े जा सकनेवाले) अपने बान्धव और कुल की श्रेष्ठ रीतियों का त्याग कर श्रीकृष्ण भगवान् का भक्तिमार्ग पाया जिसको श्रुतियाँ भी ढूँढा करती हैं ।

भगवान् कृष्ण के चरण-कमलों को रास-विलास के समय इन्होंने अपने हृदय पर रखकर अपनी विरह-व्यथा शान्त की थी । रास के समय भगवान् ने अपनी भृजलताओं से इनका प्रगाढ़ आलिङ्गन किया—इन गोपियों की चरणरज को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय,

वसन्त पंचमी, '३३

} आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव

अन्तर्दर्शन

रस की प्यास

यदि सौन्दर्य के विषय में कुछ कहना हो तो पहले रस के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। संसार रस के लिए पागल है। कैसे रस मिलेगा, कहाँ रस है, इसका किसी को पता नहीं है, फिर भी सभी रस चाहते हैं। भँवर जो गूँजते-गूँजते एक फूल से दूसरे फूल में भ्रमण करता है, वह भी रस की आकांक्षा से, योगी योगमग्न है, भोगी भोग-विलास में विभोर है, लोग स्त्री को चाहते हैं, पुत्र से स्नेह करते हैं, जहाँ सौन्दर्य देखते हैं वहाँ दौड़ पड़ते हैं—रस की प्यास से, रस के लोभ से सभी चंचल हैं। रस के बिना प्राणी जी नहीं सकता। “को ह्यन्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्।” रस ही सार है—रस ही सत्व है।

जिसका आस्वादन कभी हुआ नहीं, उसके लिए आकांक्षा हो नहीं सकती। रस के लिए सारा संसार पागल है, इसलिए उसका अनुभव एक-न-एक दिन कहीं अवश्य ही हुआ है। निश्चय ही एक दिन सारा संसार उस रसपान से मतवाला होकर आत्मविस्मृत हुआ था, पीछे नियति की प्रेरणा से उस अवस्था से च्युत हो पड़ा है। योग से भ्रष्ट होकर संसार आज उसी की पुनः-प्राप्ति की आशा से खोई मणि वाले सर्प के समान व्याकुल हुआ-सा भाग रहा है। जब तक फिर उस योग की स्थापना नहीं होगी तब तक इस अशान्ति के हटने की सम्भावना नहीं।

जिस वस्तु का स्वाद जिसे मिला नहीं, उसके लिए उसकी आकांक्षा नहीं होती। किन्तु रस का आस्वाद हमें कब मिला, कहाँ और किस प्रकार मिला ? कोई-कोई कह सकते हैं कि इस प्रश्न की कोई विशेष सार्थकता नहीं है, क्योंकि जीवन के अतीत अध्यायों की ओर दृष्टिपात करने पर सभी को मानना पड़ेगा कि रसानुभव सभी को कहीं-न-कहीं थोड़ा-बहुत अवश्य ही हुआ है। अच्छा लगना, सुन्दर प्रतीत होना और आनन्द का अनुभव करना—ये किसी को भी कभी हुए नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए रस के लिए आकांक्षा होना कोई विचित्र बात नहीं है, किन्तु यह उत्तर ठीक प्रतीत नहीं होता। इसका प्रधान कारण यह है कि जिसको हम चाहते हैं और जिसका हमें अनुभव हुआ, वे एक तरह के नहीं हैं। हमने आस्वाद लिया हो बेदाने का और चाह

रहे हों अंगूर—ऐसा हो नहीं सकता। जिस रस का हमने अनुभव किया है, वह परिच्छिन्न, एकदेशीय, क्षणिक और मलिन है, किन्तु जिसे हम चाहते हैं वह इसके विपरीत है। यदि पूर्ण आनन्द, पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम का कभी आस्वादन हमने नहीं किया, तो उसके लिए तृष्णा जागी कैसे? जिस परम सौन्दर्य ने पीछे रहकर इस तृष्णा का उद्दीपन किया है, उसी की फिर सामने उपलब्धि किये बिना इसकी निवृत्ति होगी नहीं। हम संसार में आनन्द जितना ही पाते हैं, सौन्दर्य जितना ही देखते हैं, उतनी ही हृदय में अभाव-प्रतीति और भी अधिक जाग उठती है। देखकर भी देखने की साथ किसी तरह भी मिटती नहीं, मालूम होता है यह अपूर्ण है। जभी अपूर्ण समझते हैं तभी सीमा आँखों के सामने दिखाई देती है, तभी अनजाने में हृदय रो उठता है। सोचते हैं और भी—और भी आगे जाएँ, सम्भवतः सुदूर भविष्य में किसी-न-किसी दिन उसे आयत्त कर सकेंगे। किन्तु हाय मोह! यह समझ नहीं पाते हैं कि काल-प्रवाह में इस आकांक्षा की तृप्ति हो नहीं सकती। आनन्द चाहे जितना ही क्यों न बढ़े, सौन्दर्य चाहे जितना ही छलछला उठे, तृप्ति तब भी बहुत दूर की वस्तु है। क्योंकि और भी विकास हो सकता है एवं कभी भी इस क्रम-विकास की सम्भावना दूर होगी नहीं। इससे ज्ञात हो जाएगा कि हृदय जिसकी आकांक्षा करता है वह ससीम सौन्दर्य अथवा परिमित आनन्द नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक-न-एक दिन क्रम-विकास से उसकी तृप्ति हो जाती। वस्तुतः यह अससीम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम, निरवच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य का सम्भोग पहले हुआ है। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य की आकांक्षा होती है, विच्छिन्न (खण्ड) सौन्दर्य से तृष्णा मिटती नहीं। जिसका विरह है, उसे पाये बिना व्याकुलता का अवसान हो नहीं सकता।

इसलिए प्रश्न रह गया है कि यह पूर्ण सौन्दर्य कब हमें मिला था एवं कहाँ मिला था? हम पहले देख चुके हैं कि कालक्रम से इस पूर्ण सौन्दर्य को हम पा नहीं सकते; करोड़ों कल्पों में भी हम ऐसा सौन्दर्य पायेंगे नहीं जिससे बढ़कर और सौन्दर्य हो न सके, अर्थात् काल के मध्य में पूर्ण सौन्दर्य का विकास हो नहीं सकता। काल में जो विकास होता है वह क्रम-विकास है। इस क्रम का अन्त नहीं है। और भी अधिक, और भी अधिक हो सकता है—किन्तु कभी भी पूर्णता होती नहीं। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि काल में कभी इसकी अनुभूति भी होती नहीं। अर्थात् हमें जिस सौन्दर्य की अनुभूति हुई है, वह कोई सुदूर अतीत में नहीं है, किसी दिगन्तस्थित नक्षत्र में नहीं है अथवा किसी विशिष्ट काल या देश में नहीं है।

अतएव एक प्रकार से यह प्रश्न ही अनुपपन्न है। किन्तु घूम-फिरकर प्रश्न फिर भी होता है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी यह सत्य है कि इस सौन्दर्य

का आस्वादन जब हमें हुआ था तब काल नहीं था—जहाँ हमने इसका आस्वादन किया था वहाँ देश नहीं था। वह हमारी 'योग' अवस्था अथवा मिलन था। उसके बाद वर्तमान अवस्था 'योगभ्रंश' अथवा विरह है। फिर उस योग में जाने के लिए हम छटपटा रहे हैं, पुनर्मिलन चाहते हैं। अर्थात् हम देश और काल में निर्वासित हुए हैं। फिर देश-काल को छिन्न-भिन्न कर, विलीन कर वैसे ही योगयुक्त होना चाहते हैं।

किन्तु यह वियोग क्या अत्यन्त वियोग है? पूर्ण से विच्छेद क्या सचमुच इतना वास्तविक है? नहीं, यह बात नहीं है। वियोग सत्य है, विच्छेद स्वीकार्य है—किन्तु उस वियोग के मूल में भी नित्य योग खोया नहीं है, वह कभी खोता नहीं है। यदि खो गया होता, यह वियोग चिर वियोग हो जाता, फिर लौटने की सम्भावना नहीं रहती।

यह जो आकांक्षा है, यह जो ससीम अतृप्ति है, यह बतला रही है कि असीम के साथ योग एकदम टूटा नहीं है। स्मृति है—इसीलिए योग है। वह योग, वह अनुभूति अस्पष्ट है, यह हम स्वीकार करते हैं, किन्तु वह है अवश्य।

यदि यह अनुभूति—यदि पूर्ण का यह आस्वादन न रहता तो सौन्दर्य का मानदण्ड न रहता। मान के बिना तुलना करना सम्भव न होता। जब हमें दो फूले हुए फूलों को देखकर किसी समय एक दूसरे की अपेक्षा सुन्दर जँचता है, तब अनजाने में सौन्दर्य के मानदण्ड का हम प्रयोग करते हैं। जहाँ तारतम्य का बोध होता है वहाँ निश्चय ही मान के न्यूनाधिक्य की निर्णायक उपाधि रहती है। प्रकृत स्थल में चित्रस्थित पूर्ण सौन्दर्य की अस्पष्ट अनुभूति अथवा अनुभवाभास ही बाह्य सौन्दर्य के तारतम्य का बोधकनिमित्त है। अर्थात् बाहर की वस्तुओं को देखकर उनमें जो पूर्ण सौन्दर्य का जितना अधिक निकटवर्ती प्रतीत होता है वह उतना सुन्दर लगता है। सौन्दर्य का विकास जैसे क्रमिक है यह सन्निकर्ष भी वैसे ही क्रमिक है। बाहर में जैसे पूर्ण विकसित सौन्दर्य का कभी सम्भव नहीं, वैसे ही सन्निकर्ष की इस चरमावस्था का अर्थात् एकीभाव का भी सम्भव नहीं है।

देश और काल में जब पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त नहीं होता एवं वृत्ति ज्ञान जब देश और काल की सीमा में बँधा रहता है। तब पूर्ण सौन्दर्य वृत्ति के निकट प्रकाशित नहीं हो पाता, यह बात सत्य है। बल्कि वृत्ति पूर्ण सौन्दर्य की प्रतिबन्धक है। सौन्दर्य का जो पूर्ण आस्वाद है, वृत्ति रूप में वही विभवत हो जाता है। वृत्ति से जिस सौन्दर्य का बोध होता है वह खण्ड सौन्दर्य है, परिच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य स्वयं ही अपने को प्रकट करता है, उसे अन्य कोई प्रकट नहीं कर सकता। वृत्ति के द्वारा जो सौन्दर्य-बोध का आभास प्रस्फुटित होता है वह

सापेक्ष, परतन्त्र क्रम से बढ़ने वाला और काल के अन्तर्गत है। पूर्ण सौन्दर्य उससे विपरीत है। इस पूर्ण सौन्दर्य की छाया लेकर ही खण्ड सौन्दर्य अपने को प्रकट करता है।

तब क्या पूर्ण सौन्दर्य और खण्ड सौन्दर्य दो पृथक् वस्तुएँ हैं? नहीं, ऐसा नहीं है। दोनों वास्तव में एक हैं। लेकिन इस वियोगावस्था में दोनों को ठीक एक कहना सम्भव नहीं है। मालूम पड़ता है दो पृथक् हैं। यह जो दो का अनुभव होता है इसी के भीतर वियोग की व्यथा छिपी हुई है। इसको जोर-जबरदस्ती से एक नहीं किया जासकता।

फिर भी सत्य बात यह है कि दोनों ही एक हैं। जो सौन्दर्य बाहर है वही अन्दर है, जो खण्ड सौन्दर्य होकर इन्द्रिय-द्वार में वृत्ति रूप से विराजमान होता है, वही पूर्ण सौन्दर्य रूप में अतीन्द्रिय भाव से नित्य प्रकाशमान है। गुलाब का जो सौन्दर्य है वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है, शिशु के प्रफुल्लित मुख-कमल में जो शोभा है, वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है—जिसे जब जहाँ जिस रूप से जिस किसी सौन्दर्य का बोध हुआ है, वह भी वह पूर्ण सौन्दर्य ही है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि सभी यदि पूर्ण सौन्दर्य हैं एवं पूर्ण सौन्दर्य यदि सभी का अस्वादिता और अस्वाद्यमान है, तो ऐसी स्थिति में फिर सौन्दर्य के लिए आकांक्षा क्यों होती है? बात यह है, पूर्ण सौन्दर्य का बोध अस्पष्ट रूप से सभी को है। किन्तु अस्पष्टता ही अतृप्ति की हेतु है, इस अस्पष्ट को स्पष्ट करना ही तो सब चाहते हैं। जो छाया है उसे काया देने की इच्छा होती है। वृत्ति द्वारा इस अस्पष्ट का स्पष्टीकरण होता है, जो छाया के तुल्य था वह मानो स्पष्ट रूप से भास उठता है। भासित हो उठता है सही, किन्तु खण्ड रूप से। इसीलिए वृत्ति की सहायता से स्पष्ट हुए सौन्दर्य का साक्षात्कार होने पर भी, खण्ड होने से, ससीम होने के कारण उससे तृप्ति परिपूर्ण नहीं होती। वृत्ति तो अखण्ड सौन्दर्य को पकड़ नहीं सकती। अखण्ड सौन्दर्य के प्रकाश में वृत्ति कुण्ठित हो जाती है।

इसी बात को और स्पष्ट रूप से कहते हैं। कल्पना कीजिये, एक खिला गुलाब का फूल हमारी दृष्टि के सामने पड़ा है, उसके सौन्दर्य ने हमें आकृष्ट किया है—उसका सुन्दर रूप में हम अनुभव कर रहे हैं। इस अनुभव का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ क्या लगता है? यह सौन्दर्य कहाँ है? यह क्या गुलाब में है, अथवा हममें है अथवा दोनों में है? इस अनुभव का स्वरूप क्या है?

आपाततः यही प्रतीत होता है कि यह केवल गुलाब में नहीं है। यदि वही होता तो सभी गुलाब को सुन्दर देखते। किन्तु सब उसे सुन्दर देखते नहीं। और यह केवल हममें अर्थात् द्रष्टा में है, यह कहना भी ठीक नहीं है। यदि

ऐसा होता तो हम अर्थात् द्रष्टा सब वस्तुओं को सुन्दर देखते, किन्तु हम सभी को सुन्दर देखते नहीं। इसलिए मानना होगा कि इस अनुभव के विश्लेषण से सिद्ध होता है कि वर्तमान क्षेत्र में जब वृत्ति द्वारा बोध हो रहा है तब सौन्दर्य खण्डित-सा हुआ है, एक ओर अस्पष्ट अथवा पूर्ण सौन्दर्य है, जो हममें है, दूसरी ओर स्पष्ट अथवा खण्ड सौन्दर्य है, जिसे हम गुलाब में देख रहे हैं। किन्तु यथार्थ रस-स्फूर्ति के समय ऐसा रहता नहीं। तब सौन्दर्य द्रष्टा में नहीं रहता, गुलाब में भी नहीं रहता। तब द्रष्टा और गुलाब एकरस साम्यावस्था-पन्न हो जाते हैं, केवल सौन्दर्य ही, स्वप्रकाशमान सौन्दर्य ही तब रहता है। यही पूर्ण सौन्दर्य है, जिसमें भोक्ता और भोग्य दोनों ही नित्यसम्भोग रूप से विराजमान रहते हैं।

वृत्ति द्वारा सौन्दर्योपलब्धि किसे कहते हैं? जब किसी विशिष्ट वस्तु का हम प्रत्यक्ष करते हैं, तब वह वस्तु हमारे चित्त में स्थित आवरण को धक्का देकर थोड़ा-बहुत हटा देती है। चित्त पूर्ण सौन्दर्यवभासमय है, किन्तु यह अवभास आवरण से ढँका होने से अस्पष्ट है। किन्तु सर्वथा ढका नहीं है, न हो ही सकता है। मेघ सूर्य को ढकता है, किन्तु एकबारगी ढक नहीं सकता। यदि एकबारगी ढँकता तो मेघ स्वयं भी प्रकाशित न होता। मेघ जो मेघ है, वह भी वह प्रकाशमान होने से है, इसीलिए वह सूर्यलोक की अपेक्षा रखता है। उसी प्रकार आवरण चित्त को एकबारगी ढक नहीं सकता। चित्त को ढकता है, किन्तु आवरण का भेद करके भी ज्योति का स्फुरण होता है। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य, आवरण के प्रभाव से, अस्पष्ट होने पर भी एकबारगी अप्रकाशमान नहीं है। जहाँ चित्त है वहीं यह बात लागू होती है। पर अस्पष्टता का तारतम्य अवश्य है। यह जो आवरण के कारण अस्पष्टता है, आवरण के हटने पर वह भी अस्पष्टता में बदल जाती है। आवरण के तनिक हटने पर स्पष्टता दिखती है वह किञ्चित् मात्र है। घर के भरोखे के छिद्र से अनन्त आकाश का जैसे एकदेश मात्र दिखलाई देता है, आंशिक रूप से आवरण हटने पर उसी प्रकार पूर्ण सौन्दर्य का एकदेश मात्र ही प्रकाशित होता है। यह प्रकाशमान एकदेश ही खण्ड-सौन्दर्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह आंशिक आवरणनाश ही वृत्तिज्ञान है। इसलिए जो गुलाब का सौन्दर्य है वह भी पूर्ण सौन्दर्य ही है पर एक एकदेशमात्र है। इसी प्रकार जगत् का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही उस पूर्ण सौन्दर्य का एकदेश है। आवरणभङ्ग के तारतम्यवश उद्घाटित सौन्दर्य के तारतम्य अथवा वैशिष्ट्य का निरूपण होता है।

किन्तु आवरणभङ्ग के वैशिष्ट्य का नियामक क्या है? आपाततः यह बाह्य पदार्थ के स्वरूप में स्थित वैशिष्ट्य के रूप से ही गृहीत होगा। किन्तु हम आगे देखेंगे कि यही अन्तिम बात नहीं है, इसलिए आवरणभङ्ग का भेद, जो स्वाभाविक

है, वह इस अवस्था में कहा नहीं जा सकता। आपाततः कहना ही होगा कि आगन्तुक कारण के वैचित्र्य वश आवरण के हटने पर भी वैचित्र्य रहता है। स्फटिक के समीप नील वर्ण की स्थिति से स्फटिक नीला प्रतीत होता है और पीत वर्ण की स्थिति से पीला प्रतीत होता है। यह आगन्तुक कारणजन्य भेद का दृष्टान्त है। चक्षु के निकट स्थित घट में घटाकार वृत्ति एवं पट में पटाकार वृत्ति चित्त धारण करता है, यह भी आगन्तुक भेद है। ठीक उसी प्रकार फूल के सौन्दर्य और लता के सौन्दर्य दोनों में अनुभव का भेद जानना होगा। फूल के सौन्दर्यास्वाद की जो वृत्ति है, लता के सौन्दर्यास्वाद की वृत्ति उससे विलक्षण है, इसका कारण आगन्तुक है। फूल और लता का वैशिष्ट्य जैसे सत्तागत है वैसे-वैसे ही ज्ञानागत भी है, फिर आस्वादगत भी है। इसलिए स्वीकार करना होगा कि फूल और लता में ऐसा विशिष्टक कुछ है जिससे एक एक प्रकार की सौन्दर्यानुभूति का उद्दीपक है, दूसरा दूसरी प्रकार की।

किन्तु यह आपेक्षिक सत्य है। बाह्य पदार्थ यदि परमार्थतः नहीं रहते अथवा जिस अवस्था में नहीं रहते तब अथवा उस अवस्था में बाह्य पदार्थ के स्वरूपगत वैशिष्ट्य द्वारा रसानुभूति के वैचित्र्य का उपपादन नहीं किया जाता। सत्ता जैसे एक और अखण्ड होने पर भी फूल और लता खण्डसत्ता है, ज्ञान जैसे एक और अखण्ड होने पर भी फूल था; ज्ञान और लता का ज्ञान अर्थात् फूल-रूप ज्ञान और लता-रूप ज्ञान परस्पर विलक्षण हैं, वैसे ही सौन्दर्य एक और अखण्ड होने पर भी फूल का सौन्दर्य और लता का सौन्दर्य अर्थात् फूल-रूप सौन्दर्य और लता-रूप सौन्दर्य परस्पर भिन्न हैं। इस जगत् में दो वस्तुएँ ठीक एक नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु का एक स्वभाव है, एक व्यक्तित्व है, एक विशिष्टता है जो दूसरी वस्तु में नहीं होती। यदि यह सत्य है, तो खण्ड सत्ता जैसे अनन्त है संख्या में तथा प्रकार में, खण्ड ज्ञान भी वैसे ही अनन्त है, खण्ड सौन्दर्य भी वैसे ही अनन्त है। किन्तु जो सत्ता है वही तो ज्ञान है, क्योंकि प्रकाशमान सत्ता ही ज्ञान है और अप्रकाशमान सत्ता आलोक है। फिर जो ज्ञान है वही आनन्द है, क्योंकि अनुकूल ज्ञान ही, भला लगना ही आनन्द या सौन्दर्यबोध है और प्रतिकूल ज्ञान ही दुःख या कदर्यता है। सत्ता जब ज्ञान होती है तब वह नित्यज्ञान है और ज्ञान जब आनन्द होता है तब वह नित्य संवेद्यमान आनन्द है। यह नित्य संवेद्यमान आनन्द ही रस है। इसलिए रस का सदा अभिन्न रूप से आस्वादन ही अखण्ड या पूर्ण अनुभूति का स्वरूप है। यह वृत्ति नहीं रस-स्फूर्ति है।

इसलिए रस पदार्थ में सत्ता और ज्ञान का अन्तर्निवेश है। रस से सत्ता और ज्ञान का वस्तुतः पार्यक्य नहीं है। अतएव रस एक होकर भी अनन्त है, सामान्य होकर भी विशेष है। एक विशिष्ट रस की स्फूर्ति फूल है तथा दूसरे विशिष्ट रस की स्फूर्ति लता है—दोनों के आस्वादन में भेद है। इसीलिए

जगत् किसी के भी अभाव का सहन नहीं कर सकता। एक का अभाव दूसरा पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु की मर्यादा है, जो अलंघनीय है।

इससे यह ज्ञात हुआ कि पूर्ण सौन्दर्य ही खण्ड सौन्दर्य है। किन्तु खण्ड सौन्दर्य जब वृत्ति से प्रकाशमान होता है, तब वह रस-विशेष नहीं है, रसाभास-मात्र है। यह रसाभास विक्षिप्त वृत्ति के निरोध से यथार्थ रस में परिणत होता है, जिसे *Estatic* अथवा *Aesthetic intuition* कहा जा सकता है।

यह जो रस विशेष है, यह अनन्त है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में स्फुरण और आस्वादन का वैशिष्ट्य है। पर आलंकारिकों ने जो इसे श्रेणीबद्ध किया है, वह केवल जातिगत भेद को लक्ष्य में रखकर, शास्त्रीय व्यवहार की सुगमता के लिए किया है। शहद का स्वाद और गुड़ का स्वाद एक प्रकार का नहीं है, फिर शहद का स्वाद और नमक का स्वाद भी एक तरह का नहीं है। तथापि जिस कारण से शहद और गुड़ को एक श्रेणी के अन्तर्गत किया जाता है एवं शहद और नमक को नहीं किया जाता, उसी कारण से आलंकारिकों ने रस को श्रेणियों में विभक्त किया है। इसलिए जानना होगा कि शहद और गुड़ प्रयोजनवश एक जाति के अन्तर्गत होने पर भी वस्तुतः दोनों को जैसे आस्वाद में वैचित्र्य है, वैसे ही एक रस दूसरे रस के साथ एक श्रेणी के अन्तर्गत होने पर भी (जैसे शृंगार) ठीक एक नहीं है। सत्ता और ज्ञान के वैचित्र्य में यदि कोई सार्यकता है तो रस में भी वह है।

इसलिए एक हिसाब से रस अनन्त और दूसरे हिसाब से रसों की निर्दिष्ट संख्या है। मूल में रस एक ही है।

यह निर्दिष्ट संख्या कितनी है, इस विचार को यहाँ उठाने की आवश्यकता नहीं है। हम केवल मूल बात समझने की चेष्टा कर रहे हैं। हमने ये जो अनन्त रस कहे हैं, इनमें प्रत्येक के अवस्था के भेद हो सकते हैं। ये भेद स्थूल-मान से शुद्ध और मलिन भेद से दो प्रकार के हैं। यह बाह्य दृष्टि से है अर्थात् प्रत्येक रस शुद्ध भाव से स्वप्रकाश है। तभी यथार्थ में वह रस कहलाता है। और मलिन होने पर ही वह मिश्रित हो जाता है, इसीलिए वह वास्तविक रस नहीं है, रसाभास है। यह जो एक शुद्ध स्वप्रकाश रस का आस्वाद है उसकी भी फिर दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था चिरस्थायी है, उसमें प्रवेश करने पर फिर उतरा नहीं जाता; दूसरी अवस्था स्थायी होने पर भी काल से अवच्छिन्न है, वहाँ से व्युत्थान संस्कार की प्रबलता से उतरना पड़ता है। दोनों ही स्वच्छ और उज्ज्वल हैं, वस्तुतः दोनों ही एक हैं। पर एक चांचल्य अथवा मालिन्य की सम्भावना से रहित है और दूसरे में उसकी सम्भावना है। एक में व्युत्थान संस्कार तथा निरोध संस्कार नहीं है अथवा चिरनिद्रित है और दूसरे में वह है। किन्तु आस्वादन में कोई तारतम्य नहीं है।

इसलिए जब एक खण्ड सौन्दर्य को देखकर हम उसका सम्भोग करते हैं तब पहले वह विक्षिप्त वृत्ति का आस्वादन है। यह एक विशिष्ट (Unique) सौन्दर्य का ही आस्वादन है सही, किन्तु वह आस्वादन निर्मल नहीं है, इसलिए गम्भीर नहीं है। उस आस्वादन से हम आत्मविस्मृत नहीं होते हैं। क्रम से जब वृत्ति स्थिर होने लगती है अर्थात् जब वृत्ति अपने क्षेत्र से विषयान्तर को डुबा देती है अथवा हटा देती है, केवल उस एकमात्र खण्ड सौन्दर्य को ही प्रकाशित करती है, अर्थात् वृत्ति जब सब विषयों की उसी एक सौन्दर्य में आहुति देकर उसी एक को लेकर मिश्रितभाव से प्रकटित होती है, उस समय का आस्वादन कुछ नया आस्वादन नहीं है। वह उस विक्षिप्त अवस्था का आस्वादन ही है; दोनों में Qualitative कोई भेद नहीं है, पर वह इस समय निर्मल है और इसी कारण अत्यन्त गम्भीर है। यही एकाग्र भूमि की प्रज्ञा है। यहाँ रस का स्फुरण होता है—रस सामान्य के अङ्क में एक विशिष्ट रसव्यक्ति प्रकट होती है। इस अवस्था में वह खण्ड सौन्दर्य अपने आलोक से अपने-आप प्रकाशित होता है। भोक्ता और भोग्य मानो स्वसंबन्धमान सम्भोग में एकाकार होकर स्थित होते हैं।

किन्तु इस अवस्था में चिरकाल तक स्थिति नहीं होती। भाव का नशा हट जाने पर ही पूर्व अवस्था लौट आती है—योग के बाद फिर वियोग होता है—मिलन के अन्त में विरह जागता है। किन्तु जिस कारण से इस योग का भङ्ग होता है वह योगावस्था में भी अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। मिलन के अङ्क में विरह इसी प्रकार छिपा रहता है।

दुहँ कोरे दुहँ काँदे विच्छेद भाबिया ।

अर्थात्—वियोग की भावना कर, दोनों की गोद में दोनों रोते हैं। इसको हम संस्कार कहें चाहे और कुछ कहें, उससे कुछ आता-जाता नहीं। किन्तु यदि यह संस्कार कट जाए तो फिर वह योग हटता नहीं।

इसलिए विशिष्ट रसस्फूर्ति की शुद्धावस्था भी कालातीत और काला-वच्छिन्न भेद से दो प्रकार की है। जिस उपाय से काल का अतिक्रम किया जाता है, सदा रहने वाली स्थिति प्राप्त की जाती है, उस उपाय के सफल होने पर ही वह विशिष्ट निर्मल रसास्वाद भी अबाधित रहेगा। किन्तु उसकी आलोचना का यह स्थान नहीं है। पर रस-सामान्य रस-विशेष का बाधक नहीं है, यह हम आगे चलकर कहेंगे, क्योंकि सामान्य 'विशेष' का विरोधी नहीं होता—विशेष में भी सामान्य जुटा रहता है।

यहाँ हमें एक बात की मीमांसा करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। कोई-कोई कह सकते हैं कि रस में विशिष्टता आरोपित भेद है, स्वगत भेद नहीं है। रस एक ही है, केवल उपाधि के भेद से उसमें आगन्तुक भेद की

प्रतीति होती है। हमें यह यथार्थ सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता। रस एक है, यह बात सत्य है, उसमें सजातीय अथवा विजातीय भेद की बात तो दूर रही, स्वगत भेद तक नहीं है। किन्तु रस बहुत है यह कथन भी मिथ्या नहीं है। विभाव, अनुभाव आदि के वैचित्र्य वधा रस विचित्र है। यह लौकिक दृष्टि के अनुसार है, यह कहना अनावश्यक है। किन्तु यहाँ भी विभावादि तो मूल में रस के अंग हैं। घट के आकार से रहित घट ज्ञान जैसे कल्पनायोग्य नहीं है, फिर भी अखण्ड ज्ञान निर्विषयक है, वैसे ही विभाव आदि से विरहित खण्ड रस कल्पनीय नहीं है, फिर भी रस सामान्य में विभाव आदि का अवकाश नहीं है। विक्षिप्त वृत्ति में भेद-बोध परिस्फुट रहता है, वहाँ विभाव आदि पृथक् हैं यह अवश्य ही मानना होगा। किन्तु जहाँ रसस्फूर्ति होती है वहाँ भी विभावादि रहते हैं पर वे अभिन्न रूप से रस के अंग प्रतीत होते हैं। ये विशिष्ट रस हैं। रससामान्य में अवश्य विभावादि का भान नहीं रहता, किन्तु विशिष्ट रस का बोध हुए बिना रससामान्य में नहीं पहुँचा जाता। जब विशिष्ट रस का स्फुरण होता है तब रससामान्य का भी स्फुरण होता है—अर्थात् रसस्फुरण में सामान्यांश और विशेषांश दोनों ही मिले हुए रहते हैं। उनमें विशेष अंश का निरोध होने पर सामान्य अंश रह जाता है। जैसे सुवर्ण और कुण्डल हैं। एक विशिष्ट आकार में ढाला गया सुवर्ण ही कुण्डल कहा जाता है। दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। जब हम कुण्डल को देखते हैं तब सुवर्ण को भी देखते हैं, वैसे ही जब विशिष्ट रस का आस्वादन होता है तब सामान्य रस का भी आस्वादन होता है। सामान्य रस को ही विशेषवश विशेष रस कहा जाता है। वह विशेष अंश यदि न रहे अर्थात् विलीन हो जाए तो रससामान्य ही रहता है। वह निर्विशेष निराकार है। जिस आकार के कारण सुवर्ण को हम कुण्डल कहते हैं, वह आकार यदि न रहे तो सुवर्ण जैसे सुवर्ण मात्र है, निराकार सुवर्ण है, कुण्डल नहीं है। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा। सामान्य का आश्रयण करके ही विशेष का स्फुरण होता है। आघार का आश्रयण करके ही आधेय का स्फुरण होता है एवं उपादान का आश्रयण करके ही कार्य का स्फुरण होता है। किन्तु विपरीत मत सत्य नहीं है, क्योंकि विशेषरहित सामान्य, आधेयहीन आघार और कार्यशून्य उपादान प्रतीत नहीं हो सकते। उस जगह अपेक्षा बुद्धि न रहने के कारण सामान्य, आघार और उपादान इस आकार से ज्ञान नहीं होता। किन्तु वस्तु का ज्ञान अवश्य ही होता है। तब जानना होगा कि जिस विशेष के कारण एक रस नाना रस होता है, उस विशेष का स्वरूप क्या है ?

मान लीजिए यह विशेष ही उपाधि है। इसी के भेद से रस में भेद होता है। वर्तमान अवस्था में अर्थात् जब हम विक्षिप्त वृत्ति के अधीन हैं

तब यह उपाधि, जो बाह्य और अनित्य है, अवश्य ही स्वीकार योग्य है। वस्तुतः यह उपाधि बाह्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है। फलतः रस में नित्य ही अन्तरंग रूप से यह विशेष लगा है; इसलिए रस नित्य ही नाना, नित्य ही स्वभावतः ही परस्पर-विलक्षण और विशिष्ट है, यह मानना होगा। अतएव रस एक है, सर्वत्र अनुस्यूत सामान्य भूत है, यह जैसे सत्य है वैसे ही रस अनन्त हैं, प्रत्येक रस विलक्षण और विशिष्ट है एवं यह विशेष स्वाभाविक है—किसी बाहरी कारण के सम्बन्ध से नहीं है, यह भी वैसे ही साथ है। जहाँ रसास्वाद होता है वहाँ बाह्यत्व और आगन्तुकत्व का सम्भव नहीं है। बाह्य तब तक है जब तक भेद है, जब तक रस का उदय नहीं हुआ। किन्तु रस की अभिव्यक्ति होने पर फिर बाह्यत्व नहीं रहता।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह उपाधि अनित्य क्यों नहीं है? इसका उत्तर है—जगत् की सभी वस्तुएँ उपाधि-स्वरूप हैं। जिस दृष्टि में कोई भी वस्तु अनित्य या असत् नहीं है, उस दृष्टि में इस प्रश्न का समाधान अपने-आप ही हो जाता है। हम आपाततः युक्ति द्वारा इसका समाधान करते हैं। असत् शब्द से किसकी प्रतीति होती है? यही प्रतीति होती है कि जो रूप एक बार दृष्टिगोचर होता है, अभिव्यक्त होता है, ठीक वही रूप फिर दिखाई नहीं देता। प्रत्येक निमेष में इस प्रकार का परिवर्तन हो रहा है। किन्तु इसका तात्पर्य क्या है? एक के बाद दूसरी—इस प्रकार अनन्त-रूपपरम्परा अभिव्यक्त हो रही है अथवा जिसके द्वारा देखना होता है, वह चित्र क्रमशः भिन्न-भिन्न वृत्तियों में परिणत हो रहा है। वृत्ति के बिना रूप की अभिव्यक्ति जैसे असम्भव बात है, रूप के बिना शुद्ध वृत्ति भी वैसे ही असम्भव है। असल बात यह है कि यह विशिष्ट वृत्ति और विशिष्ट रूप परस्पर सापेक्ष हैं। इन्हीं का स्रोत चला है, इसे काल-स्रोत कहते हैं। हम विक्षिप्त अवस्था में हैं, इसलिए इस स्रोत को रोक नहीं सकते। किन्तु किसी उपाय से इस बह रहे स्रोत को यदि हम रोक सकें तो स्थैर्य आएगा, अर्थात् वृत्ति के स्थिर होने पर रूप भी स्थिर होगा एवं रूप के स्थिर होने पर वृत्ति भी स्थिर होगी। इसलिए एकाग्र अवस्था में जिस रूप का भान होता है, वह रूप चंचल या परिवर्तनशील नहीं है। जब तक चित्त की एकाग्र अवस्था रहेगी तब तक उस स्थिर वृत्ति के सामने वह रूप भी स्थिरभाव से प्रकाशमान रहेगा। यदि यह एकाग्र अवस्था इच्छानुसार स्थायी रह जाए, जो मलिन प्रकृति के ऊर्ध्व में हो सकती है, तो रूप का प्रकाश-काल स्वायत्त हो जाता है। मान लीजिये कि एक गुलाब के फूल का अवलम्बन कर यदि हमारी प्रज्ञा का उदय हो एवं यह एकाग्र समाधि यदि एक हजार वर्ष तक न टूटे तो ठीक हजार वर्ष तक ही उस गुलाब का प्रकाश रहेगा। विक्षिप्त चित्त के निकट जगत् के करोड़ों परिवर्तन

संघटित होने पर भी स्थिर चित्त के निकट वही एकमात्र रूप प्रकाशमान रहेगा। अवश्य यह समाधि टूट सकती है, किन्तु उसका हेतु यह है कि उसके टूटने का कारण चित्त में है। जब वह बीज नहीं रहेगा अर्थात् जब रज और तम हट जाएँगे, जब सत्त्व विजुड होगा, तब यह समाधि सदा स्थायी अथवा इच्छानुसार रहने वाली होगी। जगत् के सभी रूप एक-एक क्षण्ड प्रकाशात्मक हैं, जो महाप्रकाश के विशिष्ट विलास हैं। आज यदि समाधि टूट जाने से अथवा अपनी इच्छा से उस रूप का तिरोधान हो जाए तो फिर ठीक उसी को उद्भासित किया जा सकता है क्योंकि तिरोहित होने पर भी वह कभी भी महा-प्रकाश के निकट तिरोहित नहीं होता, हो भी नहीं सकता, अव्यक्त होता है सिर्फ वृत्तिज्ञान के निकट। यदि यह सत्य है तो सभी रूप नित्य हैं, वस्तु मात्र सर्वदा सत्य है। फिर जिस अवस्था में वह रूप इच्छानुसार प्रकाशमान रहता है तब उस अवस्था में वह बाह्य नहीं है, प्रकाश के ही अन्तरंग अर्थात् अनन्य रूप से स्थित है।

अतएव उपाधि जब नित्य ही अन्तरंग रूप से प्रकाशमान है, तब अनन्त विशिष्ट रस परमार्थतः सदा ही हैं—अभिव्यक्त रूप से ही हैं, यह स्वीकार करना होगा। रसमात्र ही नित्य सिद्ध है, कदापि साध्य नहीं है। पर वृत्ति के अधीन होने के कारण हम उसे अव्यक्त मानते हैं। अभिव्यंजक सामग्री आवरण को हटाकर नित्य सिद्ध रस का ही उद्बोधन करती है। एवं उद्बोधन के समय अभिव्यंजक भी रस के अन्तर्गत हो जाता है।

इसलिए मानना होगा कि विशिष्ट रस प्रकार और संख्या में सदा ही अनन्त हैं। किन्तु अनन्त होने पर भी इसकी स्थिति दो प्रकार की है। कभी रस सामान्य में विशेष अन्तर्लीन रूप से शक्ति में रहता है और कभी परिस्फुट रूप में रहता है।

प्रथम शंका का समाधान एक प्रकार से हो गया। जिनका यह मत है कि रसमात्र ही विशेष रूप है, सामान्य रस ही नहीं सकता, उनका मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। सामान्य के न रहने पर विशेष रह ही नहीं सकता, यह बात हम पहले कह चुके हैं। विशेष अवस्था में जब आस्वादन होता है, तब सामान्य अवस्था को रस नहीं है नहीं कहा जा सकता। पर साधारणतः हमारे लिए उस रस की धारणा करना कठिन होता है।

इससे ज्ञात हुआ कि रस यद्यपि एक है, फिर भी उसमें अनन्त वैचित्र्यों की शक्ति है एवं यह शक्ति कभी-कभी प्रस्फुट होती है। जिसके बल से रस अपनी वैचित्र्य शक्ति को प्रस्फुटित करता है अथवा प्रस्फुटित वैचित्र्य को अपने में लीन करता है, वही उसका स्वातन्त्र्य है। यह शक्ति अथवा उपाधि ही रस की देह है। यह सूक्ष्म रूप से रस में चाहे लीन रहे अथवा स्थूल रूप से विकसित

रहे, सदा ही है। इस देह के साथ रस का अभेद सम्बन्ध है। प्राकृत जगत् में जैसे देह और देही भिन्न हैं, यहाँ वैसा नहीं है।

यह तो हुई शुद्धावस्था की बात। हम लोगों के इन्द्रियगोचर जगत् में भी ठीक इसी के अनुरूप अवस्था है। ये जो अनन्त वैचित्र्य हमें दिखाई देते हैं इनमें प्रत्येक का अर्थ है। एक-एक मुख का जो भाव है, केवल मुख का ही भाव क्यों, प्रत्येक मनुष्य—प्रत्येक पशु-पक्षी, प्रत्येक वृक्ष, लता एक-एक विशेष भाव या रस का विकास अर्थात् स्थूल रूप में प्रकाश है। पर यह अभिन्न नहीं केवल यही बात है। किसी मनुष्य का चेहरा वैसा न होकर अन्य प्रकार का क्यों नहीं हुआ? हो नहीं सकता, यही उसका उत्तर है। प्रत्येक मनुष्य जब भाव का विकास है तब भाव के वैशिष्ट्य के अनुसार आकृति का वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। आकृति तो भाव की ही देह है, इसलिए भाव से अभिन्न है। चरम परमार्थ दृष्टि से यदि देखा जाए तो एक देह में एक विशिष्ट भाव का ही विकास होता है, अन्य भावों का नहीं होता। जितने भाव उतनी देह। एक भाव का अवलम्बन कर बहुत भाव प्रकाशित नहीं हो सकते। पर एक देह के बहुत विलास हो सकते हैं—एक हिसाब से उसमें भी भाव-वैचित्र्य सम्पन्न होता है।

इसके अनन्तर एक और बात ध्यान में रखनी होगी। प्रत्येक जीव का एक अपना रूप है—उसे विनयवर पदार्थ की तरह कल्पित रूप मानने का कोई कारण नहीं है। सब कल्पनाओं का उपशम होने पर भी वह रहता है। यह रूप केवल उसी का रूप है, दूसरे का नहीं। इसके अतिरिक्त उसका और एक रूप है, वह सामान्य रूप से सभी जीवों का है और ईश्वर का भी है; इस दृष्टि से वे सभी जीव ईश्वर से अभिन्न हैं। पहला रूप उसका विशेष (Individual) रूप है और दूसरा सामान्य (Universal) रूप है। अर्थात् निर्विशेष भाव से देखने पर जैसे सब जीव एक हैं एवं जीव और भगवान् अभिन्न हैं, सविशेष भाव से देखने पर वैसे ही प्रत्येक जीव भिन्न है एवं जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न हैं। इसलिए जीव और ईश्वर में तथा जीव और जीवान्तर में यह भेदाभेद नित्य ही है। भेद जब अनन्त और अभेद जब एक है एवं दोनों ही जब नित्य हैं, तब यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भेद से अभेद की ओर अथवा भेद की ओर दृष्टि अथवा भाव भी अनन्त प्रकार के हैं। अर्थात् एक जीव भगवान् अथवा जगत् को जिस दृष्टि से देखता है, जिस भाव से जानता है, दूसरा जीव ठीक वैसा नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव का दृष्टिकोण स्वभावतः भिन्न है। इसलिये भगवान् के साथ एवं उन्हीं के अंश जीव के साथ प्रत्येक जीव का अपना एक विलक्षण सम्बन्ध है। भगवान् का भी वैसे ही प्रत्येक जीव के साथ एक विशिष्ट भावमय सम्बन्ध है।

इस परस्पर सम्बन्ध का आविष्कार ही रस-साधना की पहली सीढ़ी है। सौन्दर्य-तत्त्व की साधना तभी यथार्थ में सिद्ध हुई है। कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त प्रकार से रस साक्षात्कार हुआ हो। जीव शुद्ध चित्तशक्ति, तटस्थ होने पर भी वैशिष्ट्ययुक्त और दर्पण के तुल्य स्वच्छ है; उसके ऊपर अनन्त प्रकार के सौन्दर्यों की छाया पड़ने के कारण ही अनन्त प्रकार के विशिष्ट रसों का आस्वादन होता है। ये अनन्त रस अनन्त प्रकार के हैं क्योंकि जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक दृष्टिकेन्द्र से सौन्दर्य के आभास अनन्त हैं, दृष्टिकेन्द्रों में अनन्त होने से प्रत्येक आभास भी अनन्त है।

यह जो जीव के विशेष और सामान्य रूपों की बात कही गई है, इनमें एक का त्याग कर दूसरा रह नहीं सकता। जहाँ विशेष रूप अभिव्यक्त रहता है वहाँ भी अव्यक्त रूप से सामान्य रूप रहता है तथा सामान्य रूप की अभिव्यक्ति के समय भी अस्फुट भाव से विशेष रूप रहता है, अतएव भेद जैसे अभेद से जुटा है, अभेद भी वैसे ही भेद से जुटा है, दोनों में नित्य सम्बन्ध है। भेदावस्था में भी अभेद विद्यमान रहता है, पर अभिभूत रहने से उसकी केवल उपलब्धि नहीं होती। अभेदावस्था में भेद के अस्तित्व को भी उसी प्रकार अवश्य स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतः इनमें एक भी साम्यभाव नहीं है। साम्यभाव जीवभाव नहीं है, ईश्वरभाव भी नहीं है, भेद अथवा नानात्व नहीं, अभेद या एकत्व भी नहीं है। यह समान काल में भेद और अभेद समान रूप से दोनों ही हैं, फिर भी दोनों के ही अतीत हैं। जालन्धरनाथ की एक उक्ति का इस प्रसङ्ग में स्मरण होता है—

द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरं वा ।

अर्थात् परमार्थ तत्त्व द्वैत भी है, अद्वैत भी है; फिर वस्तुतः यह द्वैताद्वैत विकल्प के अतीत है।

पूर्णरस स्फूर्ति के स्वरूप की आलोचना के प्रसंग में यही बात ध्यान में रखनी होगी। इस साम्यभाव में खड़े हुए बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ खड़े होने पर सभी कुछ सुन्दर दिखाई देता है, सब-कुछ भला लगता है, सभी के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति होती है; क्योंकि सब कुछ हमारा ही रूप है। उस अवस्था में उसको 'मैं' कहें चाहे 'तुम' कहें, उसमें कुछ क्षति नहीं होती। 'मैं' और 'तुम' दोनों ही शब्द उस अवस्था में एक ही वस्तु के वाचक हैं। औपनिषद्गण उसको आत्माराम अवस्था कहते हैं। भक्तगण उसे पराभक्ति कहते हैं—स्वरूपतः दोनों में कोई भेद नहीं है। प्रह्लाद ने कहा है—

नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।

पहले प्रह्लाद ने 'त्वम्' कहकर नमस्कार किया, फिर प्रत्यगात्मभाव के स्फुरण की ओर लक्ष्य कर 'अहम्' कहकर नमस्कार किया। उसके बाद जब

उन्होंने देखा जो 'त्वम्' है वही 'अहम्' है, इसलिए 'त्वम्' और 'अहम्' एकत्र जुटाकर कहे। जहाँ 'त्वम्' और 'अहम्' का साम्यभाव उपलब्ध हुआ है, वहाँ 'त्वम्' कहने से 'अहम्' की प्रतीति होती है और 'अहम्' कहने पर भी 'त्वम्' प्रतीति होता है। एक ही पदार्थ के दो नाम हैं 'त्वम्' और 'अहम्'।

सूफी सम्प्रदाय के सिद्ध कवि हल्लाज ने कहा है—

I am He whom I love, He whom I love is I; We are two spirits dwelling in one body.

यह वही उपनिषद् में कही गई एक वृक्ष में बैठे दो पक्षियों की कथा है—“दा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषण्व जाते।”

पक्षान्तर में जिलि ने कहा है—

We are the spirit of one, though we dwell by turns in two bodies.

जलालुद्दीन रूमी ने भी प्रकारान्तर से वही भाव प्रकट किया है—

Happy the moment when we are seated thou and I;

With two forms and with two figures. But with one soul, thou and I.

जीव और ईश्वर के भेदाभेद के सम्बन्ध में इसकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट निर्देश और क्या हो सकता है ?

जिसने इस प्रकार से आरोहण किया है वह अपने रूप में आप ही विभोर है। किसी एक भक्त ने पूर्ण सौन्दर्य के अपार समुद्र में डूबने के बाद उस अवस्था की स्मृति का अनुसरण कर गाया था—

अहो निमग्नस्तव रूपसिन्धौ पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिषु ।

अवाक् च निःस्पन्दतमो विमूढः कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्यि देव ॥

यहाँ 'तुम' भाव का अबलम्बन कर भक्त का हृदय उच्छ्वासित हो उठा है। किसी का फिर 'मैं' भाव प्रधान रूप से फूट उठता है।

साधारण मनुष्य के जीवन में भी ऐसा शुभ मूर्हत कभी-कभी आता है, जब वह अपना खण्ड 'मैं' या परिच्छिन्न 'अहम्' का अतिक्रमण कर पूर्णहन्ता के आभास को मानो कुछ परिमाण में प्राप्त होता है। तब जगत् की सब वस्तुओं की ओर, यहाँ तक कि अपने रूप की ओर भी वह विस्मयविमुग्ध-नेत्रों से दृष्टिपात करता है, तब उसके नेत्रों के सामने सब-कुछ ही एक अपूर्व सुषमा से अलंकृत-सा प्रतीत होता है। तब “मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः” होता है, तब सभी—तुम, मैं और जगत् अर्थात् सभी—पदार्थ मधुमय प्रतीत होते हैं। तब मालूम पड़ता है सुख और दुःख आनन्द से भरे हैं, निन्दा और स्तुति माधुर्यपूर्ण हैं एवं भला-बुरा एकाकार हैं। तब अन्दर

और बाहर एक-एक तान मधुर स्रोत बहने लगता है। एक असीम अनन्त माधुर्य सागर अपने उज्ज्वल प्रकाश में स्वयं अपने निकट प्रकाशमान हो उठता है। कभी उसमें तरंगें रहती हैं और कभी नहीं रहतीं अथवा समान काल में तरंगें और स्थिरता दोनों ही रहती हैं, किन्तु माधुरी में कभी नहीं आतीं। यही पूर्ण रसबोध की अवस्था है। यहाँ मिलन में आनन्द है और विरह में भी आनन्द है, हँसने में भी माधुर्य है और रोने में भी माधुर्य है।

जो मैं हूँ वही तुम हो, फिर जो तुम हो वही जगत् है, इसलिए जिसे आत्म-प्रेम कहते हैं, उसी का दूसरा पहलू भगवत्प्रेम है, वैसे ही भगवत्प्रेम की दूसरी दिशा जीव और जगत् के प्रति प्रेम है। मूल वस्तु एक और अद्वितीय है।

एक ही पुरुष उत्तम, मध्यम और प्रथम भेद में केवल कल्पित हुआ है। पूर्ण रस का उद्बोध होने पर इस एक और अखण्ड प्रेम का विकास होता है।

किन्तु भेद दृष्टि से जीव, जगत् और भगवान् का स्वरूपगत परस्पर विलक्षण्य भी तो है। पूर्ण रस के आस्वादन के समय वह भी अवश्य ही प्रकटित होता है, अन्यथा आस्वादन की पूर्णता असिद्ध रह जाती है।

अतएव यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक जीव रसानुभूति के समय ऐसी एक अवस्था में स्थित होता है जहाँ वह जिस आनन्द का आस्वादन करता है, दूसरा जीव भी रसानुभव के समय वही करता है—क्योंकि तब वह भी जैसे पूर्ण 'मैं' है, अन्य जीव भी वही है, इसलिए आस्वादनकर्ता वस्तुतः एक ही है। यह आनन्द ही नित्यसिद्ध ब्रह्मानन्द है। किन्तु केवल इतना कहने से ही तो चलेगा नहीं। प्रत्येक जीव का स्वभाव जब विलक्षण है, तब एक जीव जिस विशिष्ट आनन्द का आस्वादन करता है, दूसरा कोई जीव उसका आस्वादन नहीं कर सकता, यह मानना ही पड़ेगा। इस आस्वादन के प्रकार अनन्त हैं, सम्भावनाएँ अपरिमित हैं। इसीलिए कालातीत ऐक्य अथवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर भी प्रत्येक जीव की आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना कभी न्यून नहीं होती। एक स्थिर आनन्द के वक्ष में नित्य नूतन विचित्र आनन्द का स्फुरण होता है—ब्रह्मानन्द के समुद्रवक्ष में यही तो नित्य लीला की लहरमाला है। इस विशिष्ट आनन्द की दिशा से ही भगवान् के साथ जीव का गुप्त सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

इस सम्बन्ध का आविष्कार कर विशिष्ट रस के आस्वादन में ही रस-साधना की सार्थकता है। रसज्ञ सामाजिकगण इसी कारण निर्विशेष सामान्यात्मक ब्रह्मानन्द-लाभ को रसचर्चा का चरमफल नहीं मानते। स्वायम्भुव आगम में कहा—

ब्रह्मानन्द रसादनन्त गुणितो रम्यो रसो वैष्णवः ।

तस्मात् कोटिगुणोज्ज्वल मधुरः श्रीगोकुलेन्दो रसः ॥

ब्रह्मानन्द रस में माधुर्य नहीं है, यहाँ तक कि वैष्णव रस में अर्थात् बैकुण्ठाधिपति परमात्मानन्द रूप रस में भी, शान्त और दास्य के ऊपर गति न होने के कारण, माधुर्य की सम्भावना नहीं है। माधुर्य एकमात्र भगवदानन्द-रस में ही है, सख्य और वात्सल्य का अतिक्रम कर उज्ज्वल रस में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। अतएव सविशेष भगवद्भाव में आरूढ़ हुए बिना पूर्णभाव से रस का आस्वादन नहीं हो सकता।

प्रत्येक व्यक्ति के साथ ही सामान्य का एक निगूढ़ और आन्तरिक सम्बन्ध है। व्यक्ति सामान्य को सामान्य रूप में पाकर तृप्त नहीं होता। वह उसका अपने विशिष्ट भाव से अनन्त काल तक सम्भोग करने की इच्छा करता है। जब कर सकता है तभी वह यथार्थ रसिक होता है, उससे पहले नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के साथ सामान्य का यह मिलन अति गुप्त स्थान में संघटित होता है—उस निर्जन कुञ्ज में अन्य किसी के भी प्रवेश का अधिकार नहीं, क्योंकि वहाँ सामान्य सिर्फ उसी व्यक्ति का है, अन्य व्यक्ति का नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति ही सामान्य को कह सकता है—'तुम मेरे ही हो—केवल मेरे ही हो' यह बात सत्य है। फिर, यह बात भी सत्य है कि सामान्य सभी व्यक्तियों का समान घन है, किसी का भी निजस्व (स्वघन) नहीं है। श्रीकृष्ण राधावल्लभ हैं, यह जैसे सत्य है, फिर वह गोपी मात्र के ही वल्लभ हैं यह भी वैसे ही सत्य है। पर इसमें एक रहस्य है। जिस गुप्त स्वघाम में श्रीकृष्ण सिर्फ एक जन के हैं, जब तक ठीक उस स्थान में न पहुँचा जा सके, तब तक 'तुम मेरे हो' यह कहना तो बनता है, किन्तु 'केवल मेरे ही हो' यह कहना नहीं बनता। उसी स्वभाव का नाम राधाभाव है। जो गोपी उस महा-भावमय स्वभाव में प्रतिष्ठित है वही राधा है।

हमने पूर्ण रसास्वाद का थोड़ा-सा दिग्दर्शन किया। अभिनवगुप्ताचार्य ने रस का जो स्वरूप दिखलाया है उसमें केवल रसतत्त्व का मूल सूत्रमात्र आविष्कृत हुआ है। रस नित्य वस्तु है—आस्वाद्यमान न होने पर जब रसपद की सार्थकता नहीं है तब वह नित्य ही आरवाद्यमान है। किन्तु आस्वादन करता है कौन? जहाँ भोग्य नित्य है और भोग भी नित्य है, वहाँ भोक्ता भी अवश्य ही नित्य है यह सहज में ही जाना जा सकता है। इसलिए यह भोक्ता 'खण्ड मैं' नहीं है। जो मैं देश और काल से परिच्छिन्न है, मलिन सत्त्व से उपहित है, वह मैं नहीं, जो मैं देह से सम्बद्ध होने के कारण जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख के अधीन है वह मैं नहीं, जो मैं प्राकृतिक नियम की हथकड़ियों से बंधा है एवं अनादि कर्म संस्कारों के बसीभूत है वह मैं नहीं; किन्तु पूर्ण

अपरिच्छिन्न, निमल और नित्य में है। यह 'पूर्ण अहम्' देश और काल के अतीत है, प्राकृतिक देह से रहित है, जागतिक नियमों के ऊपर स्वाधीन भाव से नित्य विराजमान है। इसके जन्म-मरण नहीं, सुख-दुःख नहीं तथा वासना-कामना नहीं हैं। यह पूर्ण में ही रस का आस्वादयिता है, भोक्ता है। किन्तु भोक्ता, भोग्य और भोग वस्तुतः एक ही पदार्थ है—रसस्फूर्ति के समय इनका पृथक् भान नहीं रहता। यदि रहे तो रस का स्फुरण नहीं हो सकता। "भोक्तैव भोगरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः।" पर जो भोक्ता, भोग्य आदि का प्रयोग किया जाता है, वह केवल अलौकिक त्रिपुटी के अनुरोध से किया जाता है। पानकरस के तुल्य भोक्ता आदि तीन पदार्थ अनेक होकर भी एकरूप हैं। इसलिए अभिनवगुप्ताचार्य का सारभूत सिद्धान्त यह है कि पूर्ण में ही निरन्तर अपना आप ही आस्वादन कर रहे हैं। यह आस्वादन अथवा चर्वण केवल शुद्ध ज्ञान-मात्र (Cognition) नहीं है—सांख्य के पुरुष जैसे प्रकृति का निर्लिप्त और उदासीन दृष्टि से पृथक् रूप में साक्षिभाव से दूर से अवलोकन-मात्र करते हैं^१ वैसा नहीं है—यह भावमय अनुभूति (Feeling) है। इसलिए रस जब भाव की गाढ़ और अभिव्यक्त अवस्था मात्र है तब वह शुष्क ज्ञानमात्र नहीं है, यह सुख से जाना जा सकता है, अर्थात् रसतत्त्व आनन्द रूप है, केवल चिदात्मक नहीं है।^२ इसीलिए आचार्य ने रसानुभूति को सविकल्प और निर्विकल्प इन दो विरुद्ध कोटियों से पृथक् बतलाया है, क्योंकि सविकल्प आदि भेद ज्ञानगत हैं, भावगत नहीं हैं।

रस ही आनन्द और रस ही प्रेम है। यह भगवान् की अंशभूत ह्लादिनी शक्ति का सारांश है। इसीलिए वैष्णवाचार्य गणों ने प्रेम को 'आनन्दचिन्मय रस' कहकर व्याख्या की है।

प्रेम का जो आलम्बन है, वह इस प्रेम से नित्य ही संलग्न है। रसस्फूर्ति के समय अलौकिक त्रिपुटी की सत्ता के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकेगा। आलम्बन आश्रय और विषय-भेद से दो प्रकार

१. प्रकृति पश्यति पुरुषः स्वस्थः प्रेक्षक वदुदासीनः ।

२. केवल चिदात्मक नहीं। यह कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्योक्त कंबल्य रस पदवाच्य नहीं है। पुरुष चित्स्वरूप है—यह स्वरूपावस्थिति ही कंबल्य है। यह आनन्द-आत्मक अवस्था नहीं है। इसलिए वैदान्तिक और वैष्णवाचार्यगण इस अवस्था को परम पुरुषार्थ नहीं मानते। यहाँ भी वास्तव में आवरण की सत्ता है। जब यह आवरण हटेगा, जब चित्रत्व आबाधित होगा, तभी आनन्द का प्रकाश होगा। क्योंकि आबाधित आत्मविश्रान्त चैतन्य ही आनन्द का स्वरूप है।

का है। यहाँ आश्रयालम्बन अथवा भोक्ता के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। किन्तु प्रेम का विषयालम्बन सौन्दर्य है। अर्थात् जो अच्छा लगता है अथवा जिसे हम प्यार करते हैं, वही सौन्दर्य है एवं यह भला लगना ही प्रेम है। अतएव मूलतः प्रेम और सौन्दर्य अभिन्न होने पर भी रस-स्फुरण की दृष्टि से दोनों नित्य सम्बद्ध हैं।

हम साधारण अवस्था में भी इस तत्त्व का थोड़ा परिचय पाते हैं। कवि ने कहा है—

भावेद अञ्जन भाञ्जि जे दिके पालटि आँखि
नेहारि जगत् एइ असीम सुन्दर ।

अर्थात् हृदय में प्यार रहने पर चक्षु के उसी राग से रंजित होने पर सर्वत्र ही सौन्दर्य दिखलाई देता है, अन्वेषण कर उसे बाहर निकालना नहीं पड़ता। प्यार ही सौन्दर्य को प्रकट करता है। जिसको जो प्यार करता है, उसको इसीलिए वह सुन्दर देखे बिना रह नहीं सकता। इसीलिए स्नेहमयी जननी की दृष्टि में अपना काना बालक भी कमल-नयन मालूम पड़ता है। फिर, जहाँ सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रेम अपने-आप जाग उठता है। दोनों ही पक्ष बीज और अंकुर के तुल्य परस्पर सम्बद्ध हैं। रसानुभूति जब भोक्ता की ओर से स्फुरित होती है तब प्रथम पक्ष एवं जब भोग्य की ओर से जागती है तब द्वितीय पक्ष सार्थक समझा जाता है। यह अनुभूति किसकी किस ओर से कब जागती है, यह कहा नहीं जा सकता। वस्तुतः दोनों ही पक्ष समान रूप से सत्य हैं, अर्थात् प्रेम और सौन्दर्य दोनों में परस्पर व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। कौन पहले है और कौन बाद में है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

हम इन दोनों दिशाओं से विषय की थोड़ी आलोचना करेंगे। सभी देशों और सभी कालों में विद्वानों ने इस तत्त्व को स्वीकार किया है। शकुन्तला के—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्य निशम्य शब्दान्
पय्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदयानि ॥

इस श्लोक में कालिदास ने इसी तत्त्व को इंगित किया है। रूप, रस, गन्ध आदि की रमणीयता कहने पर सौन्दर्य की ही प्रतीति होती है। कालिदास कहते हैं, इस सौन्दर्य के दर्शन से चित्त में प्रेम अथवा सौहृद की स्मृति जाग उठती है। भले ही वह स्मृति अस्पष्ट हो, भले ही अबुद्धिपूर्वक हो एवं भले ही वह प्यार 'भावस्थिर' हो, तथापि वह प्रेम की ही स्मृति है न। किन्तु जिनको अनुभव नहीं हुआ, उनको तो स्मरण होता नहीं, इसलिए मानना होगा कि हमने

सौन्दर्य को ही प्यार किया था। अन्यथा सौन्दर्य देखने पर प्रेम की स्मृति जागती नहीं।

सौन्दर्य और सुन्दर, प्रेम और प्रेमिक एक ही हैं। धर्म और धर्मी में स्वरूपगत कोई भेद नहीं है। जो जाता है वही ज्ञान है, जो आनन्दमय है वही आनन्द है, जो चेतन है वही चैतन्य है, फिर विषय भी वही है।

फिर भी ज्ञानांश में बहुत्व का आरोप होता है, जाता एक ही रहता है। जैसे उपाधि के भेद से सौन्दर्य अनन्त होने पर भी सुन्दर एक ही है, वैसे ही उपाधि-भेद से प्रेम अनन्त होने पर भी प्रेमिक एक ही है, यह सत्य है।

प्रेमिक मानो 'मैं' हूँ और सुन्दर मानो 'तुम' हो। जगत् के जितने सौन्दर्य हैं सभी जब एक हैं तब एकमात्र अद्वितीय सुन्दर तुम हो। सभी प्रेम जब मूल में एक हैं, तब एकमात्र अद्वितीय प्रेमिक 'मैं' हूँ। तुम्हारा अनन्त सौन्दर्य, मेरा अनन्त प्रेम—प्रकार में अनन्त, काल में अनन्त, देश में अनन्त, वैचित्र्य में अनन्त—है, इसी से तुममें, मुझमें नित्य लीला है। अवश्य इस लीला की स्फूर्ति तब हो सकती है जब तुम और मैं दोनों स्वरूप में सजग रहें^१।

इसलिए लीलाएँ अनन्त, धाम अनन्त और आस्वादन अनन्त हैं। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य चिर पुरातन होकर भी प्रत्येक क्षण में रसिकों के निकट नित्य नूतन रूप में भासित होता है। 'जनम अघि ह्रम रूप निहारलु नयन न तिरपित भेल' देखकर भी देखने की आकांक्षा कभी निवृत्त नहीं होती।

प्रेम और सौन्दर्य जल-पिपासा और जल के साथ उपमेय हैं। सौन्दर्य को छोड़कर प्रेम का दूसरा कोई अवलम्बन नहीं है। श्रद्धा अथवा निष्ठा का एकमात्र विषय जैसे सत्य है, ज्ञान का एकमात्र विषय जैसे मंगल अथवा निःश्रेयस है, प्रेम का एकमात्र विषय वैसे ही सौन्दर्य अथवा प्रेय है। यदि जगत् में जल नाम का कोई पदार्थ न रहता तो पिपासा भी न रहती। क्योंकि जल और पिपासा परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं, इसीलिए पिपासा की सत्ता ही जल की सत्ता को प्रमाणित करती है।

वस्तुतः पिपासा जल के अभाव को सूचित करती है अथवा सत्ता को सूचित करती है, यह यहाँ आलोचना का विषय नहीं है। प्यास विरह है, वह एक ओर जैसे मिलने की अस्पष्ट स्मृति की उद्दीपक है, दूसरी ओर वैसे ही मिलने

१. नाना भक्ते रसामृत नाना विध ह्य ।

सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय ॥

चै० चरितामृत, मध्य लीला, अष्टम परिच्छेद ।

श्री भगवान् ही सब रसों के विषय और आश्रय हैं। इसीलिए वस्तुतः भक्त और भगवान् अभिन्न हैं। लीलारस के आस्वादन के लिए इस अभेद में रूपभेद जाग उठता है।

की संघटक भी है। पिपासा शब्द का अर्थ क्या है ? (क) 'मुझे जल चाहिए।' यह जो बोध है, उसमें जल क्या है यह हमारे स्मृतिपथ में उदित होता है। उस तरह स्मरण कर सकने पर इसी बोध से जल का आविर्भाव हो सकता है, यह सृष्टि रहस्य है। एक हिसाब से स्पष्टता और अस्पष्टता के सिवा अनुभव और स्मृति में मूल में कोई भेद नहीं है। स्मृति वास्तव में अस्पष्ट अनुभव है और अनुभव स्पष्टीकृत स्मृति है। दोनों में कालगत भेद के सिवा और कोई भेद रह नहीं सकता। अतीत का आवरण हटाने पर वही वर्तमान है। वर्तमान में आरोप (आवरण) पहनाने पर वही अतीत है। कालिक भेद कल्पनाजनित है। जिस किसी वस्तु के सम्बन्ध में तीव्र इच्छा, व्याकुल आकांक्षा होने पर वह वस्तु स्पष्ट होती है अथवा अभिव्यक्त होती है। स्मृति का अवलम्बन किये बिना इच्छा का उदय होना सम्भव नहीं। इच्छा के उदय होने पर प्राप्ति अवश्यभावी है। चीघ्र अथवा विलम्ब से यहाँ अथवा देशान्तर में प्राप्ति होगी, यह इच्छा की तीव्रता पर निर्भर है। उत्कट इच्छा होने पर देश और काल का कोई नियम नहीं रहता। इच्छा के साथ-ही-साथ उसकी पूर्णता सम्पादित होती है।

जहाँ पिपासा इस प्रकार तीव्र हो वहाँ जल तो पिपासा से अपने-आप प्रकट होगा। इसलिए वहाँ पिपासा जल की सत्ता की सूचक और आविष्कारक है। (ख) पक्षान्तर में पिपासा शब्द से कण्ठशुष्कता आदि-बोध के अवसान की कामना प्रतीत होती है। इस स्थल में जल-लाभ की आशा नहीं, क्योंकि यहाँ जल तो इच्छा का विषय नहीं है। जो इच्छा का विषय है वह है कण्ठशुष्कता की निवृत्ति। उसका बोध अस्पष्ट होने पर भी पिपासा को अवश्य ही है। शास्त्रीय भाषा में इसी का नाम दुःखनिवृत्ति अथवा शान्ति है। इस इच्छा से जल के बिना ही पिपासा की निवृत्ति होती है। इस जगह पिपासा जल के भाव अथवा अभाव किसी को सूचित नहीं करती।

हम जिसको अभाव कहते हैं, वह वस्तुतः आंशिक आवरण मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि में अभाव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। जो अभाव का प्रतियोगी है, अभावज्ञान उसी की स्मृति से घटित है। इस स्मृति में भाव ही आलम्बन-स्वरूप है, इसलिए स्मृति की गाढ़ता से अर्थात् अभाव-बोध की तीव्रता से भाव का उदय होता है। यह योग विज्ञान का एक गूढ़ तत्त्व है। आम का अभाव-बोध आम की स्मृति के बिना जब नहीं होता एवं आम की स्मृति में जब

१. इसीलिए आगमिकगण स्मृति की सब सिद्धियों के प्रदान में समर्थ चिन्तामणि के साथ तुलना करते हैं एवं उसे मंत्र आदि की प्राणस्वरूप कहते हैं—“ध्यानाविभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणि स्त्वद्विभवं ध्यानवित्।”

सूक्ष्म रूप से ग्राम ही आलम्बन है, तब कहना पड़ेगा कि ग्राम के अभाव-बोध के मूल में भी ग्राम है। इसलिए तीव्र भाव से उस बोध के उत्पन्न होने पर वह सूक्ष्म या अव्यक्त ग्राम स्थूल रूप से, व्यावहारिक रूप से अभिव्यक्त होगा। अतएव ग्राम के अभाव के मानी हैं ग्राम का सूक्ष्म अस्तित्व, ऐकान्तिक अभाव नहीं। ऐकान्तिक अभाव प्रतियोगिनिरपेक्ष है, भाषा से उसका निर्देश नहीं हो सकता। चिन्ता राज्य में भी उसका स्थान नहीं है। हम जिस अभाव शब्द का प्रयोग करते हैं, वह सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर भाव रूप में परिगणित होता है, किन्तु वह व्यवहार-योग्य भाव नहीं है। हमने अभाव को जो आंशिक आवरण कहा है, अब वह समझ में आ सकेगा।

पिपासा के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं, प्रेम के सम्बन्ध में भी ठीक वे ही सब बातें लागू होती हैं। यह आलोचना 'खण्ड में' अथवा परिच्छिन्न अहंकार की ओर से ही की जा रही है, यह कहना अनावश्यक है। जो जिस प्रकार का प्रेम चाहता है, जो जिस विशिष्ट सौन्दर्य को विषय रूप से प्राप्त करने की कामना करता है, उसके लिए वह अवश्य ही है। प्रेम तीव्र होने पर ही वह सौन्दर्य प्रकाशित होगा। अनन्त सौन्दर्य का भण्डार अनन्त है। माँग सकने पर अर्थात् इस विषय का अनुसन्धान ठीक-ठीक होने पर भण्डार खोला जा सकता है। इसलिए नरोत्तमदास ने कहा है, रागमार्ग की साधना का विशेषत्व केवल आकांक्षा करना है —

“भावना करिबे जाहा सिद्ध देहे पावे ताहा।” यह अति सत्य बात है।

हमने पहले जो कहा है उसी से काम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी जाना जा सकेगा। संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार कामदेव और रति में प्राकृत सौन्दर्य-कल्पना का चरम उत्कर्ष हुआ है, ग्रीक साहित्य में भी उसी प्रकार है। 'कादम्बरी' में कुसुमायुध का 'त्रिभुवनाद्भुत रूप संभार' कहकर वर्णन किया गया है। केवल यही नहीं, काम 'रूपैक पक्षपाती' और 'नवर्यावन सुलभ' कहा गया है। Venus, Aphrodite, Adonis, Eros आदि के रूप-वर्णन की आलोचना करने पर प्राचीन पाश्चात्य साहित्य में भी कामदेव के ही सौन्दर्य की कल्पना का उत्कर्ष हुआ है, यह विश्वास होता है। जिस किसी कारण से हो, सौन्दर्य काम का उद्दीपक है एवं काम सौन्दर्य का प्रकाशक है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। विद्वान् Renny de Gourmout ने अपने 'Culture des Idees' (१९००, पृ० १०३) ग्रन्थ में कहा है—“That which inclines to love seems beautiful; that which seems beautiful inclines to love. This intimate union of art and love is indeed the only explanation of art. × × × Art is the accomplice of love.” अन्यान्य वैज्ञानिक पंडितों ने भी इस विषय पर बहुत गवेषणा की

है। पंडित सान्तायन (G. Santayan) ने अपने 'The Sense of Beauty' नामक ग्रन्थ में, ग्रोस (Gross) ने 'Der Aesthetische Genuss' नामक ग्रन्थ में, कलिन स्काट ने 'Sex and Art' प्रबन्ध में (American Journal of Psychology, सप्तम भाग, संख्या २, पृष्ठ २०६), स्ट्राज (Stratz) ने अपनी 'Die Schönheit des weiblichen korpos' नामक पुस्तक में इस विषय की विशेष चर्चा की है। सान्तायन ने स्पष्ट अक्षरों में यौन-आकर्षण (Sexual attraction) का सौन्दर्य-बोध (Aesthetic contemplation) के अंग रूप से उल्लेख किया है। इनके मतानुसार विशिष्ट (Specific) यौन भाव (Sexual emotion) भी सौन्दर्य ज्ञान के अन्तर्गत है। ग्रोस ने दिखाया है कि यौन भाव और सौन्दर्य ज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं। कामशास्त्र में भी इस विषय की आलोचना है। कामत्व का स्फुरण हुए बिना चेहरे का नावप्य खिलता नहीं, यह चिरप्रसिद्ध है।

वस्तुतः प्रेम और काम में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। एक ही रस दो रूपों से कहा जाता है। प्राचीन काल में दोनों नाम एक ही वस्तु के वाचक रूप से प्रसिद्ध थे।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।

श्रीकृष्ण का बीज मन्त्र कामबीज है और गायत्री कामगायत्री है। 'कामाद्गोपयः' यह बात बहुत प्रसिद्ध है। जगत् के आदि दम्पती कामेश्वर-कामेश्वरी हैं, यह आगम शास्त्र में प्रसिद्ध है। आदि रस शृंगार-कामात्मक है। इन सब स्थलों में काम शब्द से प्रेम ही समझना चाहिये।

साधारणतः व्यवहार में काम और प्रेम का जो भेद दीख पड़ता है, जिसका अबलम्बन कर चैतन्यचरितामृत में काम लोह और प्रेम सुवर्ण कहा गया है, उस भेद का कारण रस की शुद्धता या मलिनता है। बाहरी विषयों के उपराग से रस में मलिनता आती है। कविराज गोस्वामी ने कहा है कि आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा काम है और कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा प्रेम है। इसमें भी वही तत्त्व प्रकटित हुआ है।

सारांश यह कि इस भेद को प्राचीन आचार्यगण भी जानते थे। गौडीय वैष्णवों ने स्पष्ट अक्षरों में कहा है—श्रीकृष्ण अप्राकृत मदन हैं और कामदेव प्राकृत मदन है। किन्तु मदन एक ही है। प्रकृति के ऊर्ध्व में अर्थात् रज और तम के सम्बन्ध से शून्य होने पर मदन श्रीकृष्ण हैं। ये 'कोटिकन्दर्प लावण्य', 'साक्षा-मन्मथ मन्मथ' हैं—ये ही आगम की ललिता अथवा 'सुन्दरी' हैं। महायोगी अथवा महाज्ञानी भी इस विषयविमोहिनी महाशक्ति के कटाक्षपात से

बिचलित हो उठते हैं।^१ कामदेव ने इन्हीं का कणत्रात्र सौन्दर्य पाकर त्रिभुवन को पागल बना रखा है। सौन्दर्य लहरीकार ने कहा है—

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजन सौभाग्य जननी
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि शोभमनयत् ।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनं ले ह्येन वपुषा
मुनी नामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम् ॥

सौन्दर्य एक ही है, वह अप्राकृत भाव से श्रीकृष्ण में और प्राकृत भाव से कामदेव में है। अप्राकृत सौन्दर्य और अप्राकृत काम की समरसावस्था शुद्ध शृंगार है, प्राकृत सौन्दर्य और प्राकृत काम की साम्यावस्था मलिन शृंगार है। अतएव काम और सौन्दर्य रस स्फूर्ति-काल में नित्य मिलित रूप से ही प्रकाशमान होते हैं।

एक महासौन्दर्य की ही अनन्त कलाएँ अनन्त खण्ड सौन्दर्य के रूप में नित्य प्रकाशमान होती हैं। ये सब शुद्ध कालातीत कलाएँ काल-शक्ति के आप्रयण से मलिन और विनश्वर रूप में प्रकट होती हैं।

अध्याहताः कलास्तस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।

जन्मादिषड् विकारात्म भाव भेदस्य योनयः ॥

जगत् के सौन्दर्य को देखकर पूर्ण सौन्दर्य की स्मृति हृदय में जागने के कारण ही हृदय रो उठता है। एक भावुक कवि^२ ने इस प्रसंग में कहा है—

The youth sees the girl; it may be a chance face, a chance outline amidst the most banal surroundings. But it gives the cue. There is a memory, a confused reminiscence. The mortal figure without penetrates to the immortal figure within, and there rises into consciousness a shining forms glorious, not belonging to this world, but vibrating with the agelong life of humanity, and the memory of thousand love-dreams. The waking of this vision intoxicates the man; it glows and burns within him; a goddess (it may be Venus herself) stands in the sacred place of his temple; a sense of a westrucked splendour fills

१. शृंगार रस राजमय मूर्तिधर। अतएव आत्मपर्यन्त सर्वच्चित्रहर ॥ चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद। श्रीभगवान् अपने सौन्दर्य से स्वयं भी मोहित हो पड़ते हैं। ललितमाधव में लिखा है—अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः। अयम ह्यपि हन्त प्रेक्ष्य यं सुव्यचेताः सरभक्षमुपभोवत् कामये राधिकेव ॥ पूर्ण सौन्दर्य का ऐसा ही आकर्षण है।

२. Edward Carpenter, 'The Art of Creation', p. 137.

him and the world is changed." देश और काल के बाहर इस पूर्ण सौन्दर्य का, साधारणतः और विशेषतः हमने आस्वादन किया है। उसी की पुनः प्राप्ति की आकांक्षा से ऐन्द्रियिक जगत् में हम विचरण कर रहे हैं। किन्तु यहाँ उसे पाने की सम्भावना नहीं है। यहाँ जो कुछ देखते हैं—जो सुनते हैं, मालूम पड़ता है सभी मानो परिचित हैं, अति परिचित हैं, फिर भी इस परिचय के ऊपर एक पर्दा पड़ गया है। इन्द्रियाँ केवल आंशिक रूप और क्षणिक रूप से उस पदों को हटा देती हैं तभी चिर-परिचित को 'यही है' यों चीना देती हैं।

जो संसार-मुख से सुखी हैं वे भी सौन्दर्य के मोहन कर-स्पर्श से व्याकुल हो उठते हैं, मानो किसी के विरह से व्याकुल और चंचल हों। वस्तुतः वे तब अनजाने में जन्मान्तर के सौहृद का स्मरण करते हैं। अनन्त प्रकार के अनन्त विशिष्ट भाव हृदय में स्थिर हैं। विभावादि के प्रभाव से उनमें से कोई-न-कोई अकस्मात् रस रूप में जाग उठता है।

एक सौन्दर्य ही जब नाना सौन्दर्य है एवं वह मौलिक नाना सौन्दर्य ही जब जगत् में भिन्न-भिन्न सौन्दर्यों के रूप में प्रकाशमान है, तब जगत् सौन्दर्य-सार है यह जाना जा सकता है। सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं, सभी रसमय हैं, किन्तु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता है। रस तब मुख और दुःख के रूप में और सौन्दर्य सुन्दर और कुत्सित के रूप में विभक्त हो पड़ता है। काल का स्रोत वेग से बहता है एवं हम लोगों को बहा ले जाता है। तब श्रेय और प्रेय से विभाग होता है, नियम के जगत् में हम उतर पड़ते हैं, पाप और पुण्य का आविर्भाव होता है एवं राग और द्वेष की संभावना फूट उठती है।

जिस ओर ताकें उसी ओर यदि हम सौन्दर्य न देख पाएँ, जिसको देखें उसी को यदि प्यार न कर सकें, तो रस-साधना की सिद्धि नहीं हुई, यह जानना होगा। सौन्दर्य को खोजकर बाहर निकालना नहीं पड़ता, प्रेम का कोई हेतु नहीं। पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम के साथ स्वाभाविक मिलन पुनः होने पर जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ ही स्वाभाविक मिलन फूट उठता है। योग प्रतिष्ठित होता है। तब कोई भी पर नहीं रहता तथा कुछ भी कुत्सित नहीं रहता। मनुष्य के जीवन में सौन्दर्य-साधना का यही यथार्थ परिणाम है।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं

तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।

दक्षिण के आलवार सन्तों से अब तक इस देश में भगवद्भक्ति का जितना सम्यक् एवं दिव्य विन्यास मीरा में हुआ है उतना कहीं भी नहीं। मीरा प्रीति-

मयी भक्ति की दिव्य रति की राजरानी है, कारण उसका जीवन उसकी साधना और उसका आत्मार्पण सर्वथा सहज रूप में इसके अनुरूप था—सम्भवतः क्या निश्चय ही राधाभाव को व्यक्त करने के लिए ही मीरा का इस धराधाम पर अवतार हुआ था ? अस्तु दिव्य गुणों से सम्पन्न परब्रह्म पुरषोत्तम श्रीकृष्ण से मिलन की चिर अभिलाषा अनादि काल से मानव-हृदय को आन्दोलित और उद्वेलित करती रही है। जीवात्मा से परमात्मा का वियोग स्वाभाविक वियोग है। जिस तरह प्यासे को जल की ज़रूरत है, उसी प्रकार भक्त को भगवद्-दर्शन की, उसके उस रूप-माधुर्य की दिव्य मनोहारी सुषमा की। वह माधुर्य तो कृष्ण के पुरुषोत्तम रूप में ही है, जिस मुरलीधर की मधुर मुरली की तान ने सिर्फं गोकुल की गोपियों के मन के तारों को ही नहीं भङ्कृत किया है, जरा-जरा को भकभोर दिया है। जिसकी लीला नित्य है, शाश्वत है और इसी नित्य लीला-लहरी की मधुरिमा में प्रवेश पाना साधक जीवन की चरम परिणति एवं परितृप्ति है। जिस गोपाल कृष्ण की भक्ति की अवरिल धारा दक्षिण और उत्तरपूर्व में प्रवल वेग से प्रवाहित हुई थी, उसकी उच्छल तरंगें, चंचल लहरें कहाँ नहीं पहुँचीं—कहाँ-कहाँ नहीं पहुँचीं ?—वैष्णव साधना की अकम्प ली ने ही भक्तों के हृदय में प्रीति की बाँसुरी टेरी है—उस अमर आह्वान के प्रति लोक-परलोक की सारी कामना को तिलांजलि देकर उस प्यारे के प्यार में अपने को सर्वथा खो देने के लिए।

भक्ति या प्रीति का यह मार्ग सर्वात्म समर्पण का है। इसकी प्रेम-साधना सरस और सुगम भी है। साथ ही कठिन और कठोर भी है। यही कारण है कि यह मार्ग सर्वसाधारण में अत्यधिक प्रचलित होकर लोकप्रिय हुआ। इसके ठीक विपरीत प्रज्ञात्मिका साधना की आश्रयस्थली वेदान्त और उपनिषद् है। प्रज्ञात्मिका के साधक गुरु-गम्भीर दर्शन को गहन तत्त्वज्ञान मान अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मानन्द की साधना में जुटे। रागात्मिका साधना काव्य-संगीत और भजन-कीर्तन के द्वारा भगवान् पुरुषोत्तम के साकार रूप को सहज ही स्पर्श करने लगी। इनके इष्ट दिव्य स्वरूप परब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, जिनका धाम ब्रज है और कृष्ण ही है जिनका व्यक्त रूप। भागवत पुराण में 'नवधाभक्ति' का निरूपण किया गया है—

अव्ययं कीर्तनं बिष्णो स्मरणं पाद-सेवनम् ।

अर्थनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ।

यही भक्ति के वे नौ सोपान हैं, साधन हैं, जो मानव-हृदय को अभय करते हैं, नैराश्य और अशंका से रहित करते हैं। इसी 'नवधाभक्ति' से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि ही तो वैधी भक्ति का

चरम लक्ष्य है—

अन्तःकरण शुद्धेश्य भक्तिर्परम साधनम् ॥

इस देश में ईश्वर की प्राप्ति के विविध प्रसिद्ध-प्रचलित पन्थ, साधन और मार्गों में कृष्ण-भक्ति मार्ग का इतिहास बहुत ही प्राचीन, हृदयग्राही और रोचक है। अन्य मार्गों और साधनों की अपेक्षा यह मार्ग अपने में एक ही है अनूठा—वेजोड़। इस पथ के पथिक को सांसारिक जीवन से दूर जाकर कहीं अन्यत्र भटकना नहीं पड़ता और न कोई वैसा बन्धन ही है, जिससे संसार से विमुख होकर सांसारिक वस्तुओं से मुँह मोड़ लेना पड़े। इस साधना के इष्ट हैं विष्णु के अवतार कृष्ण—“स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषं, अशेष कल्याण गुणैक राशिम् ॥” यही तो रूप है उनका, उस परब्रह्म का—हरि का।

भारतवर्ष की वैष्णव साधना के विषय में ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णु-पुराण और भागवतपुराण मुख्य हैं। वह कृष्ण कहीं यशोदा मैया की गोद के नट-खट बालक हैं, तो कहीं कंस की छाती पर सवार भयंकर योद्धा। कहीं गोपियों के साथ प्रेमलीला करने वाले हैं, तो कहीं गूढ़ और कठिन धर्मतत्त्व के कुशल और प्रकाण्ड पंडित। कहीं यमुना के तीर खड़े होकर मुग्धकारी बाँसुरी बजाने वाले हैं, तो कहीं कुरुक्षेत्र में राजनीति के उपदेशक।

जिसने उसे जैसे देखा, उसने वैसे ही उसके माधुर्य को पाया। वह असीम अगोचर सत्ता भी है और साकारता की सरस सीमा में भी प्रादुर्भूत। उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न भले ही हों, लेकिन है वह एक ही—पूर्ण। शांडिल्य-प्रतिपादित भक्ति की मीमांसा के आधार पर भक्ति के पाँच प्रकार हैं—सौम्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्त। इन पाँच तरह की भक्ति में सनत्कुमार और नारद की भक्ति सौम्यरूपिणी भक्ति मानी गई है और दास्य भाव के प्रतीक एकनिष्ठ होकर स्वामी-सेवा में संलग्न हनुमान हैं। सख्यभाव की अनुरक्ति के प्रतीक हैं उद्धव, अर्जुन और स्वामि-बाल। इनकी यह मिश्रता लौकिक व्यावहारिकता के दायरे से बाहर नहीं आँकी जा सकती।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में भक्ति का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि क्या ईरान और क्या तूरान, क्या चीन और क्या जापान—ग्रीस और अरब के लोग भी आकृष्ट हुए और वे भारतीय भक्ति की पावन ज्ञानगंगा में स्नान करने, पी अघाने, तृप्त होने और अपने विकार धोने लगे। बौद्ध-धर्म की तरह शंकर का अद्वैत भले ही विद्वव्यापी नहीं हुआ हो, लेकिन शंकर के ब्रह्मवाद ने (अहं ब्रह्मास्मि) बौद्ध-धर्म को चुनौती दे दी और उनका ब्रह्मवाद प्रबल वेग से आगे बढ़कर क्या अयोध्या, क्या मिथिला, क्या विदर्भ और क्या मगध—तमाम में छा गया। अरब और ईरान के सूफी मतों पर भी ब्रह्मवाद का गहरा रंग चढ़ गया। बौद्ध-धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए दूतों का

भी प्रयोग किया गया था। लेकिन ब्रह्मवाद तो विद्युत्-गति से अपने-आप विस्व में फैल गया और उसके आगे भारतीय सम्राटों ने भी माथा टेक दिया।

लेकिन ब्रह्मवाद का सिद्धान्त लाख अपने-आप में पूर्ण रहा हो और विद्वानों के लिए उपयोगी भी, पर वह जन-साधारण के मन के तारों को भकभोर न सका। परमज्ञानोन्मुख ब्रह्मवाद मानव-चेतना को तृप्त न कर सका और मानव-चेतना अतृप्त ही रह जाती जब रामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत की स्थापना न होती। शंकर का वही ब्रह्मवाद रामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत का नया परिधान पहनकर सामने आया।

यामुनाचार्य ने भक्ति के चरम लक्ष्य को निर्धारित करते हुए कहा—'न घर्मतिष्टोऽस्मि'। इसका उद्देश्य है कि भक्ति के विविध सोपानों द्वारा भक्त भक्तिमार्ग पर बढ़े। लेकिन सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने ही ईश्वर का वह विशिष्ट रूप भक्तों के सामने प्रस्तुत किया था, जो मानव-मन को दुर्बलताओं से ऊपर उठाकर उस परम तत्त्व के निकट पहुंचा दे।

इसी विशिष्ट रूपधारी ईश्वर की भक्ति भक्तों के लिए अमरता और वरदान है। जिसे वेदों ने 'नेति-नेति' कहा और 'बृहदारण्यक' ने जिसकी सत्ता को 'यतोवाचो निबन्तते अप्राप्य मनसा सह' कहा, ज्ञानमार्गियों ने उस अनन्त को प्राप्त करने के दावे को स्वीकार नहीं किया। किन्तु काश्यप तथा बादरायण के तमाम तर्कों को चुनौती देकर शांडिल्य, भागवतपुराण, विष्णुपुराण आदि ने उस अनादि अनामय को भक्तों के सामने नाच नचवाकर दिखला दिया। यों तो भक्तों और ज्ञानमार्गियों का द्वन्द और संघर्ष बहुत पुराना इतिहास-प्रसिद्ध है।

मानवता की सिद्धि की पराकाष्ठा भक्ति है। उस परम तत्त्व के प्रति अनुराग ही भक्ति है, जिस अनुराग का आधार प्रेम-तत्त्व है। ढाई अक्षर का बना हुआ यही वह अमोघ अस्त्र है, जिसके सहारे मनुष्य उस निराकार को साकार के रूप में पाता रहा है और उसके दर्शन से अधाता रहा है। इतना ही नहीं—दिल के किसी कोने में उसका दर्द भी मानव महसूस करता रहा है, उसकी पीड़ा के पीयूष से कहीं आप्यायित भी हुआ है और कहीं तड़प-तड़पकर उसका राज भी महसूस किया है। इस छोटे-से ढाई अक्षर की जाने कितनी भीमांसा हुई, लेकिन यह पूरी हुई है कभी और हो सकेगी कभी? कदाचित् नहीं। और, अक्खड़ निर्गुण उपासक कबीर ने भी कह दिया—“ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।” लेकिन इस ढाई अक्षर को क्या पढ़कर भी पढ़ पाता है कोई? उस रूप-मुधा-सरिता में सराबोर होकर भी प्यास बुझा पाता है कोई? तृप्त हो पाता कोई? कवि-कोकिल विद्यापति ने कहा—“जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित मेल।” पूर्ण तृप्ति कभी होती नहीं।

हाँ, तो जीवन-व्यापार में प्रेम दो प्रकार के माने जाते हैं—शृंगारजन्य और वात्सल्यमूलक । ममत्व की प्रेरणा से प्रेरित प्रेम-क्रिया ही वात्सल्य-मूलक है और जो क्रिया शरीर से प्रारम्भ होकर मन, बुद्धि और आत्मा को स्पर्श करती है, वही शृंगारजन्य प्रेम-क्रिया है । इसमें प्रेमी ज्यों-ज्यों खोता जाएगा त्यों-त्यों उसमें निखार आता जाएगा और उसके प्रेम का रंग गाढ़ा होता जाएगा—हाँ, इसमें दृष्टि की विशुद्धता की अनिवार्यता है । ऐसा न होने पर प्रेमी उस असीमता की सात्विकता को खोकर तंगदिली का शिकार होकर रह जाएगा । इससे बचने के लिए शारीरिक सीमा से बचना पड़ता है, क्योंकि तमाम विकार शरीर से ही उत्पन्न होते हैं । यदि यह आकर्षण शरीर तक ही सीमित रह जाए ; मन, बुद्धि और आत्मा तक पहुँच न पाए, तो प्रेम का वह सात्विक रूप वासना की विभीषिका में बदल जाए और सिर्फ मन और बुद्धि तक ही आकर्षण रह गया, तब भी प्रेम की विशुद्ध अपार सत्ता मोहपाश में बँधकर रह जाएगी—बस, आत्मा की पहुँच ही दृष्टि-कोण की विशुद्धता और प्रेम की पराकाष्ठा है ।

प्रेम-विशेष को ही 'अनुराग' कहते हैं—और यही अनुराग भक्ति की संज्ञा को प्राप्त करता है ईश्वरोन्मुख होकर । यह स्नेहजन्य अनुराग सम्भव तो बस तीन ही तरह से है—सामान्य, उत्कृष्ट और निकृष्ट । सामान्य स्नेहानुराग तो एक स्तर के दो प्राणियों के साथ हो सकता है । इसे ही मैत्री या सख्य कह सकते हैं । निकृष्ट अर्थात् अपने से छोटे के प्रति स्नेहानुराग, जो दया के कारण ही होता है । उत्कृष्ट अर्थात् अपने से बड़ों के प्रति स्नेह है—भक्ति । अभीष्ट सिद्धि के लिए अन्य मार्गों में जहाँ विविध साधनों की आवश्यकता बतलाई गई है वहाँ भक्ति-मार्ग में निष्काम भक्ति अर्थात् 'पराभक्ति' का निर्देश किया गया है और रति और अनुराग की प्रेम-साधना का भी पथ बतलाया गया है । अपने स्वभाव से प्रेमाधारित होने के कारण इस मार्ग द्वारा परमानन्द की अनुभूति और उपलब्धि जिस सीमा तक सम्भव माधुर्यभाव से हो सकती है, उतनी अन्य किसी मार्ग या साधन से नहीं । इसलिए इस मार्ग में विद्वानों ने माधुर्यभाव को ही श्रेष्ठ माना है ।

जिस छलिया को, जिस मदनमोहन-मनमोहन को ध्रुव, प्रह्लाद ने अपने वश में किया; उसी को वश में करने के लिए भक्ति की तीनों धाराएँ एक ही समय में भारत में प्रवाहित हुईं । प्रथम तो वही ज्ञानयोग की धारा, जिसमें हठयोग के मनीषियों, कबीर आदि संतों ने ईश्वर की अद्वैतता की सर्वोपांग साधना की । दूसरी प्रेमानुबन्ध धारा, जिसमें जायसी, कुतुबन, मंभन आदि कवियों ने स्नान करके अपनी अनमोल प्रेमगाथाओं की रचना कर हिन्दी-साहित्य का भण्डार तो भरा ही, संसार के साहित्य में भी गौरव प्राप्त किया । तीसरी

भक्तिभाव की धारा, जिसमें परमात्मा को सखा, स्वामी, कांत आदि मानकर नवधाभक्ति के साधनों द्वारा सूर, तुलसी आदि कवियों ने निमज्जन किया और मीराबाई ने डुबकी लगाकर वह ज्योति जलाई कि उसके प्रकाश से सारा भारतवर्ष प्रकाशित हो उठा और जगमगा उठा। और-तो-और, इसी भक्ति-भाव की धारा में शराबोर हो गए पूर्व बंगाल के चैतन्यदेव और छा गया जिनका प्रभाव उत्कल से ब्रजमण्डल तक। गुजराती भक्त नरसी मेहता ने भी इसी भक्तिभाव के माधुर्य से अपना जीवन धन्य किया।

इसी मध्यकालीन युग, अर्थात् चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति से उत्तर भारत एक से दूसरे सिरे तक प्रभावित हो उठा था और भगवद्-भजन की महिमा से लोट-पोट हो रहा था। उस समय के आचार्यों ने समाज और जाति के हर स्तर के लोगों को उचित स्थान ही नहीं दिया— अपनी शिष्यता में भी सम्मिलित किया। रामानन्दजी की वह वाणी—

जाति पाति पूछे नहीं कोई।

हरि कूं भर्ज सो हरि कूं होई ॥

आज भी हर हृदय में अंकित है और चैतन्य ने भी कहा था—

ईश्वरस्य कृपा जाति कुल न मेने।

अतः आचार्यों का अत्यन्त सरल और सुगम उपदेश जन-साधारण तक बहुत ही आसानी से पहुँच गया। उन्होंने जनता के सामने ईश्वर का जो स्वरूप रखा, वह बहुत ही मुग्धकारी और मनोहारी था। उनके निर्धारित इष्टदेव के स्वरूप विष्णु के अवतार राम और कृष्ण ही थे। वाणी मूक हो जाती है भक्ति-रस के उद्रेक से और रोम-रोम में रोमांच होने लगते हैं आनन्दातिरेक से। विक्षिप्तावस्था में कभी अश्रुधारा फूट निकलती है तो कभी हँसी की लहर। भक्त कभी समाधिस्थ होता है और कभी संज्ञाविहीन। उस मदनमोहन मुरलीधर कृष्ण की मनोहारी मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित करने से भक्त के जीवन में भक्ति का संचार होता है। श्रीकृष्ण के भजन, कीर्तन और गुणगान तथा भक्तों के अंग-स्पर्श, सत्संग एवं प्रेमपूर्ण सेवा में जीवन-पर्यन्त रत रहकर उसके महान् चरित के श्रवण से भक्त भव-बन्धनों से मुक्त होकर उस सच्चिदानन्द स्वरूप में लय हो जाता है सदा-सर्वदा के लिए।

इस नवीन धार्मिक आन्दोलन ने राजस्थान के लौह-हृदय वीर-बाँकुरा योद्धा राजपूतों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। उनके हृदय में दया और करुणा ने नई वीर-भावना का रूप धारण किया और वे अपना सर्वस्व समर्पण कर कृष्ण-भक्ति में लीन हो गए, यहाँ तक कि मेवाड़ राजघराने के एफ़लिंग शिव के उपासकों ने भी इस नये धर्म की मर्यादा के सामने माथा टेक दिया। राणा मोथल का चित्तौड़ में द्वारिका नायक का भव्य और दिव्य मन्दिर बनवाना

जिसका प्रमाण है और उनके पुत्र राणा कुम्भा (१४३०-६८ ई०) इस सम्प्रदाय में सम्मिलित ही नहीं हुए, इससे उन्होंने दीक्षा भी ली और जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के सरस गीतों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसकी टीका भी लिखी, जिसका नाम है 'रसिक प्रिया'। दामोदर का मन्दिर राणा रावमल ने कुम्भलमेर दुर्ग के भीतर १४६८ में बनवाया था और यह बात भी बहुत प्रसिद्ध है कि जोधपुर के राजगुरु रामानन्द के प्रथम शिष्य अनन्तानन्द थे।

इसी नवीन धार्मिक आन्दोलन की क्रान्ति की तीव्रता ने रागानुगामिनी प्रेमोन्मादिनी, दर्द-दीवानी मीराबाई को राजस्थान की गोद में जन्म दिया था, जिसकी प्रीतिदग्ध प्रणयाकुल आत्मा की वेदना युग-युग की—घर-घर की वेदना बनी हुई है और जिसमें मीराबाई ने यह प्रमाणित कर दिया कि उस कृष्ण-कन्हारी की मधुराई पर सर्वस्व समर्पण करना ही प्रेम के प्राण को अभिसिंचित कर रखना है। अपने प्रियतम गिरिघर गोपाल के लिए मीरा के हृदय में जो आग सुलगी, वह स्फुलिंग बनकर उनके गीतों की कड़ियाँ निकलीं।

इष्ट दर्शन की ऐसी तीव्र जिज्ञासा, तीव्रतम लालसा, उत्कृष्ट कामना किसी अन्य कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कसकती पिपासा उनके रोम-रोम में होती कैसे नहीं—

पूर्व जन्म की प्रीति हमारी अब नहीं जाति निबारी ।

सुन्दर बदन जोवते सजनी प्रीति भई छै भारी ॥

मीरा का प्यार कुछ नया नहीं, वह तो पूर्व जन्म का प्यार है। वह कैसा निष्ठुर है कि कभी-कभी अपनी प्रेयसी मीरा को भूल जाता है, लेकिन मीरा उसे एक क्षण के लिए भी नहीं भूलती। तभी तो कहती है—

छोड़ गया विदवास संघाती प्रेम की बाती बराय ।

बिरह समुंद में छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय ।

ऐसा छलिया है उसका प्रियतम। वह जानती ही क्या थी आखिर और जानकर भी उस परम रूपमय के प्रेमपाश से अपने को कैसे मुक्त रखती? कैसे बंचित होती उस छलिया की बांसुरी के जादू से? कैसे बचाती अपने को उसके रूपजाल से? आवेश में कहीं पर यह भी कह जाती है—

जो मैं ऐसा जानती रे प्रीत किये दुख होय ।

नगर डिडोरा पीटती रे प्रीत न करियो कोय ॥

लेकिन यह कहते हुए भी तो उस चित्तचोर को नहीं भूलती।

जब से तुम बिछुरे प्रभु मेरे कबहुँ न पायो चैन ।

० ० ०

निरखन को मोहि चाव धनेरो

कव देखूँ मुख तेरा ।

और, कभी अपने प्रियतम के आने की आहूट पाकर कहती है—

आवत मोरी गलियन में गिरिधारी ।

कितनी आशा और कितना बड़ा विश्वास है उसके इस कथन में ! इतना ही नहीं, वह लज्जा का भी अनुभव करती है—

में तो छुप गई लाज की मारी ।

तरह-तरह से वह अपने प्रियतम के आने का अनुभव करती है । जिसका प्रियतम भी विचित्र है, कोई कहे तो कैसे कहे कि उसका प्रियतम किस-किस रूप में उसको तड़पा-तड़पाकर आता है और किस-किस प्रकार उसके आने का सन्देश उसे मिलता रहता है । तभी तो सावन के बादलों को देखकर एक स्थल पर कहती है—

झुक आई बबरिया सावन को,
सावन की मनभावन की ।

० ० ०

सावन में उमग्यो मेरा मनवा,
भनक सुनी हरि आवन की ।

किसी-किसी स्थल पर तो मीरा के हृदय-राज्य में विरह-वेदना का नामों-निशान नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि वह कहती है—

औरों के प्रिय परदेश बसत हैं
लिख - लिख भेजें पाती ।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत है
गूँज करूँ दिन - राती ॥

जल में कुम्भ और कुम्भ में जल की तरह वह स्वयं ही स्वयं में प्रियतम के होने का अनुभव करती है और कहीं-कहीं तो प्रियतम का ऐसा साक्षात्कार होता है कि लगता है जैसे उसके युग-युग की साध पूरी हो गई—

सहेलिया साजन घर आया हो ।

बहोत बिना की जोवती, बिरहिणि पिव आया हो ।

मीरा के काव्य में जिस प्रकार प्रेम-विह्वलता, तन्मयता और प्रिय-चिन्तन है, उसी प्रकार परकीया होने के नाते उसमें तीव्रता और प्रांजलता भी है । जब उसका प्रियतम उससे दूर होता है, तो उसके वियोग में वह रोती है, कलपती है, बिलबिलाती है और तड़पती है । मालूम पड़ता है अपने प्राणों के प्राण, जीवन के जीवन, हृदय के हृदय के बिना वह एक क्षण के लिए भी जी नहीं सकती—

मुम हो मेरे प्राण जी कासूँ जीवन होय ।

और, लम्बी प्रतीक्षा की आँच सहने के बाद जब उसका प्रियतम आता है, वो उसे अपनी मज्जागत मर्यादा का खयाल हो आता और वह कहती है—

में हूँ नारि पराये घर की
रोति छाड़ि अनरोत करो ना

○ ○ ○

छाँड़ो लंगर मोरी बहियाँ गहो ना ।
में तो नार पराये घर की
मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥

मीरा के काव्य में मिलन-विरह का अद्भुत सम्मिश्रण और विचित्र प्रक्रिया है। अतः यह कह देने में कोई हिचक नहीं कि मीरा के गीत केवल हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-काव्य की अक्षय-निधि हैं। उसके शब्द-शब्द अमृत से भी मधुर हैं। उसके रसीले गीतों की स्वर-लहरी ने यदि उत्तर भारत के लोगों को वशीभूत कर लिया तो आश्चर्य क्या है ?

मीरा के गीतों की भावमाधुरी की मीमांसा हम बाद में करेंगे। यहाँ हम यह जान लें कि यह मीरा कौन थी, जो संसार को ऐसी मोहकता दे गई। मीरा के जीवनवृत्त के बारे में हमारे विद्वानों में मतभेद नहीं है, इसलिए मीरा का परिचय सीधे दिया जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राचीन या मध्यकालीन कवि-लेखक इतने उदार होते थे कि वे अपने बारे में कहीं कुछ भूलकर भी लिखना अनावश्यक समझते थे। भक्त कवियों ने यों तो अपने से सम्बन्धित पद नहीं के बराबर ही लिखे हैं, फिर भी उनकी पक्तियों में उनके समय की धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना किसी-किसी स्थल पर व्यक्त हो ही गई है, फिर भी जिनके पदों में भाव-तल्लीनता का बाहुल्य है, उनमें बाह्य प्रभावों की छाया बहुत कम आ पाई है। मीरा का नारी-हृदय अपने प्राणवल्लभ में इतना रम गया था कि बाहरी प्रभाव के लिए उसमें अवकाश ही नहीं था।

मीराबाई की जन्मतिथि को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान् तो जोधपुर मेड़ता के राठौर घराने में उनका जन्म और मेवाड़ सिसौदिया वंश में उनका ब्याह मानते हैं। कर्नल टाड के आधार पर वह दूदा की पुत्री और जोधा की पौत्री हैं, जिनका काल लगभग १४५३-८६ ई० है और किसी विद्वान् ने उन्हें दूदा के पुत्र रतनसिंह की पुत्री माना है और शायद इसी के आधार पर ग्रियसन ने मीराबाई को पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में कविकोकिल विद्यापति का ही समकालीन मान लिया है। इस तरह उनकी जन्मतिथि के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इसलिए नाभादासजी के 'भक्तमाल' के आधार पर मेकालिक्र ने जो वार्ता लिखी है, उसमें वर्णित मीरा की जन्मतिथि कुछ युक्तियुक्त लगती है। उसके आधार पर मीरा की जन्मतिथि १५०४ ई० है और इनके पिता मेड़तावाले रतनसिंह थे। राणा सांगा के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ मीराबाई का विवाह हुआ था और यह सिद्ध

हो चुका है कि इनके दादा हूदा १५१५ ई० तक ही जीवित थे । उनके पिता रतनसिंह के बड़े भाई वीरमदेव का जन्म १४७७ ई० में हुआ माना है, जो शाहंशाह बाबर के विरुद्ध कनवा के मैदान-जंग में १५२७ ई० में लड़ते-लड़ते मारे गए थे और इनके पिता रतनसिंह भी उसी लड़ाई में वीरगति को प्राप्त हुए ।

यों तो बंगाली विद्वान् जन्मयोगिनी मीरा को सोलहवीं शताब्दी में ही मानते हैं और मुंशी देवीप्रसाद, कवि श्यामलदास, हर विलास, शारदा, गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, जगदीशसिंह गहलौत और नरोत्तमदास स्वामी तथा विशेषवर-नाथ रेऊ ने भी मीरा के जन्म के बारे में अपनी-अपनी खोज के आधार पर लिखा है, अर्थात् १५०३ और १५८८ के बीच ही विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार मीरा के जन्म का अनुमान लगाया है । मेकालिफ़ के आधार पर मीरा की जन्मतिथि १५०४ ही मानना एक हद तक सही है ।

अब हमें यह देखना है कि मीरा को वह कृष्ण-भक्ति को सहज अनुभूति की विभूति मिली कहाँ से ?

लोक-लाज कुल काण जगत की
दई बहाय जस पाणी ।

जिसका प्रियतम जिसके प्राणों का प्राण है, उसको लोक और परलोक के सुख-दुःख से क्या प्रयोजन !

प्राण पिया सखि हमारि पिया ।

वह तो सदा अमरलोक में वास करनेवाली अमरत्व की साक्षात् देवी है—

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर
अमरलोक में रहणां ।

उसे सांसारिक यातनाओं का शम नहीं, प्रकोपों की परवाह नहीं और जो सदा अनहद नाद सुनती रहती है, उसे किसी के कुछ कहने-न कहने की क्या चिन्ता ! लौकिक सुख और दुःख की पहुँच तो वहाँ तक नहीं हो सकती—

बिन करताल पखावज बाजे
अनहद की शनकार रे ।

इतना ही नहीं, वह तो 'पचरंग चोली' पहनकर झिरमित में खेलने जाती है—झिरमित अर्थात् वह भुरमुट जहाँ केवल वही होती है और वहाँ जब उसका प्रियतम आता है तो अंगों के बसन खोल उससे लिपट भी जाती है—

मैं गिरिधर संग राती ।
पचरंग चोला पहर सखी मैं
झिरमित खेलन जाती ।
ओटि झिरमित मां मिल्यो साँवरो,
खोल मिली तन गाती ।

‘गिरिधर गोपाल’, ‘गिरिधर नागर’ ही जिसके इष्टदेव हैं, इसी ‘गिरिधर नागर’ कृष्ण को वह कई नामों से—जसुमति को लाल, जदुनाथ, बलवीर, सम्बोधित करती है और उनका समूण रूप में स्मरण करती हुई उन्हें जन्म-जन्म का साथी मानकर ‘म्हारो भरतार’ के साथ कहीं-कहीं पर स्वकीया पत्नी होने का भी दावा करती है। ‘वर’, ‘साजन’, ‘सैयां’ ‘घणी’, ‘पीव’, ‘भवनपति’, ‘बलिमा’ आदि और ‘बांह गहे की लाज’ की दुहाई देती हुई पूर्वजन्म के वायदे को भी याद दिलाती है—

मीरा कूं प्रभू वरसण दीज्यो,
पूरव जन्म को कोल ।

कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के माधुर्य-भाव की भक्ति की प्रेरणा उन्हें बचपन से ही मिलती रही। उनके माता-पिता भी कृष्ण-भक्त थे और माता-पिता ने ही उन्हें कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया था और बताया था कि ‘कृष्ण ही तुम्हारे वर हैं।’ और उनके पितामह राव दूदाजी क्षत्रियकुल-भूषण होते हुए भी सुप्रसिद्ध वैष्णव कवि माने जाते हैं। माता भी वैष्णव भक्तों के कुल की थीं। उनके घर का वातावरण ही कृष्ण-भक्ति के रंग में रंगा हुआ था। पूर्व सांस्कारिक प्रेरणा के अनुकूल वातावरण में मीरा फूली-फली और पनपी। ऐसा भी कहा जाता है कि गिरिधर गोपाल की मूर्ति बाल्यकाल में पिता के घर में ही किसी साधु ने मीराबाई को दे दी थी। वह साधु कौन था? रैदास या और कोई? ...निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन, मीराबाई उस प्रतिमा को हरदम साथ रखती और उसकी पूजा करती—इतना तक कि ब्याह हो जाने के बाद वह ससुराल भी उस प्रतिमा को साथ लेती गई और मीरा से सम्बन्धित एक ताम्रपत्र के आधार पर बताते हैं कि बाल्यकाल में मीराबाई ने वेद, पुराण और उपनिषदादि की शिक्षा अपने पुरोहित गजाधर से पाई थी। विवाह हो जाने पर गजाधर को भी अपने साथ ससुराल (चित्तौड़) ले गई। वहाँ उनको मुरलीधर के मन्दिर की पूजा का भार एक हजार बीघा जमीन दान देकर सौंप दिया, जो आज भी गजाधर के वंशज के जिम्मे पाई जाती है।

प्रेम-साधना में रत मीराबाई के पदों में कई भाषाओं का सफल प्रयोग पाया जाता है, जैसे पूर्वी हिन्दी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, फारसी और उर्दू और खासकर खड़ी बोली का प्रयोग खूब कूटकर किया पाया जाता है—“प्रेम की कटारी है’, ‘मतवारी है’, ‘प्रीति प्यारी है’, ‘दासी तुम्हारी है’, ‘भाग हमारा जागा’, ‘सोना में सुहागा’, ‘पूर्व-जन्म के भाग’, ‘हो गया अचल सुहाग’, ‘सबका मैं बोल सहुँ’, ‘दुरजन जलो या अँगौठी’, ‘सूरत की कछनी काछूँगी’, ‘भजन भाव में मस्त डोलती’, ‘एही भगत की रीति’, ‘गैल बता जा’, ‘अपने हाथ जला जा’, ‘अंग लगा जा’, ‘जोत में जोत मिला जा’,

‘सब हमारे हाथ है’, ‘देस-विदेस संदेस न पहुँचे’, ‘जनम-जनम की चेली’, ‘क्या देखूँ मुख तेरा’, आदि-आदि । इसी प्रकार खुलकर फारसी के शब्दों का भी प्रयोग उनके पदों में पाया जाता है और खड़ी बोली का प्रयोग मीरा के पहले सूफियों, संतों, योगियों ने किया है—विशेष रूप से रैदास, कबीर और खुसरो ने । यों तो आठवीं शताब्दी से ही खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था । मीरा का अधिकार संस्कृत भाषा पर भी था, इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत-शास्त्रों का अवश्य अध्ययन किया होगा । ‘राग गोविन्द’ और ‘नरसीजी का मायरा’ मीरा की ही कृतियाँ मानी गई हैं । प्रचलित उपाख्यान और किंवदन्तियों के आधार पर कहा जाता है कि जयदेव के ‘गीत गोविन्द’ की भी टीका मीराबाई ने की थी ।

मीरा ने जिस रसीली भक्ति की याचना की है, उसका रूप है—

मैं तो साँवरो के रंग राँची ।
 साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू,
 लोक-लाज तजि नाची ॥
 नई कुमति लई साधु की संगति
 भगत रूप भई साँची ।
 गाय गाय हरि के गुण निस दिन
 काल ध्याल सँ बाँची ॥
 उष बिनु सब जग खारो लागत
 और बात सब काँची ।
 मोराँ थो गिरधरनलाल सँ
 भगति रसीली जाँची ॥

० ० ०

भगति देखि राजी हुई, जगति देखि रोई ।

और, यही कारण था कि मीरा सांसारिक विलास, ऐश्वर्य, सुख, वैभव छोड़ सदा रणछोड़ की भक्ति के रंग में रंगी हुई रहती थी । साधु-सन्तों की सेवा में इतनी तल्लीन रहती थी कि उसे लोक-लाज और कुल-मर्यादा का कुछ भी खयाल नहीं रहा । सन्त-भक्तों को अपने हाथों भोजन बनाकर खिलाती-पिलाती और उनकी सुख-सुविधा का सदा ध्यान रखती । भक्त हरिदास के मीरा के सम्बन्ध में लिखे हुए निम्नांकित पद में भी इन्हीं भावों की अभिव्यंजना है—

एक राणी चित्तौड़ की,
 भेड़तणी निज भगति कुमावं भोजराई जी का जोड़ा की ।
 हिमरू मिसरू साल दुसाला बंठण गावी मोड़ा की ।

असा मुख छाड़ि भयी बंरागिणी सादी नरपति जोड़ा की ।
 साइण बाइण रथ पालकी कभी हसती घोड़ा की ।
 सब सुख छाड़ि छनक में चलती लाली लगाई रण छोड़ा की ।
 ताल बजावें गोबिन्द गुण गावे लाज तजी बड़ ल्होड़ा की ।
 निरति करे नीका होई नाचें भगति कुमावें बाई चौड़ा की ।
 नवां नवां भोजन भाँति-भाँति का करिहूँ सार रेणाड़ा की ।
 करि करि भोजन साध जिमावें भाजी करत गिदोड़ा की ।
 मन धन सिर सांधा के अरपण प्रीति नहीं मा थोड़ा की ।
 'हरिदास' मीरां बड़ भागणें सब राण्यों सिर मोड़ा की ।

इस प्रकार करताल-पखावज बजा-बजाकर वह रणछोड़जी के मन्दिर में भजन-कीर्तन करती और उसका तो साफ़ ऐलान था—

मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।
 दूसरा न कोई हो नाथ दूसरा न कोई ।
 साधुन संग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई ।
 यह तो बात फूट गई जानत सब कोई ।
 असुअन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई ।
 यह तो बेल फल गई इमृत फल होई ।
 आई थी भगत जान जगत देख रोई !
 लोग कुटुम्ब भाई बन्द संग नहीं कोई ॥

रतनसिंह की इकलौती बेटी मीरा की माँ मीरा को बचपन की गोद में ही छोड़कर चल बसी थी । रतनसिंह को अपनी इकलौती बेटी मीराबाई से बड़ी उम्मीद थी कि वह चित्तौड़ की महारानी बनेगी, लेकिन यह क्या—मीरा की तरुणावस्था में ही उसका पति भोजराज काल-कवलित हो गया । मीरा ने अपने को प्राणपति कृष्ण की गोद में पाया । वह कहती है—

ऐसे वर को के बहूँ जो जनमे श्री मरि जाय
 वर बरियो एक साँवरो मेरो चूड़लो अमर होइ जाय ।

फिर कहती है—

म्हारो साँवरो ब्रजवासी ।
 जग सुहाग मिध्या री सजनी,
 होवाँ हो मिटज्याशी ।

और, जिसको उस अविनाशी ने ही अपना बना लिया है और जिसका प्रियतम सदा हृदय में ही वास करता हो, उसे दुःख कैसा !

“बरन करयाँ अविनाशी म्हारो ।

काइ ब्याइ ना खाशी ।

म्हारो प्रीतिम हिरवां बशतां
 दरस लहयां शुख राशी ।
 मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी ।
 सरण गहयां बे दाशी ।

उस विशिष्ट काव्य-मर्मज्ञा मीरा के गीतों में कुछ ऐसे भी शब्दों के प्रयोग पाए जाते हैं, जिससे लगता है कि वह 'शब्दयोग' की भी साधना कर चुकी थीं। जैसे—'निज नाम', 'सुमिरन', 'अमर रस', 'निरत', 'सुरता', 'सुरत' अर्थात् उस परम तत्त्व का बार-बार स्मरण और 'सुरत की कछनी काछती', जैसा प्रयोग जीवात्मा के लिए भी किया है। 'निरति', 'सुरत' वह अवस्था है, जो जीवात्मा स्वयं परमात्म रूप हो जाता है तथा 'म्यान की गुटकी' गुटकी आदि का व्यवहार कर उन्होंने आत्म-ज्ञान की ओर भी अपनी अभिव्यक्ति द्वारा संकेत किया है। इस प्रकार लगता है कि सन्तों ने जिस नैतिक आचरण के लिए प्रयोग कर सर्वसाधारण के समक्ष रखा है, उसी सदाचरण को स्त्रियोचित शृंगार व्यवहार के निखार के लिए मीरा ने 'सीलबरत' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है।

मीरा के काव्य में निर्गुणिये सन्तों का प्रभाव यत्र-तत्र स्पष्ट है—

सतगुर भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो ।

या —

भर मारी रे बाना मेरे सतगुर बिरह लगाए के ।

और —

री मेरे पार निकस गया, सतगुर मारया तीर ।

तथा—

सतगुर मिलिया सुंज पिछानी, ऐसा ब्रह्म में पाती,

सगुरा सुरा अमृत पीवं, निगुरा प्यासा जाती ।

कुछ विद्वानों का मत है कि मीरा बल्लभ या विष्णु स्वामी के वैष्णव सम्प्रदाय की अनुगामिनी थी—ऐसा मान लेना युक्तियुक्त नहीं लगता। मीरा के पदों में कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन है, जिससे अनेक साधक कवियों से मीरा की तुलना की जा सकती है। बंगाल के वैष्णव कवि के साथ भी, जैसा कि चण्डीदास लिखते हैं—

सखि रे मथुरा मण्डले पिया ।

असि-असि बलि पुनि न आसिल

कुलिष - पाषाण हिया ।

आसिवार आसे लिखिनु दिवसे

खोयाइनु नखेर छन्द ।

उठिते बसिते पथ निरखिते

दु आसि हइल अन्ध ।

मीराबाई कहती है—

आउं-आउं कर गया साँवरा, कर गया कौल अनेक ।
गिनते गिनते घिस गई उँगली, घिस गई उँगली की रेख ।

० ० ०

आवन कह गए अजहूँ न आए, दिवसे रहे अब थोरी ।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे, अरज करूँ कर जोरी ॥

० ० ०

अजहूँ न आये मुरारी ।

गिनताँ गिनताँ घिस गई रेखा आँगुरियाँ की सारी ।

अब गोविन्ददास और मीरा के भावों का मेलजोल देखिए—

पराण पिया सखि हामारि पिया ।

अबहूँ न आउल कुलिदा हिया ॥

नटवर खो आलु दिवस लिखि-लिखि ।

नयन अंधायलु पिया-पथ देखि ।

मीरा कहती है—

जब से मोहि नन्द नन्दन हृष्टि पड़यो भाई ।

तब से परलोक लोक कछुना सोहाई ।

अब ज्ञानदास का पद देखिए । राधा अपने प्रियतम के वियोग में क्या कहती है—

मुड़ाव माथार केश धरबि योगिनी वेश ।

यदि सोई पिया न आइल ।

एहेन जीवन परदा रतन ।

काचेर समान मेल ।

गेरुआ बसन अंगुते परिव ।

शंखेर कुण्डल परि ।

जोगिनीर वेशे जाव सेई देशे ।

जेखाने निठुर हरि ।

और; मीरा—

जोगिन हुई जंगल सब टेहूँ तेरा न पाया भेस ।

तेरी सूरत के कारणे धर लिया भगवा भेस ।

एक और स्थल पर देखिए—

जा तन ऊपर भसम रमाऊँ, खोर करूँ सिर केस ।

भगवा भेख धरूँ तुम कारण, हँडति च्यारु देस ।

अपने-अपने प्राण प्यारे के लिए दोनों का दर्द एक होते हुए भी दोनों में वैसे समानता नहीं कही जा सकती, क्योंकि मीरा का दर्द अपना है और जानदास ने राधा के माध्यम से उस दर्द को व्यक्त किया है।

रागानुगामिनी साधिका मीरा के पदों में स्थल-स्थल पर सन्तों की तरह सहज प्रेम की साधना पाई जाती है। एक स्थल पर देखिए—

नित नहान से हरि मिले तो जलजन्तु होई ।
फल मूल खाके हरि मिले तो बादुर बन्दराई ।
दूध पीके हरि मिले तो बहुत बत्स-बाला ।
मीरा कहै बिना प्रेम से न मिले नन्दलाला ॥

यही भावना 'सहजिया' सम्प्रदाय की भावना कही जाती है। सहज प्रेम की साधना में जीव को बन्धनों से मुक्त करने के लिए सहजपंथी संत कवि प्राणीमात्र को शास्त्र, पांडित्य और ज्ञान के अनुष्ठान से बोझिल नहीं करते। सूफ़ी कवियों और बाउल पंथियों तथा बंगाल के वैष्णव सहजिया के पदों में यही भाव निहित-अभिव्यंजित हैं।

आधुनिक युग की महादेवी भी अपने प्रियतम के लिए मीराबाई की तरह ही व्यग्र हैं। लेकिन दोनों की व्याकुलता, टीस और कसक में अन्तर है। महादेवी मधुरिमा के मधु अवतार, सुधा-सुषमा से छविमान, तारकों से मूक अज्ञात-अज्ञान प्रियतम पर अपना अनमोल यौवन लुटाकर कहती है—

जानते हो यह अभिनव प्यार
किसी दिन होगा कारागार ?

परन्तु, मीरा को इसका भय नहीं। वह तो कहती है—'सूली ऊपर सेज पिया की।'

म्हारो जणम जणम रो शाथी
थाणे ना विशरया दिन राती ।
थां देख्यां बिण कल ना पडतां
जाणे म्हारी छाती ।

इसलिए मीरा को दुःख-सुख का अच्छा-खासा अनुभव है। उसे अपने प्रियतम को समझाने की कोई जरूरत नहीं है।

महादेवी प्रियतम को जहाँ सपनों में बाँधने के लिए तड़पती है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में ।
तो चिर-जीवन-प्यास बुझा लेती
उस छोटे क्षण अपने में ।

पर, मीरा तो अपने प्रियतम मुरलीधर की मधुर मुरली की टेर भी सुनती है—

मुरझिया बाजां जमणा तीर ।

उसे यह पता चलता है कि उसके प्रियतम उससे मिलने आये हुए हैं—

आजु झुब्बा हरि आवां री ।

और कभी अपनी सखी से पूछती है—

सजणी कब मिड्डिया पिव म्हारों ।

सारा संसार सुख-सपनों में खोया पड़ा सोता भी रहा और वह अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में जगी बैठी भी रही—

री म्हा बैठयां जागां जगत शब शोवां ।

सपनों में भी उसका प्रिय आता है—

सोवत में ही पलका में

तो पल लागी, पल में पिऊ आये ।

में जो प्रभु आवर देन को,

जाग पड़ी पीऊ ढूँड़े न पाये ।

मीरा की तरह महादेवी को भी कभी पूछना पड़ा है—

मुसकाता संकेत भरा नभ

अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

महादेवी प्रियतम को स्मरण कर संज्ञाहीन-सी हो जाती है और वह अपना संदेश लिखकर पहुँचवाने में भी असमर्थ हो जाती है। देखिए उसकी विवशता—

कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती—

हृगजल की सित मसि है अक्षय

मसि प्पाली झरते तारक द्वय

पल पल के उड़ते पृष्ठों पर

मुधि से लिख श्वातों के अक्षर

में अपने ही बेमुधपन में

लिखती हूँ कुछ कुछ लिख जाती ।

लेकिन मीरा को इसकी चिन्ता नहीं—

जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजें पाती ।

मेरा पिया मेरे हृदय बसत है ना कहूँ आती जाती ।

प्रिय-मिलन की विवशता इसमें है अवश्य, लेकिन इसके सामने प्रश्न है कि यह लिखकर भेजे तो कहाँ ? उसका प्रियतम तो उसके हृदय में ही वास करता है ।

मीरा और महादेवी दोनों में करीब-करीब एक-सी ही बेकली है, लेकिन दोनों की रचनाओं पर अपने-अपने युग का प्रभाव पड़ा है, जो नैसर्गिक है। लेकिन हिन्दी साहित्य के लिए दोनों ही अमूल्य निधि हैं। अपने-अपने युग की देन—एक मध्य की और दूसरी आधुनिक युग की। कहीं-कहीं पर तो मीरा की तरह महादेवी भी अपने प्रियतम के बारे में कहती है—

तुम मुझमें, प्रिय फिर परिचय क्या ?

... ..

काया छाया में रहस्यमय

प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

और भी—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी

प्रिय के अनन्त अनुराग भरी।

मीरा की भी आसक्ति रोज़ मरने और जनमनेवालों के प्रति नहीं है, वह कहती है—

ऐसे बर को क्या कहूँ जो जनमे और मर जाय।

बर बरिये एक साँवरो री मेरो चुड़लो अमर हो जाय।

आधुनिक काव्य में अभिव्यंजित वेदना देखिए—

शशि के दर्पण में देख देख

मैंने सुलसाये तिमिर केश

गूँथे चुन तारक पारिजात

अवगुण्ठन कर किरणों अशेष

क्यों आज रिझा पाया उसको

मेरा अभिनय शृङ्गार नहीं ?

और, यह है अपने प्राण प्रियतम के लिए मध्यकालीन युग की मीरा का तड़प—

फारुंगी चीर करुंगी गर कंधा रहूंगी बंरागण होई री।

चुरियां फोरुं मांग बखेरुं कजरामें डोरु धोई री।

निसि-बासर मोहे बिरह सतावे कल न परत पल मोई री।

मीरा के प्रभु हरि अविनासी मिली बिछड़ो मत कोई री।

कहीं-कहीं पर महादेवी की वेदना भी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है और वैसे स्थिति में बिरह को भी मिलन मान लेने के लिए उन्हें मजबूर होना पड़ा है—

अब बिरह की रात को तू

चिर मिलन का प्रात रे कह।

स्मृति बनकर निरन्तर मानस में खटकने वाले प्रियतम की निष्ठुरता को भी वह भूलना नहीं चाहती—

स्मृति बनकर मानस में
खटका करते हैं निशिदिन
उनकी इस निष्ठुरता को
जिसमें मैं भूल न जाऊँ ।

युग बदलता है और युग के साथ परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं । इसीलिए महादेवी के काव्य में जीवन-चेतना और है, मीरा के काव्य में और । महादेवी की वेदना भौतिक है—मीरा की आध्यात्मिक । महादेवी में लौकिक दाह है—मीरा में पारलौकिक कराह । महादेवी का प्रियतम लौकिक ही है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता । मीरा अपने प्रियतम को देखकर भी जीभर देख न पाई और उसका वियोग उन्हें सहन न हुआ और उन्हें दुःख मेलना पड़ा । लौकिक प्रेम का परिणाम दुःख ही होता है । दोनों विषमधर्मा हैं, इन्हें समानधर्मा मानना उचित नहीं । युग के वैषम्य ने दोनों को दो किनारों पर रख दिया है, साहित्य का इतिहास चाहे उन्हें लाख मिलाने का प्रयत्न करे, लेकिन दोनों में जो दूरी है वह दूरी बनी की बनी ही रहेगी—निरन्तर ।

महादेवी की पीड़ा देखिए—

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था श्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का ।

इस तरह पंचरंग चोला पहनकर भुरमुट में खेलने जाने वाली अध्यात्म-बादिनी मीराबाई की व्यथा व्यवितगत नहीं है । यों महादेवी की तरह मीरा में भी दाम्पत्य की भावनाएँ निहित हैं, फिर भी मीरा के प्रेम में अलौकिकता अक्षुण्ण ही है । महादेवी के प्यार में भी त्याग है, समर्पण है, पूजा की भावना है, फिर भी वह लौकिकता के दायरे में ही सिमटकर रह जाती है—

जिन चरणों की नख ज्योति से
हीरक जाल लजाए
उन पर मैंने घुँघले-से
आँसू दो-चार चढ़ाए ।

और भी—

मैं निर्धन तब आई ले
सपनों में भरकर डाली ।

कभी वह अपने प्रियतम के चरणों को फूलों से पूजती है और कभी उन्हीं चरणों पर घुँघले आँसू चढ़ाती है। इनके काव्य में निराशा ही निराशा मिलती है—मिलन में भी और विरह में भी। मिलन तो क्षणमात्र का है, लेकिन विरह चिर है और मीरा का क्या मिलन और क्या विरह दोनों ही अक्षुण्ण हैं, चिर हैं—स्थायी हैं। यों महादेवी अपनी जगह पर प्रतिष्ठित हैं और मीरा अपनी जगह पर। केवल वेदना के आधार पर उन्हें एक कैसे कहा जा सकता है? जब दोनों की प्रेरणाओं के स्रोत भिन्न हैं, दिशा भिन्न हैं, और भिन्न हैं अनुभूतियों की विभूति भी।

मीरा उस अगम अगोचर अविनाशी तारणतरण की मीरा है, जिसने अचारण ध्रुव को शरण दी, प्रह्लाद को इन्द्र की उपाधि से विभूषित किया। वह कहती है—

मन थें परस हरि रे चरण ।

सुभग सीतड़ कंवड़ कोमड़ जगत ज्वाढ़ा-हरण ।

इण चरण प्रह्लाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण ।

इण चरण ध्रुव अटड़ करस्यां सरण असरण सरण ।

इण चरण धारयां गोबरधण गरब मघवा-हरण ।

इण चरण ब्रह्मांड भेटयां णल्लसिखां तिरि भरण ।

इण चरण कालियां नाथ्यां गोप डीड़ा करण ।

इण चरण धारयां गोबरधण गरब मघवा हरण ।

दासि मीरां लाल गिरधर अगम तारण तरण ।

यह है वह मीरा, जिसने अपने प्राण-प्रियतम के बारे में सुन रखा है—

म्हा सुष्या हरि अधम उधारण ।

अधम उधारण भव भय तारण ।

गज बूड़तां अरज सुन धायां भगतां कष्ट निवारण ।

द्रुपद सुता णो चीर बढायां दुसातण मद मारण ।

प्रह्लाद परतग्या राख्यां हरणाकुस णो उदर विदारण ।

थे रिख पतणीं किरपा पायां विप्र शुदामा बिपत विदारण ।

मीरां रे प्रमु अरजी म्हारी अत्र अबेर कुण कारण ।

लीन हो गई है—बस, खो गई है, डूब गई है अपने प्रियतम की रूप-सुधा सरिता में लौकिक मान-अपमान और भले-बुरे की चिन्ता छोड़कर।

अतः मीरा की प्रेम-साधना भी राधा की तरह ही है, या यह कहा जा सकता है कि मीरा की सम्पूर्ण साधना ही राधा की भावना से श्रोतप्रोत है। मीरा की वेदना भी राधा की वेदना है। विरह-उन्मादिनी महाभावरूपा राधा की भावना से अभिभूत होकर एक तो चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् कृष्ण का चिन्तन किया

और दूसरी मीरा ने अपने पदों में यद्यपि अपनी ही प्रेम-बिह्वलता का वर्णन किया है, पर उसमें राधा भी झलक जाती है—

शेषा डीयां अटकां शक्यां णा फिर आय ।
 रम रम नख सिख लख्यां लड़क लड़क अकुड़ाय ।
 म्हा ठाढ़ि घर आपणे मोहण णिकड़ियां आय ।
 बरण चन्द परगासतां मन्द मन्द मुशकाय ।
 शकड़ कुटुम्बां बरजतां बोड़यां बोड़ बणाय ।
 शेषा चंचड़ अटकणा माध्या पर हथ गया बिकाय ।
 मलो कहां काई कहां बुरोरी शबलयां सीश चढ़ाय ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिणा पर रहुंणा जाय ।

उस प्रियतम से मीरा के हृदय का ऐसा सम्बन्ध है कि उसे राधा की वेदना से पृथक् नहीं कर सकते—

हरि बिण क्यूं जिबारी माय ।
 श्याम बिणा बीरां भयां मण काठ ज्युं घुण खाय ।
 मूड़ ओखदणा डग्यां म्हाणे प्रेम पीड़ा खाय ।
 मीण जड़ बिछुड़्या णां जीवां तड़फ मर मर जाय ।
 दूड़तां वण स्याम छोड़ा मुरडियां घुण पाय ।
 मीरा रे प्रभु ड़ाड़ गिरधर बेग निडस्यो आय ।

और, मीराबाई के ऐसे पदों की तुलना चौथी और आठवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत के आलवार के प्रसिद्ध वैष्णव कवियों के गीतों के साथ की जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं कही जा सकती। ये भक्त कवि अपने को नायिका और भगवान् विष्णु को नायक के रूप में मानकर ही राधा की भावना से प्रेम-साधना करते थे। उक्त वैष्णव कवि-भक्तों की कृतियों में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का महत्त्व नहीं है, उनमें विष्णु के अवतारों की महिमा का ही सारगर्भित वर्णन है।

इन्हीं दक्षिण भारत के आलवार लोगों में कवयित्री आण्डाल हुई थी, जो मीरा की पूर्व प्रतिमूर्ति कही जाती है।

‘तिसप्पा बाई’ आण्डाल की ही रचना है, जिसमें आण्डाल एक स्थल पर सवरे सखियों के साथ जाकर बालक कृष्ण को नींद से शंख बजाकर जगाती है और चारों ओर से उनकी शय्या को घेरकर कहती है—“जिस प्रकार राजे-महाराजे नम्रभाव से तुम्हारे सिंहासन को घेरकर खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार हम सब भी गर्वहीन होकर खड़ी हैं। क्या तुम्हारे कमल-नयन हमारे गीतों से नहीं खुल सकते? तुम्हारी जिस नजर से चन्द्र-सूर्य उदित हैं, उसी दृष्टि से हमें देख लो थोड़ा भी, तो हमारे पाप कट जाएँ।”

अपने प्रियतम को देवता के रूप में वरण कर उन्हें जीवन की वनमाला अर्पित करने वाली भारतीय स्त्रियाँ तो अनेक हैं, किन्तु स्वयं देवता को अपना प्रियतम बनाकर उसे बहुमूल्य शब्द-पुष्पों के इस प्रेमगीतियार से सजाने वाली तो केवल दो ही माधुर्य-मूर्ति हैं। एक उत्तर भारत की मतवाली मीरा, दूसरी दक्षिण भारत की रंगनायिका आंढाल।

आंढाल रामनाथ जिले के प्रख्यात विल्लिपुत्तूर में ही विष्णुचित्त (पेरियालवार) के रूप में प्रकट हुई थीं। कथानुसार, पेरियालवार पूजन के लिए उपवन में नित्य फूल चुनने जाते थे। एक दिन वन में अद्भुत सुगन्ध फैली हुई थी। खोजने पर पुष्पशैया के बीच में एक सुन्दर बच्ची दिख पड़ी, जिसकी सुगन्ध से सारा उपवन महक रहा था। उसके केशों पर भ्रमर का समूह मँडरा रहा था। जन्म से ही भ्रमरों को आकृष्ट करने वाली ऐसी मंदिर, मधुर सुगंध उसके अलकों में कैसे आई! ऐसी सुन्दर बच्ची को श्री विष्णुचित्त अपने घर ले आए और उस बच्ची का नाम शुरुवार कुष कौदे (सुमनों की माला की तरह कमनीय केश वाली) रखा गया। इस बच्ची कौदे ने जब बोलना आरम्भ किया, तो सर्वप्रथम तुतलाहट-भरे स्वर में बोली—ॐ नमो नारायण नारायण, नारायण।

बचपन से ही कौदे का मन भगवान् के प्रति आकृष्ट हुआ। और वह अपने पिता के साथ भगवान् की पूजा में लगी रहती थी। पेरियालवार फूलों की मालाएँ अपने हाथ से गूँथकर भगवान् की मूर्ति को पहनाया करते थे। एक दिन इस भावुक शिशु ने यह देखना चाहा कि प्रियतम की माला तनिक में भी तो गले में डालकर देखूँ, कितनी सुन्दर लगती है मैं। और वह दर्पण के सामने खड़ी होकर मुस्करा उठी। इस प्रकार कौदे प्रतिदिन भगवान् के लिए बनाई माला स्वयं पहनकर दर्पण में देखती, मानो वह मन-ही-मन कहती—मैं कितनी सुन्दर हूँ! क्या मेरा सौन्दर्य कृष्ण को मुग्ध-मोहित नहीं कर सकता ?

फिर रंगनाय की मूर्ति के सामने जाकर खड़ी रहती और खिलखिलाकर कहती—‘अरे, ओ निर्मोही! तुझे तो उस कुब्जा का ही रूप पसन्द है, क्यों?’

किन्तु एक दिन पेरियालवार ने संयोगवश पुत्री के इस कार्य को देख लिया। देखते ही क्रोधावेश में आकर कौदे को डाँटा—क्या तुम प्रतिदिन यह माला अपने गले में डालती हो? पुजारी भी आज कह रहा था कि तुम्हारी लायी हुई माला में से केश निकला है। अतः यह माला अपवित्र होने से भगवान् को नहीं चढ़ सकती...

किन्तु उस दिन रात को स्वयं भक्त-वत्सल भगवान् ने पेरियालवार को

स्वप्न में दर्शन दिए और कहा—कौदे की पहनी हुई माला ही मुझे प्रिय है। कहते हैं कि इसके पश्चात् पेरियालवार उन्हीं मालाओं को भगवान् को पहनाते थे, जिन्हें कौदे पहन चुकी हो।

इस प्रकार कौदे को ऐसी ही चीजें पसन्द आतीं, जो प्रिय से समानता रखती हों। अतः वह अपने वस्त्राभूषण को उतारकर नीलाम्बर पहन लेती और उस नीलिमा से श्याम-मुन्दर को देखने का प्रयत्न करती। पुष्पों से अपने को अलंकृत करके अपने प्रतिबिम्ब में अपना सौन्दर्य देख पाती, जिसको नन्दनंदन पर न्योछावर करने के लिए तत्पर रहती।

मीरा की भाँति कौदे के हृदय में भी बचपन से ही भक्ति का बीज अंकुरित हो गया था। तभी से प्रियवर कृष्णचन्द्र की चकोरी बन गई थी। यौवनावस्था में पदार्पण करते ही उसकी शंशवकाल की भावनाएँ कुमुदिनी-सी विकसित और विकलित हो गयीं। और वह अपने को रसिकप्रिया राधिका मानती, माधुर्यभाव में अपने को भूलकर नृत्य तथा गान में लीन रहती और इसी तन्मयता में उनकी अनुभूतियाँ संगीत और नृत्य में पायल की भंकार-सी वायुमण्डल में विखर जातीं।

और रूपनिधि श्रीकृष्ण के प्रति यह आकर्षण दिन दुगुना, रात चौगुना बढ़ता ही जाता है, और आकर्षण आसक्ति में। इस प्रकार उनकी भाव-दशा बदल जाती है। तन से वह विष्णुचित्त पेरियालवार के उपवन में रहती है, किन्तु मन से नित्य वृन्दावन की कुंज गलियों में विचरती है। वह गोपियों के साथ रेत में घरोँदे बनाकर खेल रही है। इतने में ही कन्हैया आकर उसके घरोँदों को ढहा देते और हँसने लगते। तब भुँभलाकर आंङाल कहती है—

‘अपने कंगनधारी हाथों से बड़े यत्नपूर्वक रेत इकट्ठी कर हमने घरोँदे बनाए हैं। आँखों से हमें भेदते ही हो, इन्हें भी क्यों कुचलते-ढहाते हो, ओ, क्षीर-सागर-शयन !’

कभी वह गोपियों के साथ यमुना में स्नान करने लगती और प्रियतम कृष्ण आकर उनके वस्त्रों को उठाकर ले जाते और कुछ वस्त्र-पगे पगड़ी-सी सिर पर बाँधे, कुछ को बगल में दबाये कदम वृक्ष पर बैठ जाते। तब गोपियों की ओर से आंङाल अपनी मधुर वाणी में बोल उठती है—

‘अच्छी सीख मिली कन्हैया ! यमुना-तट पर अब कभी नहीं आयेंगी। सखी-समेत मिन्नत करती है—हमारे चीर लौटा दो !’

और कभी वह वृन्दावन की गलियन में बावरी-सी विचरती। राहों से पूछती, ‘क्या तुमने मेरे प्राणघन को इधर कहीं देखा है ? क्या किसी को मेरे कमलनयन का पता है ?’

और अपने-आप ही प्रश्नों का उत्तर देती—‘अजी, देखा क्यों नहीं ? वह

वृन्दावन में बाँसुरी बजाकर गोपियों के साथ विहार कर रहा है।'

फिर सहसा भावावेश बदल जाता है। तब न यमुना-तट है, न रेत के घरींदे, न गोपियाँ, न कन्हैया ही। आँडाल का हृदय चीत्कार कर उठता है। वह बिलख-बिलखकर रो उठती है। भाव-लोक से हृदयेस्वर कहाँ गायब हो गए ?

मुद्रतूड, पुहन्दु निन मुहम्
काहि पुनुमुखल शेम्दु
शिद्रिलोडु एङ्गल शिन्नुदंम्
शिदंक कड़वंयो गोविन्दा ?

—हमारे आँगन में मुखड़ा दिखाकर मुस्काते हो, इस रेत के घर के साथ हमारे चित्त को भी आकुल-व्याकुल कर जाने का इरादा है, गोविन्द ?

और दरद दिवानी आँडाल की प्रेम-विह्वल पिपासा की तड़पन इन मार्मिक पंक्तियों में सजीव हो उठी है :

'प्रियतम ! स्वप्न में आकर तुमने मिलने का उपक्रम किया है, उससे तो मेरे भोतर की विरहाग्नि और भी धधक उठी है। यों तड़पाने में तुम्हें कौनसा आनन्द मिलता है ? हाय, एक क्षण भी तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता, देव ! मेरे जीवनघन ! यदि मेरे प्राणों की इस आकुल तड़प से तुम्हारा कठोर हृदय तनिक भी पसीजे, तो अभी आकर मुझे अपने चरणों में स्वीकार कर लो, प्रभो !

'ओ मेरे प्राणाधार ! सीता की सुधि लेने के लिए तुमने समुद्र में पुल बँध-वाया और रावण को मारकर उसे अयोध्या लौटा लाये। शिशुपाल का वध करके रुक्मिणी को अपनी शरण में ले लिया। द्रौपदी, गज, गणिका और गोपियों की टेर सुन ली, परन्तु मेरी ही बार इतना विलम्ब क्यों कर रहे हो ? मैं जानती हूँ, मैं अपराधिनी हूँ, परन्तु जैसी भी हूँ, तुम्हारी हूँ—तुम्हीं मेरे प्राण-वल्लभ, हृदयेस्वर, जीवन-सर्वस्व और अवलम्ब हो। तुम्हें छोड़कर किसकी शरण में जाऊँ ? जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा को और चातक श्यामघन को चाहता है, वैसे ही मेरा हृदय तुम्हें देखने के लिए व्याकुल है।'

इस प्रेम-पिपासा, आकुलता का एक ही मार्ग, एक ही समाधान है—और वह है मिलन !

'आय्प्पाडिक्के एन्ने उयत्तिडुमनि'—मुझे गोकुल पहुँचा दीजिए। मेरा रहस्य मुझ तक सीमित नहीं रह गया है। वह लोक-विदित है। पर मैं लोक-मर्यादा, कुल-कानि छोड़ दूँ, इससे पहले उपाय कर दीजिए। मेरा माधव मुझे अपनी ओर खींच रहा है, मुझे बुला रहा है। मुझसे अब रहा नहीं जाता,

यौवन और सौन्दर्य-भरे-पूरे अंग-प्रत्यंग गोविन्द के संयोग के लिए छटपटा रहे हैं। 'अब मुझे द्वारिकेश के पास पहुँचा दीजिये !'

और उसे स्वप्न आया कि उसका विवाह प्रियतम कृष्ण से हो गया है। उसने इस अद्भुत स्वप्न को श्रेणिक गान में लिखा है। उसे श्रीरंगम् के भगवान् श्रीरंगनाथ ने बुलाया और वह श्रीरंगम् चली गई। वहाँ जैसे कावेरी सागर से जा मिलती है, उसी प्रकार आँडाल की दिव्य आत्मा भी सशरीर, उस परम पुरुष में विलीन हो गई। अतः उसे श्रीकृष्ण की 'सनातन प्रेयसी' के नाम से ही स्मरण किया जाता है और वह आज भी अलौकिक प्रेम के प्रतीक-सी आँडाल भगवान् रंगनाथ के पास ही खड़ी है।

इन सोलह वर्षों में आँडाल ने मधुर-रस से ओतप्रोत अमर कविताएँ रची हैं; वह 'नाच्चियार तिरुमोलि' के नाम से सुप्रसिद्ध हैं।

अन्त में आँडाल को रंगनाथ ने सदेह अपने में तिरोहित कर लिया बताया जाता है।

आँडाल का चरित्र और उसकी साधना मीरा की ही तरह है—इससे कोई इन्कार नहीं करता।

मीरा यद्यपि विभिन्न युगों के भक्त-कवियों की पृष्ठभूमि पर अवस्थित है, फिर भी सभी के बीच उनका चरित्र अलग ही अलौकिक, अकम्प दीप-शिक्षा की तरह अंकित है। उनकी प्रेम-साधना भी अलग है, सभी में उज्ज्वल—देदीप्यमान।

अब मीरा के गुरु की ओर दृष्टि डालें। बहुत लोगों की धारणा ऐसी है कि चैतन्य मीरा के गुरु थे। यह चैतन्य माघवेन्द्रपुरी के शिष्य थे और राधा-कृष्ण के अन्य उपासक। ये धर्म-प्रचार के लिए पूर्वी भारत से ब्रजघाम भी गये थे। लेकिन दोनों के काल में इतनी भिन्नता है कि दोनों का मिलन सम्भव नहीं है। यों मीरा ने ऐसे कितने भजन रचे, जो चैतन्य द्वारा निर्धारित मार्ग के आघार पर ही हैं। लेकिन, यह भी यह प्रमाणित नहीं करता कि चैतन्य मीरा के गुरु रहे होंगे। यह प्रसिद्ध है कि मीरा वृन्दावन गई और वहाँ उसे चैतन्य की परम्परा के जीव-गोस्वामी भी मिले थे, परन्तु जीव-गोस्वामी मीरा के गुरु थे—ऐसी चर्चा कहीं नहीं है। हाँ, वे नित्यानन्द की आज्ञा से वृन्दावन में निवास अवश्य करते थे।

मीरा के लिखे हुए बहुत-से ऐसे पद प्राप्त होते हैं, जिससे लगता है कि रैदासजी ही मीरा के गुरु हैं। जैसे—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।

गुरु म्हारे रैदास सरन न चित सोई ।

और, भी—

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे धुर से कल कल भी भड़ी ।
सत गुरु सैन दई जब आके जोत में जोत अड़ी ।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मीरा का जन्म १५०४ है और रैदास की मृत्यु १५१६ । यह प्रचलित है कि रैदास ने बुढ़ापे में देशाटन नहीं किया । वे बराबर काशी में ही रहे और ऐसा भी कोई प्रमाण सिद्ध नहीं करता कि मीरा काशी गई होगी । इससे कुछ लोग भ्रमवश कह देते हैं कि मीरा के गुरु रैदास नहीं हो सकते और उपर्युक्त पद मीरा के रचे हुए नहीं हैं, लेकिन ऐसा कोई प्रमाण नहीं देते जिससे मान लिया जाए कि सचमुच उक्त पद मीरा के रचे नहीं हैं । मीरा की और भी पंक्तियाँ देखिए—

खोजत फिरीं भेद वा घर को कोई करत बखानी ।
रैदास संत मिले मोहि सत गुरु दोन्ह मुरत सहदानी ।

मीरा के अनेक पदों में संत रैदास को गुरु-रूप में स्मरण किया गया है, परन्तु ऐतिहासिक मापदण्ड के आधार पर तो मीरा का गुरु रैदास को मानना संदिग्ध है, लेकिन मीरा द्वारा गाये गए पदों में जो रैदास का उल्लेख मिलता है, उससे तो स्पष्ट है कि रैदासजी ने मीराबाई की साधना को अप्रत्याशित ढंग से प्रभावित किया था । इतिहास के अनुसार भले ही मीरा-रैदास मिलन असम्भव है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि रैदास मीरा के गुरु हो ही नहीं सकते । बहुत सम्भव है कि रैदास ने मीरा को स्वप्न-दीक्षा दी हो और उसी के आधार पर मीरा ने पद-रचना भी की हो और ऐसी घटना कई भक्तों के साथ हुई, जैसे कि संत चरणदास को स्वयं शुकदेवजी ने स्वप्न में दीक्षा दी ।

दूसरा वैज्ञानिक आधार यह भी हो सकता है कि रैदास के धार्मिक अनुष्ठान और उसके मतों से प्रभावित होकर मीरा ने उन्हें गुरु मान लिया हो । उन दिनों राजस्थान में रैदास का प्रभाव छाया हुआ था । रैदास का चर्मकार का पेशा करना यह प्रमाणित करता है कि उसने पारिवारिक जीवन को कृष्ण-भक्ति में लीन होकर भी बहिष्कृत नहीं किया था और उसकी यह छाप मीरा पर भी अच्छी तरह पड़ी हो । मीरा ने भी परिवार से दूर होकर संन्यास धारण नहीं किया था । मध्यकालीन इतिहास पूर्णरूपेण प्राप्त न होने के कारण उस समय के साहित्यिक और धार्मिक विभूतियों के जीवन का इतिवृत्त प्रधान होना स्वाभाविक ही है, लेकिन उनके जीवनवृत्त-विषयक जितने भी प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके अनुसार कहा जा सकता है कि मीराबाई ने भी रैदास की भाँति पारिवारिक जीवन-निर्वाह करने की पूर्ण रूप से चेष्टा की थी । मीराबाई संन्यासिनी होकर वृन्दावन, मथुरा या द्वारिका नहीं गई थी ।

ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा साधु-सन्तों की ही सेवा में निरन्तर रत रहा करती थी और उसने साफ़ एलान ही कर रखा था—

संतन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई ।

छाँड़ दई कुल की कानि कहा करिहै कोई ।

लेकिन, मीरा का इस तरह खुले आम साधु-सन्तों से मिलना-जुलना, उनके साथ कीर्तन-भजन करना, राणा ने अपनी मर्यादा और ज्ञान के विरुद्ध समझा और मीरा को बहुत समझाया-बुझाया, लेकिन उस पर प्राणाराम हरि के माधुर्य का जो शाश्वत और अलौकिक प्रभाव छाया हुआ था उसे राणा के लौकिक मान के उपदेश कैसे उतार सकते थे ? राणा लाल सर पटकते रह गए, लेकिन मीरा का वह स्वतंत्र विचार नहीं बदला, नहीं बदला । राणा ने अन्तः-पुर के निकट ही उनके रहने के लिए कुटीर बनवा दी । मीरा उसी कुटीर में रहती और वहाँ साधु-सन्तों का काफ़िला जुटा रहता, जिनके साथ वह भजन-कीर्तन में मग्न रहती । उसके बाद राणा को उनके चरित्र पर शक हुआ और उसकी हर तरह से परीक्षा लेने लगे, लेकिन मीरा उनकी हर परीक्षा में सफल ही रही । उन दिनों मीरा का प्रभाव वैष्णव भक्तों में इतना फैला हुआ था कि किवदन्ती है कि बादशाह अकबर भी उसके प्रभाव से प्रभावित होकर अपने विश्व-विख्यात गायक तानसेन के साथ वेश बदलकर मेवाड़ रणछोड़जी के मन्दिर में मीरा से मिलने गए । यह बात बात-बात में हवा की तरह फैल गई । राणा को जब मालूम हुआ तो वे रणछोड़जी के मन्दिर को

द कराने और मीरा को मार डालने का प्रयत्न करने लगे लेकिन उससे भी मीरा का कुछ न बिगड़ा और वह पाँव में धुँधरू बाँध कर कान्त भाव की भक्ति में लीन होकर गिरधारी लाल रणछोड़जी की पीयूष-पूरित प्रतिमा के आगे थिरकती ही रही । यहाँ तक कि राणा ने उसे मारने के लिए विष का प्याला भेजा, लेकिन उसे भी वह अमृत समझकर पी गई और वह विष सचमुच ही अमृत बन गया । उसके बाद राणा ने वृक्षों की डाली में सर्प-बिच्छू लटकवा दिए, परन्तु वे भी मीरा के लिए फूल बन गए । अन्त में मीरा राणा

याचार से तंग आकर गिरधारीलाल की मूर्ति को लेकर वृन्दावन और गोकुल आदि स्थानों का भ्रमण करती हुई द्वारिकापुरी में, रणछोड़जी के मन्दिर में रहकर कान्त भाव से युक्त माधुर्य-भक्ति की सर्वश्रेष्ठ साधना करती हुई कबीर और आंडाल की तरह इस संसार के कारागार से सदेह मुक्त हो गई और रणछोड़ जी ने दर्शन देकर मीरा को सदा-सर्वदा के लिए अपने में तिरोहित कर लिया ।

मीरा चली गई—हाँ, चली गई, लेकिन उसके आत्मनिवेदन और आत्म-समर्पण के अगणित प्रोज्ज्वल पदों में उसकी वह माधुरी लिपटी ही हुई है

और लिपटी ही रहेगी ज्यों-की-त्यों अनन्त काल तक और उस मिठास से लोग प्यास बृभाते ही रहेंगे—पिपासा बढ़ती ही रहेगी । लोग सुनते ही रहेंगे और उसकी वह प्रतिध्वनि गूँजती ही रहेगी—

पग बाँध घुँघर्याँ णाच्याँ री ।

मोरा रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणाँ आश्याँ री ।

पद-सूची

(अकारादि क्रमानुसार)

- अच्छे मीठे चाख चाख (२०१)
अपन करम को छँ दोस (१८६)
अबतो निभायां सरेगी (२१)
अब नहि बिसरूँ (१०४)
मैं अब सरण तिहारी (१०)
अस पिया जाणे न दीजै (३३)
आज अनारी ले गयो सारी (१४४)
आज म्हांरो साधुजननो संग (६५)
आये आय जी म्हारो म्हाराज (१६८)
आली म्हांने लागे बृन्दावन नीको (१३०)
आली रे मेरा नैणा बाण पड़ी (३१)
आली सांबरो की दृष्टि (१३८)
आवत मोरी गलियन में गिरिधारी (१४२)
आवो मनमोहना जी जोऊं थारी बाट (१८०)
आवो मनमोहना जी मीठा थारो बोल (१८१)
आवो सहैरवा रली करौं हे (८६)
इक अरज सुनो पिया मोरी (१६४)
इण सरवरियां पाल (६३)
ऐसी लगन लगाइ कहाँ तू जासी (५६)
कबहुं मिलोगे मोहि आई रे तूँ जोगिया (५३)
कमल दल लोचना तँने कैसे नाथ्यो भुजंग (१४७)
करुणा सुणि स्याम मोरी (१७७)
करम गति टारे नाहि टरे (२०७)
किण संग खेलूँ होरो (१६३)
कुण बांचै पाती (१६०)
कैसे जीऊँ री माई (१०७)
कोई कछु कहै मन लागा (३८)

- कोई कहियो रे प्रभु आवण की (८१)
 कोई दिन याद करोगे (६१)
 कोई स्याम मनोहर ल्योरी (१४६)
 गली तो चारों बंद हुई (८८)
 गोकुला के वासी भले ही आवे (१३३)
 गोविंद कबहुँ मिले पिया मेरा (८४)
 गोविंद सूँ प्रीत करत (२१५)
 गोहने गोपाल फिहँ (१३६)
 षड़ी एक नहि आवड़े (१८२)
 चाला वाही देस प्रीतम (१२४)
 चालो अगम के देस (८७)
 चालो मन गंगा जमना तीर (१३१)
 छाड़ो लंगर मोरी बंहियाँ गहो ना (१४१)
 जग में जीवणा थोरा (२०६)
 जबसे मोहि नंद-नंदन दृष्ट पड़्यो माई (२८)
 जागो बंसीवारे ललना (१३५)
 जागो म्हांरा जगपति राइक (७५)
 जाबा दे जाबा जोमी किसका भीत (६०)
 जाबो निरमोहिया जाणी थारी प्रीत (५६)
 जोगिया जी आवो थें या देस (६६)
 जोगिया जी छाइ रह्या परदेस (६४)
 जोगिया जी निसदिन जोऊँ थारी बाट (५१)
 जोगिया ने कहज्यो जी आदेस (७०)
 जोगिया री प्रीतड़ी है दुःखडारी मूल (५८)
 जोगिया री सुरतो मन में बसी (६३)
 जोगिया से प्रीत किया दुख होइ (५७)
 जोगीम्हान दासदिया सुख होइ (६५)
 जोसीडाने लाख बचाई रे (११६)
 भुकु आई बदरिया सावन की (११८)
 डारि गयो मनमोहन फाँसी (१५६)
 तनक हरि चित्तवौ हमरी ओर (१७)
 तुम आज्यो जी रामा (८०)
 तुमरे कारन सब सुख छाड्या (१८४)
 तुम सुणो दयाल म्हांरी अरजी (१६)

- तू नागर नन्दकुमार तो सों लाग्यो नेहरा (१२७)
 तू मत गरज माई री (१०८)
 तेरो कोई नहि रोकणहार (८६)
 तेरो मरम नहि पायो रे जोगी (५२)
 थाने काई कह समभाऊ (७४)
 थाने बरज बरज में हारी (११०)
 थें तो पलक उघाड़ो दीनानाथ (८)
 दरस बिन दूखण लागे नैण (१८३)
 देखत श्याम हँसे सुदामा कूँ (२०२)
 देखो सहियाँ हरि मन काठो कियो (७६)
 घूतारा जोगी एक रसूँ हँसि बोल (६२)
 नंदनंदन बिलमाई बदरा ने घेरी माई (१४६)
 नहि ऐसो जनम बारंबार (२०८)
 नहि भावै थारो देस (६४)
 नाटो नाम का रे (१७२)
 निपट बंकट छवि अटके (२७)
 नीदलड़ी नहि आवै (१७१)
 नैणा लोभी रे (३०)
 नैनन बनज बसाऊँरी (७१)
 पग घुँघरु बाँधि मीरा नाची रे (११३)
 पतिया मैं कैसे लिखूँ (१६६)
 पपइयाँ रे पिब की बोली न बोल (१६६)
 परम सनेही राम को निति ओलूरी आवै (१५८)
 पिय बिन सूनौ छै जी म्हारो देस (१८५)
 पिया अब घर आज्यो मेरे (१७८)
 पिया इतनी विणती सुण मोरी (१७६)
 पिया जी म्हारे नैणां आगे रहज्यो जी (७३)
 पिया तेरे नाम लुभाणी हो (२४)
 पिया मोहि दरसण दीजै हो (७७)
 पिया बिन रहयो इ ना जाइ (१६१)
 प्यारे दरसण दीज्यो आइ (२३)
 प्रभुजी थें कहाँ गया नेहड़ी लगाय (१५५)
 प्रभुजी मैं अरज करूँ छूँ (११)
 प्रीतम कूँ पतिया लिखूँ (१७०)

- प्रभु बिन ना सरै माई (१६५)
 प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे (१३६)
 फागुन के दिन चार रे (१२५)
 बंदे बंदगी मत भूल (२०३)
 बड़े घर ताली लागी रे (४०)
 बदरा रे तू जल भरि ले आयी (११५)
 बरजी में काहू की ताहि रहूँ (६०)
 बसो मेरे नैनन में नंदलाल (७)
 बादल देखि भरी हो स्याम (१६८)
 बाल्हा में बैरागिण हूँगी (१२६)
 भई हीं बाबरी सुनके बांमुरी (१४३)
 भज मन चरण कमल अबिनासी (२०६)
 भर मारी रे बानां मेरे सतगुरु (४३)
 भुवनपति तुम घर आज्यो हो (१७६)
 भोजि म्हांरो दामन चीर (८२)
 मतबारो बादर आए रे (१६७)
 मनुला जनम पदारथ पायो (२१०)
 मन रे परसि हरि के चरण (४)
 म्हांने चाकर राखो जी (२२)
 माई मोरो मोहने मन हरयो (१४०)
 माई म्हांने सुपने में परण गया जगदीस (१०६)
 माई म्हारी हरि हूँ न बूझी बात (१५७)
 माई री मैं तो लियो गोविन्दो मोल (३६)
 मिलता जाज्यो हो गुरुग्यानी (४८)
 मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ (३)
 मीरा भगन भई हरि के गुण गाय (१११)
 मीरा मन मानी सूरत सेल असमानी (४७)
 मीरा लाग्यो रंग हरी (६६)
 मुझ अबलाने माटी निरांत धई (११२)
 मेरे तो गिरधर गोपाल (१)
 मेरे तो एक राम नाम (२)
 मेरे प्रीतम प्यारे (८३)
 मेरो मन बसि गयो गिरधर लाल सों (२०)
 मेरो मन रामहि राम रटै रे (२०५)

- मेरे मन रामनामा बसी (२१४)
 मेरो मन लाग्यो हरि सूं (६७)
 मैं अपने सैयां संग साँची (३७)
 मैं गिरधर रंग राती (३६)
 मैं गोबिन्द गुण गास्यां (१०२)
 मैं जाण्यो नहिं प्रभु को मिलण कैसे होइ रे (१५४)
 मैं तो गिरधर के घर जाऊँ (३५)
 मैं तो थारी सरण पड़ी रे रामा (६)
 मैं तो म्हारा रमैयाने देखबो कन्हें री (३२)
 म्हें तो राजी भई मेरे मन में (१२३)
 मैं तो गाँबरे के रंग रात्री (३४)
 मैंने नामरतन धन पायी (४४)
 मैं बिरहिणि बँठी जागीं (१६२)
 मैं हरि बिन क्युं जीऊँ री माइ (१६४)
 मोहि लागि लगन गुरु चरणन की (४१)
 म्हाना गुरु गोबिन्द री (१०६)
 म्हारो भोलगिया घर आया जी (१२२)
 म्हारा सतगुरु बेगा आज्या जी (४६)
 म्हारी सुध ज्युं जानो त्युं लीज (१५२)
 म्हारे घर आज्यो प्रीतम प्यारा (७८)
 म्हारे घर रमतो ही आई रे (६८)
 म्हारे घर होता जाज्यो राज (१५३)
 म्हारे नैणां आगे रहो जजी (२५)
 म्हारो जनम मरण को साथी (१२६)
 यहि विधि भगति कैसे होइ (२१२)
 या ब्रज में कछु देख्यो री टोना (१४५)
 या मोहन के मैं रूप लुभानी (२६)
 यो तो रंग घत्तां लय्यो ए भाय (१०१)
 रंगभरी रंगभरी रंग सू भरी री (११४)
 रथां बैल जुताय (१०५)
 रमइया बिन यो जिबड़ो दुल पावै (२१३)
 रमइया बिन नींद न आवै (१६६)
 रमइया बिन रहो इ न जाय (१५६)

विषय-प्रवेश

नित्य निरंजन, निर्विकल्प, अकल, अनीह, अशक्त ब्रह्म की भावना मनुष्य ने व्यक्त, सगुण ईश्वर के रूप में की, परन्तु उसका जी न भरा, हृदय न जुड़ाया। वैदिक युग में विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुणादि देवताओं की उपासना में केवल 'भय' (Terror) और आश्चर्य (Wonder) ही प्रेरक-शक्ति का काम कर रहा था और भगवान् के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य-गुणों में केवल शक्ति की ही स्वीकृति मानव ने की थी। भगवान् और मनुष्य के बीच यह भयमूलक, आश्चर्य-परक सम्बन्ध कितने दिन चल सकता? पग-पग पर हम डर रहे थे कि कहीं हमने भूल की कि चट उधर से प्रतिकार का खड्ग चला। प्रायः सभी देवताओं की उपासना इसलिए होती थी कि कहीं वे असन्तुष्ट होकर हमारा कोई अनिष्ट न कर बैठें। इस भावना में हृदय की कोमल वृत्तियों को आलम्बन मिलना तो सर्वथा असंभव ही था। इन्द्र द्वेष की साक्षात् मूर्ति थे। यज्ञ में विष्णु उपस्थित करना तथा तपोनिष्ठ योगियों को अप्सराओं द्वारा तपोभ्रष्ट एवं योगस्खलित करना—यही उनका काम था। जहाँ हम भय से बराबर काँपते ही रहे वहाँ हम प्रेम कैसे करते? जो वस्तु शुद्ध स्नेह का पात्र नहीं वह उपासना के लिए कैसे ली जा सकती? जो ईश्वर हमारे पिता, माता, स्वामी, सुहृद, सखा, पुत्र अथवा भर्ता के रूप में न हुआ वह हमारे हृदय के सिंहासन पर कैसे बैठ पाता?

ज्ञानाधिकरण उपनिषदों ने भी ब्रह्म और आत्मा की एकता स्थापित करते हुए उपासना के लिए कुछ व्यक्त प्रतीकों को ग्रहण किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोषों में से होती हुई आत्मा ब्रह्मानन्द की परम भावना में तल्लीन हो जाती है। रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्शादि से परे रहता हुआ भी 'बह' इनमें ओत-प्रोत है। यही नहीं है, इसमें 'भी' है—यही भावना उपनिषदों की है। ज्ञान की यही चरम सीमा है जहाँ अनुभूति की पराकाष्ठा और संवेदन की तीव्रता में वाणी मौन हो जाती है, हृदय रसमग्न हो जाता है। 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा। ज्ञान का यह पथ जन-साधारण के लिए एक प्रकार बन्द-सा ही था। यह 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयोर्वदन्ति'—छुरे की धारा की तरह तेज है—पग-पग पर भय बना हुआ रहता है, ऐसी ही भावना

हमारी बनी रही, क्योंकि इस मार्ग में 'बटमारों' की कोई इति ही नहीं है। अस्तु, ज्ञानयोग की साधना में सोझ की अखण्ड तैलधारावत वृत्ति हमारी कल्पना की वस्तु बनी रही। क्रमशः साधना का साधारणीकरण होता चला, उपासना का सुगम एवं सर्वसुलभ पथ खोजा जाने लगा। जहाँ हमारी रागात्मिका वृत्तियों के प्रश्रय एवं प्रसार का भी समुचित अवसर मिल सके, साथ-ही-साथ हमारे मानसिक उन्नयन तथा आध्यात्मिक विकास का भी। रूप रस की अमर लालसा एवं जन्म-जन्मान्तर की साथ में प्रेम-साधना का भूखा-प्यासा मानव, मात्र प्रेम के लिए तड़पता हुआ हृदय अपने प्रेम का एक आश्रय खोज रहा था, आधार ढूँढ़ रहा था। ईश्वर को पाने और पकड़ने का हमारा यह प्रयास कितना अतुर, कितना सार्विक, कितना निश्चल था! माना कि उत्तर काल के नारायणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, रामतापनी उपनिषद् आदि ग्रंथों में व्यक्त उपासना की ही विशेष पुष्टि हुई, परन्तु शुद्ध ज्ञानमार्ग के भीतर वासुदेव, नारायण, राम और कृष्ण भी हमारे देवकी-पुत्र, राधिका-बल्लभ, गोपी-जीवन, कौशल्यानन्दन न होकर ब्रह्म के ही व्यक्त रूप में ग्रहण किये गए और अन्त में ब्रह्म ही में उनका लय हो गया। इसीलिए उपनिषदों में विमल भक्ति का लहलहाता हुआ रूप पूरी तरह निखरकर ही हमारे सामने नहीं आ पाया।

बौद्ध-धर्म की मूल भावना ज्ञान-वैराग्य-प्रधान तथा निवृत्ति-मूलक थी। 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं मिथ्या' का स्वर उसमें मुख्य था। अतएव उपासना के पीछे का उसमें पनपने का अवकाश न था। इसके अभाव में धीरे-धीरे उसके अनुयायी वैराग्य के मार्ग से भी च्युत हो चले। ज्ञान के दुरत्यय मार्ग में कुछ चुने हुए लोग चल सकते हैं। जनसाधारण के लिए यह मार्ग न कभी प्रगस्त हुआ और न हो ही सकता है। बुद्धिजीवी अपने हृदय को टिकाये रखने का कोई आधार न पाकर पुनः वहीं लौट आये जहाँ से चले थे। कहने के लिए तो बौद्ध-धर्म के ह्रास एवं भारतवर्ष से उसके उन्मूलन का मुख्य कारण इसकी वेद-विमुखता एवं नास्तिकता ही मानी जा सकती है, परन्तु ज्ञानसाधनों से विमुख 'भिक्षुओं' ने बौद्ध-विहारों और मठों को कामवासना का लीलास्थल बना दिया था और वे साधना के नाम पर तंत्र-मंत्र, रसायन, हठयोग और अष्ट सिद्धियों के जंजाल में वेहद उलभ गये थे। वस्तुतः बौद्ध धर्म के अधःपतन एवं उन्मूलन का मुख्य कारण यही हुआ। तत्त्व-ज्ञान के स्थान पर जब बच्चकता आ जाती है तो धर्म की आत्मा खोखली हो जाती है और कुछ ही समय में वह धर्म अपना अस्तित्व और प्रभाव खो बैठता है। बौद्ध धर्म का उद्भव, विकास एवं अन्ततः दुःखद ह्रास के मनो-वैज्ञानिक कारणों में उसकी नैतिकता के प्रति अनास्था एवं साधना में आध्यात्मिकता एवं उच्चादर्श का अभाव ही माना जाएगा—और यह तथ्य साधना

के आध्यात्मिक पथ के पथिकों के लिए चिरस्मरणीय बना रहेगा—आँखों में उँगली डालकर समझाने वाला तथ्य ।

जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्यजी ने मृतप्राय हिन्दू जाति को ज्ञान की धूँटी फिर एक बार पिलाई । साधना की चरम सीमा ब्रह्मात्मैक्य स्वीकार करते हुए तथा तत्त्वतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि' को ज्ञान का परम एवं चरम साध्य मानते हुए भी स्वामी शंकराचार्य ने जिव, विष्णु, वासुदेव आदि देवताओं की परब्रह्म-रूप में उपासना स्वीकार की, जैसे उनके रचे हुए हृदयहारी स्तोत्रों से प्रकट होता है ।

स्वामी रामानुज का विशिष्टाद्वैत भी अद्वैतोन्मुखी था । उसमें भी ब्रह्मवाद की अंतिम लहरों की हलचल स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी । इस विशिष्टाद्वैत में मानव-हृदय की साधना-वृत्ति को कुछ सहारा तो अवश्य मिला और भगवान् के साथ हम हृदयपूर्वक दास्यभाव में बँध तो अवश्य गए, परन्तु अन्तरतम की वृत्तियाँ प्यासी ही रह गईं । हृदय की भूख तो कुछ अवश्य मिटी, परन्तु प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही । 'प्रपत्ति' या शरणागति का आधार वस्तुतः बहुत बड़ा आधार था । पर भक्ति ज्ञान में लीन हो जाने-वाली ही कही गई, साधन-मात्र ही समझी गई; स्वयं भक्ति ही अपना लक्ष्य अथवा साध्य न हुई ।

स्वामी रामानुज के शिष्य स्वामी रामानंदजी ने श्री सीताराम की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया और महामंत्र 'ॐ रामाय नमः' तथा 'रामनाम' को पुनः प्रतिष्ठापित किया । इन्हीं की शिष्य-परम्परा में कबीर, रैदास, पीपा आदि निर्गुणिये भक्त हुए । भगवान् राम की उपासना में दास्य एवं वात्सल्यभाव की ही विशेष परितुष्टि हो सकती है, अतः यहाँ सौंदर्य की अपेक्षा शील एवं शक्ति ने ही हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया । राम में हमने अपना दृष्ट तो पा लिया, परन्तु राम केवल प्रेम के ही पात्र न थे । उनकी शक्ति के सामने हम सिर नवाते थे । राम हमसे सटे हुए भी हमसे इतने ऊँचे हैं कि हमारा मस्तक उनके चरणों में अड़ा एवं भक्ति से झुक जाता है; केवल प्यार ही करें, उन्हें कसकर हृदय से लगा लें, अपने प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लें—ऐसा नहीं होता ।

राम का 'रामत्व' रावण के 'रावणत्व' के विरोध में; शबरी, अहल्या, गणिका, गिद्ध आदि के तारने में; मुग्धीव विभीषण, हनुमान आदि की स्नेह-मैत्री में तथा कैकेयी के प्रति अड़ा और स्नेह का भाव रखने में ही अधिक प्रफुल्लित हुआ है । जनकपुर की फुलवारी में 'भयेउ विलोचन चारु अचंचल' के चित्र को कितने भटके से हटा लिया गया है ! बन जाते समय राम के रूप पर ग्राम-वधुओं के हृदय लुटाने का मनोरम दृश्य भी कितने

संयम के साथ दवा दिया गया है! रूप-रस के प्यासे मानव-हृदय की रसनिष्पत्ति में कितना बड़ा भटका इन दृश्यों से लगता है! हम लुभाए-से, टकटकी बाँधे राम के इस मधुर रूप की ओर देखने ही लगते हैं, उस परम छवि को आँखों के वातायन से हृदय के मन्दिर में पूरी तरह ला भी नहीं पाते कि राम अपने कर्तव्य के कठोर पथ में चल देते हैं; उनका वह सुन्दर रूप हमारी ललचाई आँखों से ओझल हो जाता है, और हमारे 'कहो साँवरो सो सखि रावरो को है?' का कोई उत्तर नहीं मिलता। हरिदर्शन की प्यासी आँखें तड़फड़ाकर रह जाती हैं। लोक-मर्यादा, संयम, साधुओं के परित्राण एवं दुष्कृतों के विनाश की भावना ही राम में पूर्णतः प्रतिष्ठापित हुई है; पावन ही मंगल है, श्रेय ही प्रेय है, कर्तव्य ही प्रेम है—यही राम के लोकोत्तर चरित्र का आदर्श है। हम राम के सेवक तो हो जाते हैं, परन्तु स्वामी का चरित्र इतना उन्नत, इतना पावन एवं उच्च है कि सखा होने के लिए हमारा हृदय प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। जीवन का एक बहुत बड़ा अभाव रह ही जाता है। भगवान् राम का चरणामृत तो हमें प्राप्त हो जाता है, परन्तु भक्त का प्रेमी हृदय तो भगवान् के अधरामृत के लिये व्याकुल था;—वह अपने स्वामी को केवल स्वामी के रूप में ही पाकर कैसे सन्तुष्ट होता? वह तो उसे अपनी दोनों भुजाओं में बाँधकर उसका अधरामृत पान करना चाहता था। इस प्रकार, जी की कलक बनी ही रही।

दास्य में 'दूरत्व' एवं संभ्रम का जो भाव हमारे भीतर घर किये हुए है उसको कुछ प्रवाह मिलना अनिवार्य था। मुख्यतः, वाल्मल्य एवं माधुर्य भाव में दूरत्व का क्रमशः लोप हो जाता है; यहाँ तक कि परम भाव में तो 'दो का एक' तथा 'एक ही का दो' स्पष्टतः स्थापित हो जाता है। इस प्रकार, हृदय की सभी वृत्तियों के रमने का पूरा-पूरा अवकाश एवं क्षेत्र कृष्ण में मिला। तुष्टि तथा अभिलाषा के सभी उपादान कृष्ण में विद्यमान हैं। वील और शक्ति की पराकाष्ठा दिखाते हुए भी सौंदर्य की ही ओर हमारा ध्यान विशेष खिंचा। यशोदा के आँगन में किलकारियाँ छोड़ते हुए, 'धुटुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए'—रूप पर सहज ही हमारा हृदय निष्ठा-वर हो गया। अवस्था बढ़ती है और अवस्था के साथ नटखटी भी। गोपवृन्द को छेड़ते, गोचारण में सजल-श्यामल मेघों के पीछे दौड़ते, सखाओं से दाँव लेते, वंशी की तान पर स्वयं नाचते तथा गोपियों को नाचते हुए कृष्ण का वह मोहक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो विश्व में सचमुच अद्वितीय है, एकदम निराला है।

वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, हित हरिवंश तथा चैतन्य को इसी मधुर मनोहर

श्यामल किशोर त्रिभुवनमोहन रूप ने आकृष्ट किया, जिसकी प्रेमदार्शनिकता को जयदेव और विद्यापति तथा चण्डीदास ने अपने प्रणय-गीतों में परम भाव की माधुर्य-रति को अंकित किया। श्री चैतन्यदेव ने प्रेम का जो स्रोत बहाया, जयदेव तथा विद्यापति और चंडीदास ने अपने प्रेमोन्मादपूर्ण सुललित गीतों में जिसे गाया, वही दिव्य प्रेम-संगीति-धारा नवद्वीप से मिथिला की अमराइयों में होती हुई ब्रज में अपने प्राण-वल्लभ की सुमधुर भाँकी से अनुप्राणित होकर राजस्थान में पहुँची। गीति-काव्य का यह प्रवाह सर्वथा निराला है। प्रेम और आनन्द का यह उमड़ता हुआ, उछलता हुआ स्रोत मीरा के हृदय में जा मिला। मीरा ने प्रेम के पथ में सर्वात्म-समर्पण कर श्री गिरिधर गोपाल को अपना प्राण-वल्लभ प्रियतम पति मानकर, अपने जीवन को, अपने जीवन की सभी आकांक्षा एवं अभिलाषा को श्रीकृष्णापण कर दिया। 'पिया की सेज' सूली के ऊपर होते हुए भी वह 'महामिलन' के आनंदमधु को छककर पी सकी और अपने प्राणप्यारे को पिला भी सकी।

परम भाव की इस परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेम-तत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है और इसी हेतु भगवान् श्रीकृष्ण का यह मोहक रूप मानव-हृदय को अनादि काल से आकृष्ट करता आया है। मेरे परम श्रद्धेय गुरुदेव परम वैष्णव साधु श्रीकृष्णप्रेमजी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अग्रेजी विभाग के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर रोनाल्ड निक्सन) ने भी अपने जीवन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वभावेन समर्पित करते हुए कविवर कीट्स (Keats) के शब्दों में कुछ परिवर्तन कर अपनी प्रेम-भावना की अनन्यता को बड़े ही सुन्दर अथवा मधुर शब्दों में व्यक्त किया है—

"Krishna is God, God Krishna, that is all

Ye know on earth and all ye need to know."

अर्थात् कृष्ण ही भगवान् हैं और भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण हैं—इतना ही हम जानते हैं और इतना ही जानने की आवश्यकता भी है।

शरद्-ज्योत्स्ना से पुलकित मधु-यामिनी में जब समस्त चर-अचर, इस मधु-वर्षा में आनन्दविभोर थे, समीर मन्थर गति से धीरे-धीरे बह रहा था, यमुना-तट पर खड़े होकर, ललित त्रिभंगी वेश में मदनमोहन श्याममुन्दर श्रीकृष्ण अपनी मुरली की टेर से सहल-सहल गोपियों को आकृष्ट करते हैं। 'नाम समेत कृत संकेतं वादयते मृदु वेणुम्' गोपियाँ जो जैसी हैं वैसी ही मुरली की जादू-भरी ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए विह्वल होकर दौड़ती हैं। जड़ और चेतन को पागल बना देनेवाली रहस्यमयी, संकेत-भरी शरद् की चाँदनी छिटकी हुई है। ज्योत्स्ना-प्लावित अर्धरात्रि में यमुना के संकेत-पुलिन पर रास का समारोह होता है। बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है;

चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक 'गोपी' के साथ कृष्ण । परम भाव का उत्कृष्ट, उत्फुल्ल मधु-मदिर मादक लास्य ! !

×

×

×

हम भागते जा रहे हैं, 'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है । हम आवरण में रहना ही पसन्द करते हैं, 'वह' हमें अनावृत कर छोड़ने पर ही तुला हुआ है । आखिर, उसकी ही हठ की जीत होती है और अन्त में 'वह' हमारे आवरण को हटाकर ही चैन लेता है । यही 'बीरहरण' है । ठीक इसी भाव को परम भावुक आत्मदर्शी अंग्रेज कवि टाम्पसन (Francis Thompson) ने अपनी सुविख्यात कविता 'स्वर्ग के अहेरी' (Hound of Heaven) में व्यक्त किया है—'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है—हम भागते जा रहे हैं, 'उस' के चरणों की चाप स्पष्ट सुनाई पड़ रही है—

*'I fled Him down the nights
and down the days*

I fled Him down the arch of Time'

परन्तु अंत में 'वह' हमें 'अस' लेता है और बोल उठता है—

'Ah ! fondest, blindest, weakest

I am He whom thou seekest

Thou drivest love from thee who drivest Me'.

अरे ओ भोले मानव ! तू कहाँ भागा जा रहा है ? मैं अब तुझे छोड़ने का नहीं । अरे ओ पागल, ओ अन्धे, ओ दुबल प्राणी ! मैं बही हूँ जिसे तू खोज रहा था—मुझसे अब भागकर तू कहाँ जायेगा ? मैं तुझे अपनाकर ही चैन लूँगा, आत्मसात् कर लूँगा । जितना हम 'उस' के लिए व्याकुल नहीं हैं उतना व्याकुल 'वह' है हमारे लिए । भय हमें यह है कि 'उसे' पाकर हमारा 'अहं' रह कहाँ सकेगा; हम अपने 'मैं' को कैसे बनाये रख सकेंगे ? परन्तु 'वह' तो हमारे हृदय का बन्दी बनने के लिए व्याकुल है । उसकी इस तीव्र उत्सुकता की कोई सीमा नहीं । जिसने उसे पाने की तनिक भी चेष्टा की, आतुर विह्वल हृदय से एक बार भी प्रेमपूर्वक उसे पुकारा कि वह उसके हाथ आ गया ! हमारा उसका अनन्त और अविच्छिन्न मिलन हो रहा है । प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया में 'वह' और 'मैं' मिल रहे हैं । यह पृथ्वी, ये असंख्य नक्षत्र यह अनन्त सागर, ये दिशाएँ हमारे इस 'महामिलन' की साक्षी हैं । अब हम 'उसे' जाने भी कैसे दें ?

"I have caught Thee by my hand

I will not let Thee go"

मैंने तुझे अब पकड़ लिया है—अब तुझे जाने न दूँगा । हमारे इस महा-मिलन का माधुर्य विरह में अत्यधिक प्रस्फुटित एवं उच्छ्वसित हो उठता है

प्रतिपल विरह की उद्दीपना में हमारा हृदय अपने 'प्राणाराम' के लिए ग्रहं भरता है, तूफान में समुद्र की भांति । ग्रहों के उस सघन कुंज के भीतर प्रेम की अलहड़ मृगछीनी उल्लसित साधों पर चौकड़ी भरती रहती है । यह विरह ही प्रेम की संजीवनी है । रास की फाँस में गोपियों को डालकर, मिलनमाधुरी का कूकुम राधा के हृदय पर छिड़ककर नटवर छोड़कर चले गए । गोपियाँ तड़पती रह गईं, राधा कुहूंकती रह गईं । वह 'निटुर' न लौटा— न लौटा ! 'जोग' की श्राँधी लाकर उद्धव ने धुंधुआती विरह-ज्वाला को धबका दिया । प्रेम की वंशी में गोपियों के हृदय को उलझाने की यह निष्ठुर क्रीड़ा ! विरह की यह आनन्ददायी ज्वाला ही, वेदना का यह उद्दीप्त शृंगार ही भक्तों की साधना का प्राण है जिसमें अहनिश जलते-तपते हुए भी वे इससे बाहर आना नहीं चाहते ।

“हे री में तो दरद-दिवाणी,
 मोरा दरद न जाणे कोय
 सूली ऊपर सेज पियाँ की
 मिलणो किस बिध होय ?”

शृङ्गार के मनोभाव

सुनु सखि पिउ मँह जिउ बसे,
जिउ मँह बसे कि पीउ ?

—कबीर

“Love is ever young, and it ever renews itself in fresh rosy colours; and hence Sree Krishna is the Eternal Masculine and Sree Radha is the Eternal Feminine in the enjoyment of Eternal Youth.”

—विजयकृष्ण गोस्वामी

शृङ्गार विश्व का आदि-रस है। सृष्टि का विकास शृङ्गार का विलास-मात्र है। ब्रह्म की ‘एकोऽहं बहुस्याम्’ की अतृप्त पिपासा के अन्तस् में शृङ्गार का ही मधु छलका है। वाणी एवं मन से अप्राप्य उस ‘परम रूप’ को स्वयं अपनी छवि की परछाईं देखने की उत्कण्ठा जगी और प्रकृति का महारास प्रारम्भ हुआ, विश्व का रंगमंच नाच उठा। आदि-पुरुष की यह आदि-वासना ही सृष्टि का मूल कारण है। ‘एक’ से ‘बहु’ हो जाने की वही वासना चर-अचर जीवमात्र में किलक रही है। मानव-हृदय की ही नहीं, सभी जीवधारियों की यह एक अव्यक्त, अतृप्त लालसा है। अपने अधूरेपन का अनुभव करते हुए वह अपने अभाव की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। इस अभाव की पूर्ति नाना रूपों से करने की चेष्टा होती है। मुधांशु अपने रूप-लावण्य की पराकाष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डाबाँडोल कर देता है, आन्दोलित, उद्वेलित कर डालता है। पूर्णिमा की अर्द्ध-रात्रि में समुद्र के अन्तःस्तल में जो हलचल उठती है, जो तूफान खड़ा होता है, चन्द्र-किरणों को झूमकर चाँद को अपने हृदय के हृदय में बन्द कर लेने की जो तीव्र उत्कण्ठा उस विक्षुब्ध समुद्र के अतल हृदयतल में व्याप्त है, वह अखिल चराचर की मूल वासना का एक चिरन्तन प्रतीक एवं प्रमाण है।

‘तद्यथा प्रियया स्त्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्धा अस्य एतदाप्तकामं आप्तकामं अकामं रूपम्। बृहदारण्यक ४. ३. २६।

जिस प्रकार पत्नी के प्रगाढ परिरम्भण में पति अपनी बाह्य और

आन्तरिक संज्ञा खो देता है, उसी प्रकार परम प्रियतम परमात्मा के आलिंगन-रस को पाकर आत्मा अपने-आपको खो बैठती है।

बाल-उषा की कोमल अरुण किरणें कमल का द्वार खोल देती हैं। मलयानिल सारी वसुंधरा में एक विचित्र उन्माद उड़ेलता हुआ समस्त जीवधारियों के हृदय में एक गहरी व्यथा की टीस जगा जाता है और कोकिला के आग-भरे मीठे गीत में विश्व-वेदना अपना संगीत छेड़ देती है। मंजरियों से भुकी हुई अमराइयों एवं फूलों से लदी हुई लता-वल्लरियों में मधुमास के नीरव संगीत को कौन नहीं सुनता ? कोकिला की प्रथम कूक में उसके आग-भरे, दर्द-भरे दिल की अतुल व्यथा में वसुधा का अभाव-भरा शृङ्गार परिलक्षित हो रहा है।

जहाँ देखों तहाँ एक ही साजन का दीदार।

बार-बार देखकर भी जी नहीं भरता, हृदय नहीं अघाता। आँखें जितनी देखती हैं उतनी ही और देखने की इच्छा बढ़ती जाती है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं

तदेव शश्वन्मनसा महोत्सवम्।

एक अपरिचित 'अतिथि' के लिए अलहड़ शकुन्तला के हृदय में 'अनुराग' उत्पन्न हो जाना प्रकृति की आदिम वासना की सजीव साध है। कण्व के आश्रम में अपनी सहेलियों के साथ शकुन्तला पाँधों के आलवालों में जल डाल रही है। आश्रम में वृद्ध मुनि कण्व के अतिरिक्त माता गौतमी एवं दो सखियाँ, प्रियंवदा तथा अनसूया हैं। संयम के कठोर परिवेष्टन में शकुन्तला का सहज-अज्ञात यौवन मर्यादा की चादर ओढ़े अँगड़ाई ले रहा है। उस अज्ञात यौवन की पावन अथवा मादक सुरभि से समस्त वातावरण मँह-मँह करता है। तपोवन के उस पवित्र वातावरण में भी साधना के कठोर नियमन के भीतर लावण्य की ललित लीला अलक्ष्य रूप में लक्षित हो रही है। बेणी में मूँधे हुए फूलों की सुरभि तथा रूप-माधुरी के आकर्षण से एक डीठ भौंरा शकुन्तला का पीछा कर रहा है। उसके आघात से रक्षा करने के बहाने आश्रम-भृग का पीछा करते हुए मृगया-विहारी दुष्यन्त आश्रम की उस एक-मात्र अबोध 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' हरिणी पर अपने विषय-बुझे बाण छोड़ता है। शकुन्तला का सरल निश्चल हृदय इस अचानक आघात के लिए तैयार नहीं था। वह इस डीठ 'भौरे' से अपने को बचाने में सर्वथा असमर्थ थी। दुष्यन्त के बाण सीधे शकुन्तला के हृदय में प्रवेश कर गए। चिर-संचित साधना एवं संयम का बाँध सहसा एक भटके में टूट गया। दुर्वास का अभिशाप तो ऋषि-कन्या की अनन्य साधना एवं अखंड प्रेम तथा निःशेष आत्मसमर्पण को और भी अधिक तेजोमय, दीप्ति-

मय कर देता है। लोक-संग्रह की दृष्टि ने शकुन्तला का यह ऐकान्तिक प्रेम एवं तरजन्य स्खलन भले ही 'अशिष्ट' कहा जाए, परन्तु आश्रम की एकमात्र शृङ्गार उस भोली कन्या के दर्द-भरे, चोट-खाये हृदय की व्यथा को सहानुभूति एवं सहृदयता से देखनेवालों को तो अग्निशर्मा दुर्वासा पर क्रोध आए बिना न रहेगा। क्रोध की मूर्ति उस तपस्वी ब्राह्मण को क्या पता कि प्रेम की मीठी श्रांच कैसी होती है और उसमें तड़पते हुए हृदय की कैसी एकान्त तन्मयता होती है, कैसी मीठी बेचैनी होती है। यह तो वही जान सकता है, जिसने प्रेम के बाण को प्यार में नहलाकर अपने हृदय में छिपा लिया है और जो अपने इस 'धाव' को हरा बनाये रखने के लिए ही आत्मसमर्पण की चिर-स्निग्ध आराधना में, प्राणधन की सुन्दर सुमधुर स्मृति में अपने-आपको सर्वथा मिटा देता है, निःशेष कर देता है। क्रोधावतार दुर्वासा इस आशा में थे कि आश्रम-कन्या सदा की भाँति उठकर उनका स्वागत-सत्कार करेगी, परन्तु वह तो आज अपने प्राणधन की मधुर स्मृति में वेहोश थी, उसे क्या पता था कि दुर्वासा कहां आये, कहाँ गये।

जाके लगे सोई पं जाने प्रेम-वान अनियारो ।

मिथिलेश-नन्दिनी सीता सखियों के साथ पार्वतीजी की पूजा करने के हेतु जनकपुर की फुलवारी में जाती हैं। राम भी पूजा के लिए पुष्प लाने गये हैं। बार-बार सीता की आँखें राम की अतुल छवि की ओर आकृष्ट हो जाती हैं; 'भयेउ बिलोचन चारु अचञ्चल'। निनिमेष नेत्रों से वह एकटक राम की ओर देखने लगती है। 'प्रीति पुरातन' का स्मरण हो आता है, और वह सारी सुघ-बुध खो देती है। रोमांच, वैवर्ध एवं प्रस्वेद तो फिर स्वाभाविक ही हैं, और वह अपने अन्तःस्तल की एकमात्र साध जगज्जननी पार्वती के चरणों में किस संकेत-भरी भाषा में व्यक्त कर रही हैं —

मोर मनोरथ जानहुँ नीके, असह सदा उरपुर सब ही के ।

करील-कुञ्जों की सधन छाया के नीचे राधा के पाँव पलोदते हुए तथा 'देहि मे पदश्ललबमुदारम्' की याचना करते हुए रसिकशेखर श्रीकृष्ण को हमने बहुधा देखा है। हमने उन्हें 'राधे, राधे' की टेर लगाते कुंज-कुंज भरमते-भटकते देखा है और राधारानी के न मिलने पर आँसुओं की जमुना बहाते भी देखा है, परन्तु वही प्रेमी जब अपनी प्राणाधिका राधिका को पाकर अपने-आप पर गन्त हो जाता है और सहसा वंशीनिनाद के आवाहन एवं परस्पर प्रणय-संलाप के अनन्तर अन्तर्धान हो जाता है तो उस राधारानी और सहस्र-सहस्र गोप-कुमारियों के हृदय की अतृप्त लालसा उन कुंजों में आग बिखेरने लगती है।

नदी जैसे स्वाभाविक ही समुद्र की ओर दौड़ती है, वैसे ही जीव-जीव के

हृदय में आनन्द-लिप्सा भी प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। समुद्र जैसे आनन्दोन्मत्त हो नदी में प्रविष्ट होकर नदी को भी तरंगपूर्ण और आनन्दमय कर देता है, वैसे ही 'वे' आनन्दसिन्धु भी करते हैं। निजानन्द सम्भोग लिये 'उन' की स्पृहा का कभी अन्त नहीं होता। उनके पुकारने का न आदि है न अन्त। वे सभी समय सबको बुला रहे हैं। जिस प्रकार पति-पत्नी की भाषा मधुर होने के साथ अस्फुट होती है, उसी प्रकार प्रेमी और प्रियतम का परस्पर-संलाप भी अस्फुट और मधुर होता है।

मूर्ख लोगों ने मजनुं से नादानी से पूछा कि लैला में क्या सुन्दरता है, वह तो कुछ भी सुन्दर नहीं है, काली-कलूटी है। उससे उत्तम लाखों प्रेमिकाएँ शहर में चाँद के समान सुन्दर और हाव-भाव में उससे सर्वथा श्रेष्ठ हैं। तुम इन सबमें से जिसको चाहो चुन लो। मजनुं ने उत्तर दिया कि सूरत तो एक पात्र है और यौवन उसमें भरी हुई सुरा। ईश्वर मुझको उसी के प्याले से सुरा का पान कराता है—तुम लोग पात्र को देखते हो परन्तु वह सुरा तुम्हें नहीं दिखाई देती। प्रणय—जिसे 'आध्यात्मिक परिणय' कह सकते हैं, स्थूल दृष्टि से देखने-जानने-समझने की चीज नहीं है, इसे तो वही जानता है जो 'भुक्तभोगी' है और जिसके हृदय की आँखें खुली हैं।

भग्न-मनोरथा महासती पार्वती ने मन्मथमथन भगवान् महादेव को पंचशर-मदन एवं असमय वसंत के विविध उपकरणों से जीतना चाहा था। वसन्त ऋतु के समय न मालूम किस नैसर्गिक नियम के अनुसार सभी नर-नारियों के हृदय में, प्राण में आनन्दोल्लास का एक प्रबल वेग आ उपस्थित होता है। उस समय विश्व-प्रकृति के अन्दर भी इस आनन्द की उत्तेजना दिखाई देती है। समस्त दिशाएँ निर्मल एवं स्निग्ध मलय-सभीर के हिलोर से नरनारियों के हृत्पिण्ड के ताल-ताल में उनके मन को भी नचाने लगती हैं। एक अनिर्वचनीय आनन्द से उन्हें मतवाला कर देती है। शाखा-प्रशाखा में नवीन मंजरी, वृक्षावलियों में नूतन किसलय, नवकुसुम कलिकाओं की शोभा और उसके साथ-साथ सुगन्ध का संचार प्राणों में एक अपूर्व स्पन्दन की जागृति करा देता है—मानो किसी के साथ मिलने की, किसी का अंग-संग प्राप्त करने की आकांक्षा से समस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमी और प्रेमिका की चित्त-कलियाँ किसी के संकेत से मानो विकसित हो उठती हैं, कोई मानो उसका बिलकुल अपना-सा है जिसे पाने की आशा में चित्त उन्मत्त हो उठता है। अकाल वसन्त के आगमन से भँवरा और भँवरी एक ही कुसुम-पात्र में मधु-पान करने लगे, कुष्णसार मृग अपने सींग से अपनी प्रणयिनी हरिणी का शरीर खूजलाने लगा और वह स्पर्श-सुख में विभोर हो गई।

सब के हृदय मदन अभिलाखा
 लता निहारि नर्वाह तरसाखा ।
 नदी उमंगि अंबुधि कहें धाई
 संगम कहाँहि तलाब तलाई ॥

बालक मदन शिव को विचलित तो कर सका, पर स्वयं भग्नीभूत हो गया। उसके पदचात् पार्वती ने जो घोर तपश्चर्या की, वही शृङ्गार के मनो-भाव का सहज रूप है। वह कहती है—

महादेव अचगुन सदन विष्णु सकल गुन धाम ।
 जेहि के मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम ॥

उसके मन में 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चाकृता'—सौन्दर्य वह जो प्यारे को रिभा सके—रम गया था। वह अपने इष्ट-साधन की आराधना में अपने-आपको सर्वतोभाव से समर्पित कर देती है। फिर सन्तर्पियों द्वारा जो उसके प्रेम की परीक्षा ली गई है वह तो मनुष्य-जाति का स्त्री-जाति के प्रति सहज आशंका एवं अविश्वास का दयनीय दृष्टान्त है। 'कुमारसंभव' में स्वयं महादेव पार्वती की परीक्षा के लिए एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के छद्मवेश में आये हैं। नारी सदैव अपने प्राणधन की होकर रही है, जन्म-जन्मान्तर से वह उसी 'एक' का साधारण लेकर जन्म और मृत्यु के द्वार लाधती चली आई है, परन्तु कुटिल मानव उसके इस सर्वात्म निःशेष आत्मदान के दिव्य सौन्दर्य को अब तक भी नहीं समझ सका; अब तक भी वह समर्पित नारी को पूर्णतः, एकान्ततः अपना नहीं सका और युग-युग की नारी-साधना पर अब भी पुरुष ने अविश्वास एवं आशंका की काली चादर डाल रखी है।

प्यार का मधु पिलाकर प्रणय के प्रगाढ़ परिदम्भक का रसास्वाद लेकर दुष्यन्त शकुन्तला को तो भूल गया और अपने राज-पाट में मदमत्त हो गया, परन्तु शकुन्तला अपने अधरों पर के उस हृदयहीन के स्नेह-चुम्बनों के दाग को कैसे मिटा पाती? उन्हें मिटाकर वह कहाँ जाती, कैसे जीती? और तो और, वह उस प्रणय-मिलन की उद्दाम वासना का पूर्णतः शिकार हो चुकी थी। वह आपन्नसत्त्वा, आसन्नप्रसवा हो चुकी थी और इसीलिए राज्योन्माद में प्रमत्त दुष्यन्त के तीव्र प्रत्याख्यान की चोट खाकर वह निराश नहीं होती, साधना से विमुख नहीं होती, अपने को विस्मृत नहीं कर बैठती अपितु, अभिशाप की तपोमय ज्वाला में जलती हुई वह मरीचि के आश्रम में दुष्यन्त की प्रीति-प्राप्ति के लिए आराधना करती है। अकारण लाङ्घिता होकर भी निर्वासिता सीता वाल्मीकि के आश्रम में अपने हृदय-धन की 'मूर्ति' को हृदय में अर्हनिश पूजती रहती है। राम को तो लोक-मर्यादा का भार निभाना था, परन्तु अकारण लाङ्घिता होकर जंगलों में 'दोहद' का मनोरंजन कराने के अभिप्राय से उस सती

को लक्ष्मण द्वारा छोड़ आने का भीषण कलंक मानव-जाति का एक ऐसा कलंक है जिसे 'ह्वाइटवाश' किया नहीं जा सकता। वह लांछन, वह कलंक मनुष्य-जाति पर सदा के लिए बज्रलेप-सा लगा हुआ है। रास की फाँस में गोपियों को डालकर लीलामय कृष्ण ने कुब्जा से स्नेह जोड़ा और बेचारे उद्वव गोपियों को 'जोग' की सीख देने की व्यर्थ चेष्टा करते रहे। उन विरहिणी गोपियों के आँसुओं से आज भी हमारा व्रज आर्द्र है। उनके आँसू आज तक नहीं पृच्छ पाए।

हम समस्त प्राणी उसी विरहिणी राधा के रूप में हैं जिसे कभी एक क्षण के लिए प्राणवल्लभ कृष्ण ने रास का आनन्द दिया और अनेक प्रकार से अपना लीला-कुतूहल पूरा किया; परन्तु अब वे हमें 'नग्न' छोड़कर चले गये हैं। हमारे हृदय में बंशी की टेर, नूपुरों की रुनभुन, कालिन्दी-कूल एवं करीलकुंज तथा वंशीवट अभी भी व्याप्त हैं। रह-रहकर हमारा मन न जाने कैसा-कैसा करने लगता है। हम सभी उस एक 'कृष्ण' के विरह में क्षुब्ध एवं कातर हैं, वही हमारे हृदय की निधि एवं प्राणों का सर्वस्व है। मीरा के उद्दों में कृष्ण के सिवा अन्य कोई पुरुष है ही नहीं। हम सभी इन विरहिणी गोपियों के रूप में, तपःपरायणा अर्पणा पार्वती एवं अभिशप्त शकुन्तला के रूप में अपने प्राणवल्लभ की खोज में 'अभिसार' कर रहे हैं। आत्मा का यह कृष्णाभिसार ही शृङ्गार का प्राण है जब हम अन्तस् के प्रकाश में उसके पथ में चल पड़ते हैं—

*In that happy night,
In secret, seen of none,
Seeing nought myself
Without other light or guide
Save that which in my heart was burning
O guiding night,
O night more lovely than the dawn,
O night that hast united
The lover with her Beloved
And changed her into Love!*

यही प्रणयी के साथ प्रणयधन प्रियतम का एकान्त मधुर-मिलन है। इस मिलन से उस प्रियतम की शोभा और भी बढ़ जाती है। यदि प्रेमी नहीं होता, यदि ये प्रणय-तपस्विनियाँ नहीं होतीं, यदि इनके प्राणों में अभिसार की इतनी चाह न होती तो उस अपार आनन्द का सम्भोग कौन करता? इसी आनन्द-मधु में छककर प्रेमी और प्राणधन दोनों बेसुध हैं—कोई किसी से कुद्ध प्रद्वन नहीं करता—

I will draw near to thee in silence and uncover thy feet that it may

please thee to unite me to Thyself. Make myself thy bride and I will rejoice in nothing till I am in thy arms.

विश्व के अणु-अणु में उसी की मधुर छवि छलक रही है। परन्तु हम उसे सर्वांगरूपेण पाना चाहते हैं। उसके बिना हमारा जीवन अचूरा है, अपूर्ण है, नीरस है, अकारथ है। उसे पाए बिना हमें क्षण-भर भी कल नहीं; हम अरुणां-शुकवसना उषा, नीलनभ में अँगड़ाई लेती हुई संध्या, तारों के गजरे पहनी निशा का मुस्निग्ध रूप-लावण्य देखते हैं और हमारे हृदय में ये सभी हमारे प्रियतम के मधुर-मिलन की स्मृति उद्दीप्त करते हैं, उत्कंठा जगाते हैं। एक-एक अणु-परमाणु में मिलन की मधुर लीला हो रही है। यह सब-कुछ हमारे प्राणधन के प्रणय में शराबोर है। इसी से तो यह जगत् इतना सुन्दर है। इसी से इस आकाश और समुद्र में इतना आनन्द उमड़ रहा है। इसी से शैल-सलिल और अनल-अनिल में उस परम प्रेमी के रूप और आनन्द का बाजार लग रहा है।

“मधुरं मधुरं बपुरस्य बिभो—

मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।”

मधुर-रस का स्वरूप और उसकी व्यापकता

मधुर-रस के सम्बन्ध में उपनिषदों में यत्र-तत्र संकेत रूप में उल्लेख मिलता है। पुराणों में श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में इसका बड़ा ही भव्य एवं दिव्य वर्णन है और यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि श्रीमद्भागवत, पञ्चपुराण और ब्रह्मवैवर्त ही मधुर-रस के आकर ग्रन्थों में मुख्य एवं शिरोमणि हैं। बृहद् गौतमीय तंत्र, ब्रह्म-संहिता, सम्मोहन तंत्र आदि ग्रंथों में भी इस तत्त्व की विशद् व्याख्या है। कतिपय अन्य संहिताओं में भी मधुर-रस की विवृति है; परन्तु भक्ति का जैसा सांगोपांग मार्मिक, वैज्ञानिक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गौड़ीय वैष्णवों ने इसका पुंखानुपुंख विचार किया है। अस्तु, यहाँ श्रीरूपगोरवामी के 'हरिभक्ति-रसामृत-सिधु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' के आघार पर मधुर-रस के सात्त्विक स्वरूप एवं रहस्य का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन—यह जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन है। इसमें गूढ़ तत्त्व यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपर्यय धर्म को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् आदर्श जहाँ सर्वोत्तम होता है, प्रतिफलन सर्वाधम; आदर्श जहाँ अत्यन्त निम्नकोटि का होता है, प्रतिफलन अत्यन्त उच्चकोटि का। दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब उलटा पड़ता है, वही दशा यहाँ भी है। चिज्जगत् का परम दिव्य अपूर्व रस जड़ जगत् में विपर्यस्त होकर स्थूल रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः परम तत्त्व रस रूप है। उसकी अद्भुत विविधता है। इस जगत् में उसकी जो परछाई है, उसी का अवलम्बन करके आगे बढ़ा जाए तो उस अतीन्द्रिय रस का अनुभव हो सकता है।^१

चिज्जगत् के रस और जड़ जगत् के व्यापार—चिज्जगत् के अत्यन्त निम्न भाग में है शान्त-रस, उसके ऊपर दास्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर वात्सल्य-रस और सबसे ऊपर है मधुर-रस। इस जड़ जगत् में विपर्यस्त प्रतिफलन के द्वारा मधुर-रस सबसे नीचे है। उसके ऊपर है वात्सल्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर दास्य-रस और सबसे ऊपर शान्त-रस। दिव्य मधुर-रस की जो स्थिति और क्रिया है, वह इस जड़ जगत् में नितान्त तुच्छ और लज्जास्पद है। चिज्जगत् में पुरुष और प्रकृति का सम्मेलन अत्यन्त पवित्र एवं तत्त्वमूलक है। चिज्जगत् में एकमात्र भगवान् ही भोक्ता है। शेष समस्त

चित्सत्त्वगण प्रकृति रूप में उनके भोग्य हैं। इस जड़ जगत् में कोई जीव भोक्ता है और कोई भोग्या। इस प्रकार मूल तत्त्व के विरोध में यह सारा व्यापार लज्जाजनक एवं घृणास्पद हो जाता है। तत्त्वतः जीव जीव का भोक्ता हो नहीं सकता। समस्त जीव भोग्य हैं, एकमात्र भगवान् ही भोक्ता हैं। कहीं जीव-जीव का उपभोग और कहीं भगवात् और जीव का उपभोग ! परन्तु इस हेय के भीतर से भी एक अत्यन्त उपादेय तत्त्व उपलब्ध हो जाता है। कैसे, इसका विवेचन आगे करेंगे।

मधुर-रस का आश्रय और विषय—भगवान् ही मधुर-रस के विषय हैं और उनकी बल्लभाएँ इस रस का आश्रय हैं। दोनों मिलकर रस के आलम्बन हैं। मधुर-रस के विषय भगवान् हैं परम सुन्दर, परम मधुर, नवजलघर-वर्ण, सर्व-सल्लक्षणयुक्त, बलिष्ठ, नवयौवनशाली, प्रियभाषी, विदग्ध, कृतज्ञ, प्रेमवश्य, रमणीजन-मनोहारी, नित्य-नूतन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्यशाली, प्रियतम, बंशीवादन-शील श्रीकृष्ण। उनके चरणों की नखद्युति कोटि-कोटि कन्दर्पों का दण्ड चूर्ण कर देती है और उनके कटाक्ष से सबका चित्त विमोहित हो जाता है।

नायक-चूड़ामणि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ जो लीला-विलास है, वही है मधुर-रस की आत्मा। इसका स्थायी भाव है दोनों की प्रियता या मधुरा रति^१ जो दोनों को दोनों से संयोग की प्रेरणा देती रहती है। युक्त विभावों-अनुभवों आदि के द्वारा जब यह रति भक्तों के हृदय में रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचती है, तब इसे भक्ति-रसराज 'मधुर-रस' कहते हैं।^२ कृष्ण का कान्तत्वेन स्फुरण ही मुख्यतः इस रस का आधार है, पर कान्त को दोनों ही भाव में लिया जा सकता है—पति-रूप में, उपपति-रूप में। शृंगार रस का तो उपपति-रूप में ही परमोत्कर्ष माना जाता है। शृंगार का चिद्व्यापार एक रहस्यमणि की माला की तरह है तो उसमें परकीय मधुर-रस को उस मणिमाला में कौस्तुभ विशेष मानना चाहिये। जैसे शान्त से दास्य में, दास्य से सख्य में, सख्य से वात्सल्य में और वात्सल्य से मधुर में इसका अधिकाधिक उत्कर्ष होता चला जाता है, उसी प्रकार स्वकीय की अपेक्षा परकीय में रस अपने चरमोत्कर्ष

१. मिथो हरेमृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम् ।

मधुरापरपर्याया प्रियतात्थोदिता रतिः ॥

—उज्ज्वल नीलमणि ।

श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला श्रेष्ठ है

—दे० जीव गोत्वाभी का 'प्रीति सन्दर्भ', पृ० ७०४-१५ ।

२. स्वाद्यंता हृदि भक्तानां आनीता ।

—उ० नी० म० ।

पर आ जाता है।^१

परकीया भाव की रसात्मक उत्कृष्टता—श्रीकृष्ण का अवतार ही रसास्वादन के लिए हुआ।^२ परकीया या तो कन्यका हो सकती है या प्रीड़ा। लोकदृष्ट्या यह भाव गार्हित हो सकता है, पर यह परकीया-भाव ही वैष्णवों का परमादर्श हुआ और इसी का आधार लेकर आत्माएँ अपने-आपको सर्वभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रही हैं।^३ श्रीकृष्ण के इसी भाव को लेकर वैष्णव शास्त्रों ने द्वारका में उन्हें पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर तथा ब्रज में पूर्णतम माना है। नायक-नायिका परस्पर अत्यन्त 'पर' होकर जब राग की तीव्रता द्वारा मिलते हैं, तब एक अद्भुत आनन्द-रस का संचार होता है; यही है परकीय रस। गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम अपनी सघनता, प्रच्छन्न कामना तथा विवाह के अव्यक्तत्व के कारण ही परकीया भाव की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ।

नित्य गोलोक और नित्य चिन्मयी लीला—यह लक्ष्य करने की बात है कि श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला नित्य है। उस नित्य गोलोक की नित्य चिन्मयी लीला में कृष्ण-कृपा से दिव्य देह से प्रवेश का विषय आगे यथास्थान आयेगा। यहाँ इतना ही निवेदन करना अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण त्रिपाद-विभूति चिज्जगत् हैं और जड़ जगत् में एक-पाद-विभूति है। एक-पाद-विभूति चतुर्दश

१. अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।—उ० नी० म०।

परकीया भाव के सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि 'यन्तः गोकुले स्वीयापि चित्रावि शङ्कुया परकीया इव।' जीव गोस्वामी ने अपने 'प्रोति-सन्दर्भ' (पृ० ६७६-८६) में विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ विहार 'प्राकृत काम' नहीं है, प्रत्युत शुद्ध प्रेम है और प्रकट लीला में ही स्वकीय-परकीय का प्रदन उठता है। 'वस्तुतः परम स्वीयापि प्रकटलीलायां परकीयामानाः श्री ब्रजदेव्यः।'।

२. न कृष्णे रसनिर्यासस्वादाय अवतारिणि।—उ० नी० म०।

'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' में जीव गोस्वामी ने ब्रजलीला की रहस्यमय परम दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि मथुरा और द्वारका की गोपियाँ श्रीकृष्ण की 'स्वरूपा शक्ति' हैं। गोपियों का परकीया भाव वस्तुतः है नहीं, वह प्रकट वृन्दावन-लीला में आभास मात्र है। इतना ही नहीं, उनका कहना है कि ब्रज-मुन्दरियों का कभी अपने पतियों के साथ संगम हुआ ही नहीं। 'न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।—उज्ज्वल नीलमणि

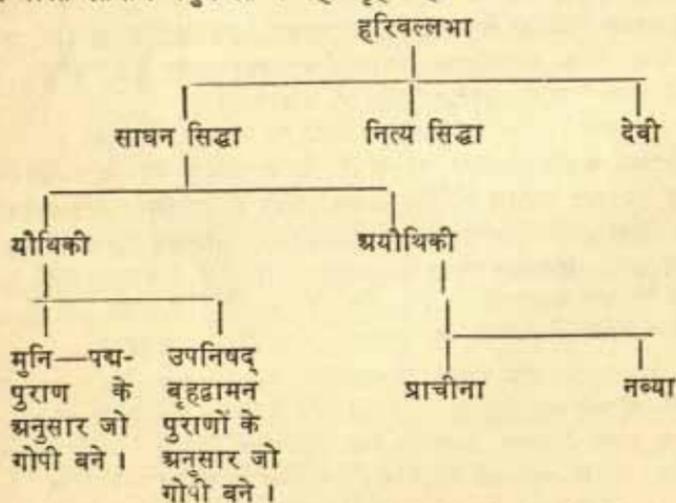
3. Even if orthodox Poetics deprecates love to a married woman, she is according to Vaisnava's idea, the highest type of heroine and forms the central theme of the later Parakiya doctrine of the school in which the love of the mistress for her lover becomes the universally accepted symbol of the soul's passionate devotion to God.

—S. K. De : Vaisnava Faiths & Movements, p. 54

लोकात्मक मायिक विश्व है। मायिक विद्व एवं चिज्जगत् के बीच 'विरजा' नदी है और विरजा के पार है चिज्जगत्। ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम इस चिज्जगत् को वेष्टन प्रकार की तरह घेरे हुए है। उसे भेद करने पर परव्योम संब्योम रूप बैकुण्ठ दीक्षता है। बैकुण्ठ प्रबल है। यहाँ के राजराजेश्वर हैं अनन्त-चिद्विभूति-परिसेवित नारायण। बैकुण्ठ है भगवान् का स्वकीय रस। श्री, भू आदि शक्तिगण स्वकीय स्त्री रूप में उनकी सेवा उस लोक में करती रहती हैं। बैकुण्ठ के ऊपर है गोलोक। बैकुण्ठ में स्वकीया पुर-वनितागण यथास्थान सेवा में तत्पर रहती हैं और गोलोक में ब्रज-वनितागण निज रस में कृष्ण-सेवा करती रहती हैं।

ब्रजसुन्दरियों के प्रकार-भेद—इन ब्रजवनिताओं के कई भेद हैं और इनका प्रकार-भेद काव्यशास्त्र के अनुसार किया गया है—स्वकीया और परकीया। इनमें से प्रत्येक के तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। इनमें 'मान' के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के भेद हैं—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। नायक के साथ इनके सम्बन्ध के आधार पर पुनः इनके आठ भेद हैं—१. अभिसारिका, २. वासकसज्जा, ३. उत्कण्ठिता, ४. खंडिता, ५. विप्रलब्धा, ६. कलहान्तरिता, ७. प्रोषितभृत् का और ८. स्वाधीनभृत् का। नायक के प्रति प्रेम के आधार पर पुनः उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा—ये तीन भेद हैं।

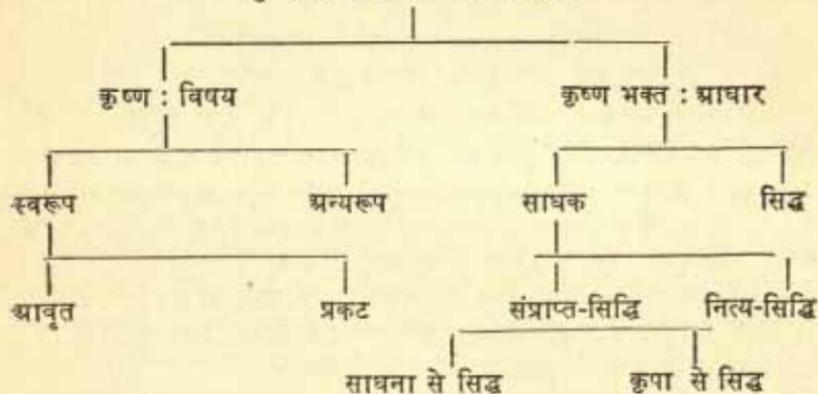
सखी-भेद—यह तो हुआ सामान्य शास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन; परन्तु भक्तिशास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन सर्वथैव नूतन और भक्ति-रसराज मधुर-रस में वही गृहीत है—



नित्यसिद्धाओं में श्री राधा वृन्दावनेश्वरी, श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी, परम प्रियतमा ह्लादिनी महाशक्ति हैं। राधा की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं—सखी, नित्यसखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम प्रेष्ठ सखी।

ब्रज-रस—यह एक बात ध्यान में रहे कि कोटि-कोटि मुक्त पुरुषों में एक भगवद्भक्त दुर्लभ है। जो लोग अष्टाङ्ग योग या ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति पा जाते हैं, वे ब्रह्मधाम में ही आत्मानुभूति का आनन्द लेते रहते हैं। जो भगवान् के ऐश्वर्यपरायण भक्त हैं, वे लोग भी गोलोक में नहीं जाते। वे वैकुण्ठ में अपने भावानुसार भगवान् की ऐश्वर्य-मूर्ति की सेवा करते रहते हैं। जो लोग ब्रजरस से भगवान् का भजन करते हैं, वे ही गोलोक देख पाते हैं। गोलोक में शुद्ध चित् प्रतीति है। गोलोक स्वप्रकाश वस्तु है। भक्तों के हृदय में गोलोक प्रकाशित होता है।

कृष्ण-भक्ति के आलम्बन-विभाव



नायक भेद—नायक के चार भेद—१. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ और ४. घृष्ट। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत।

सहायक भेद—नायक के सहायकों के पाँच भेद हैं—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्दक और प्रियनर्मसखा। दूती के दो प्रकार—स्वयं औरै आप्त। विभिन्न चेष्टाओं और संकेतों से, जैसे भ्रू-विलास, अधर-रंजन आदि द्वारा जो नायक को नायिका की ओर आकृष्ट करती है, वही स्वयं दूती है। आप्त दूती वह है, जो नायक का पत्र आदि ले जाती है। उनके तीन-तीन भेद हैं—अमितार्थी, विसृष्टार्थी और पत्र-हारिका। इनमें शिल्पकारी, दैवज्ञा, लिंगिनी, परिचारिका, घात्रेयी, सखी, वनदेवी आदि कई भेद हैं। संकेत वाच्य भी हो सकता है, व्यंग्य भी; साक्षात् भी हो सकता है अथवा व्यसंशेन भी।

परकीया में रस की उत्कृष्टता क्यों?—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में पति भाव से और ब्रजपुरी में उपपति भाव से लीला करते हैं। सकल ब्रजवासिनी ललनाएँ ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया हैं। कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर-रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता। थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है। स्त्रियों

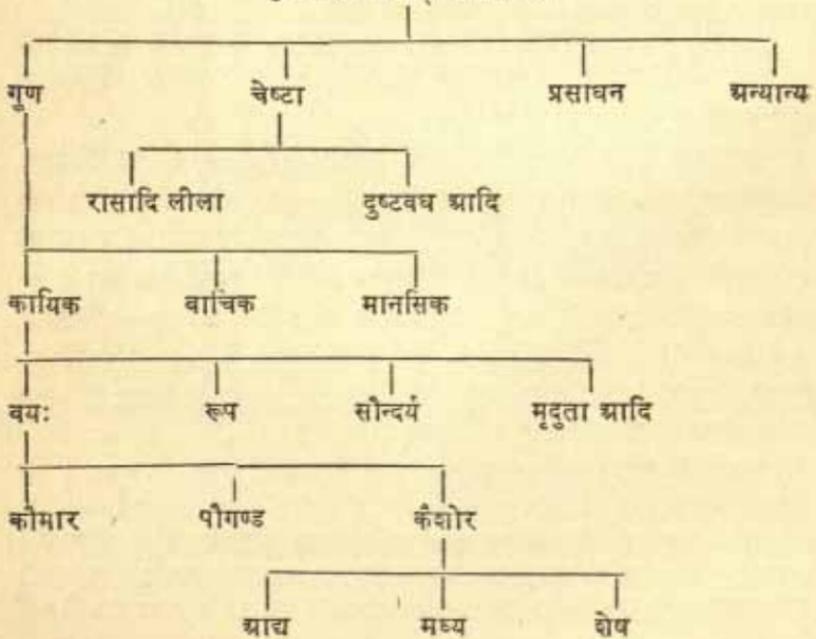
में जो वामता, दुर्लभता, निबन्धन, निवारणादि प्रतिबन्धकता है, वही है कन्दर्प का परम आयुध । जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है, वही नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है । नन्दनन्दन श्रीकृष्ण गोप हैं । वे गोपी के सिवा किसी से रमण करते नहीं । गोपीगण जिस भाव से श्रीकृष्ण का भजन-सेवन करती थीं, शृंगार-रसाधिकारी साधक भी उसी भाव से कृष्ण का भजन करते हैं । भावनामार्ग से अपने को ब्रजवासी मानकर किसी सौभाग्यवती ब्रजवासिनी की परिचारिका भाव से उसके निर्देश पर राधा-कृष्ण की सेवा करने का विधान है । अपने को परोड़ा जाने बिना रसोदय होगा नहीं । यह परोड़ाभिमान ही ब्रजगोपीत्व धर्म है । श्री रूप गोस्वामी लिखते हैं—

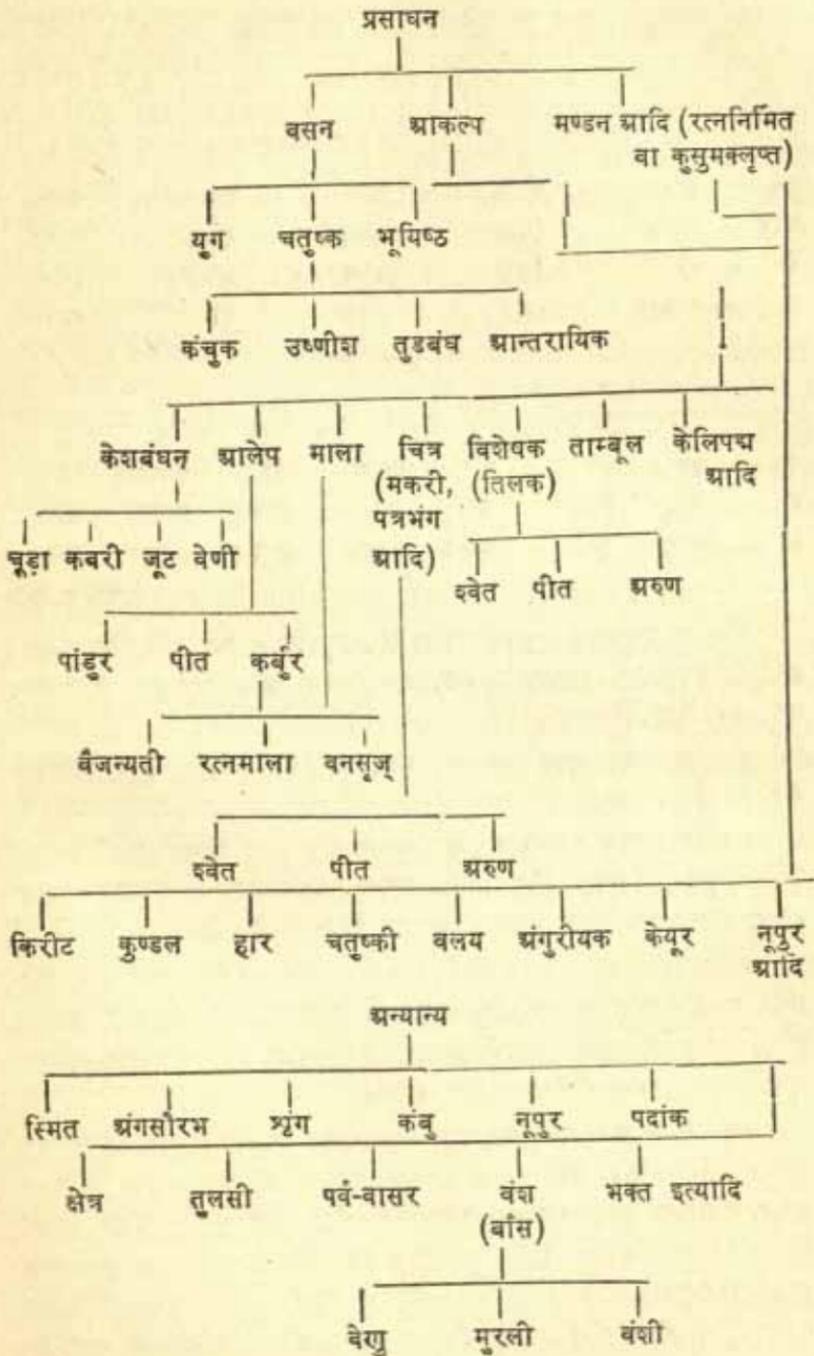
मायाकल्पित तादृक् स्त्री शीलनेनानसूयुभिः ।

न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः ।

ब्रजवासी भाव—परन्तु यह प्रश्न उठता है कि पुरुष साधक अपने को 'परोड़ा' किस प्रकार माने ? पुरुष इस 'परोड़ाभिमान' को कैसे सिद्ध कर सकेगा ? उत्तर यह है कि पुरुष मायिक स्वभाववशतः ही संसार में अपने को पुरुष समझता है । शुद्ध चित्स्वभाव में कृष्ण के अतिरिक्त यावत् जीवमात्र स्त्री हैं । चिद्गठन में वस्तुतः स्त्री-पुरुष चिह्न है नहीं, इसलिए कोई भी ब्रजवासिनी होने का अधिकार साभ कर सकता है । जिन्हें मधुर-रस की स्पृहा है, उन्हें तो ब्रजवासिनी होना ही पड़ेगा । स्पृहा के अनुरूप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है ।

कृष्ण-रति के उद्दीपन-विभाव





मुख्य भक्तिरस के रंग आदि

मुख्य भक्ति रस

रस—	शान्त	प्रीति	प्रेयस्	वात्सल्य	मधुर
भाव—	शान्त	विरवस्त	मित्रता	स्नेह	प्रियता
रंग—	श्वेत	चित्र	अरुण	शोण	श्याम
देवता—	कपिल	माधव	उपेन्द्र	नृसिंह	कृष्ण

गौण भक्ति-रस

रस—	हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	वीभत्स
रंग—	पांडुर	पिङ्गल	गौर	धूम्र	रक्त	काला	नील
देवता—	बलराम	कूर्म	कल्कि	राघव	भागव	वाराह	मत्स्य

अथवा बुद्ध

रति के अनुभाव—कृष्ण रति के अनुभाव—नृत्य, विलुठित, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुंकार, जूंभन, श्वासभूयन, लौकानपेक्षिता, लालास्रव, अट्टहास, घूर्णा, हिकका ।

अष्ट सात्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपयुः, वैवर्ष्यं, अत्रु, प्रलय ।

स्थायी भाव—काव्यशास्त्र के अनुसार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद, परन्तु भक्ति-शास्त्र के अनुसार शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ।

व्यभिचारी भाव ३३—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, शीघ्रा, अवहिल्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति, बोध ।

उद्दीपन विभाव की विशेषता—ऊपर हम उद्दीपन-विभाव का विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। उद्दीपन में तटस्थ वस्तुओं में वसन्तागमन, कोकिल-कूजन, मेघमाला का चिर आना, चन्द्रदर्शन आदि मुख्य हैं। कायिक सौन्दर्य में रूप, लावण्य, मादंभ आदि मुख्य हैं। यौवन की तीन अवस्थाएँ हैं—नव्य, व्यक्त और पूर्ण। श्रीकृष्ण का नाम, चरित, लीला, उदाहरणार्थ वंशीवादन, गोदोहन, गोवर्धन-धारण आदि, विशेष रूप से उद्दीपन विभाव में आते हैं।

वृन्दावन, इसके वृक्ष, नदियाँ, कुंजें, गुल्मलता, पुष्प, पक्षी, पशु आदि भी प्रेम को उद्दीप्त करते हैं।

अनुभावों की विशेषता—अनुभावों का विवरण भी ऊपर की तालिका में आ गया है। उसमें बाईस अलंकार, सात उद्भास्वर और तीन अङ्गज हैं। अङ्गज अनुभावों में भाव, हाव, हेला और स्वभावज में लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित आदि मुख्य हैं। 'लीला' का अर्थ है प्रियतम के चरित्र का क्रीडामय अनुकरण; 'विलास' का अर्थ है क्रीडा के संकेत; 'विच्छित्ति' का अर्थ है अलंकरण और 'मोट्टायित' का अर्थ है इच्छा का स्पष्ट उल्लेख। ये सब तो काव्यशास्त्र की परम्परा में भी हैं, पर सात उद्भास्वर सर्वथा नये हैं—वे हैं नीवीविस्त्रंसन, उत्तरीय-स्खलन, जूँभा—जमुहाई लेना, केशसंखन इत्यादि। ये वस्तुतः विलास और मोट्टायित के अन्तर्गत आ जाते हैं। द्वादश वाचिक अनुभावों में हैं आलाप, विलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश।

अष्टसात्विक भाव तो काव्यशास्त्र की तरह ज्यों-के-त्यों यहाँ भी हैं, परन्तु उनकी चार अवस्थाएँ हैं—धूमयित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त।

मधुरा रति के भेद (नायिका की दृष्टि से)—नायिका की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद हैं—(१) साधारणी, आत्मतर्पणकतात्पर्या—जिसमें अपनी ही तृप्ति मुख्य है—जैसे कुब्जा। यह प्रेमावस्था तक जाती है। (२) समंजसा—उभयनिष्ठारति—जिसमें अपना सुख और कृष्ण का सुख समान रूप से अपेक्षित है—जैसे रुक्मिणी। यह अनुराग अवस्था तक जाती है। (३) समर्था केवल कृष्णार्थ—जैसे गोपियाँ। यह महाभाव अवस्था तक जाती है।

मधुरा रति के भेद (भावों के अनुसार)—(१) प्रेम—प्रेम का अर्थ है भावबन्धन। यही है रति का अमर बीज और उन्कृष्टता की दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—प्रीड़, मध्य और मन्द। (२) स्नेह—यह प्रेम की विकसित एवं उन्नत अवस्था है। शब्द सुनकर, रूप देखकर या स्मृति में हृदय द्रवित होता है क्योंकि 'हृदय-द्रावण' इसका मुख्य लक्षण है। इसमें भी उन्कृष्टता की दृष्टि से तीन भेद हैं—श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। इस स्नेह के दो मुख्य भेद हैं—

घृत स्नेह और मधु स्नेह—(क) घृत स्नेह—अखण्ड घृतघारावत, उत्कंठा—घृत की तरह तरल भी, घना भी। रति का उदय।

(ख) मधु स्नेह—अखंड और मधुर। रति स्थिर हो जाती है।

(३) मान—अर्थात् प्रेमातिरेक की अवस्था में उपेक्षा का अभिनय। इसके दो भेद—उदात्त (घृतस्नेहवत्) और ललित (मधुस्नेहवत्)।

(४) प्रणय—विश्रंभ—इसके मुख्य दो भेद (१) मैत्र और (२) सख्य । उदारा और ललित के सम्पर्क में इन दोनों प्रकार के प्रणय के फिर दो भेद होते हैं—सुमैत्र और सुसख्य । विकास-क्रम में इसकी गति होती है—

प्रणय के भेद तथा विकास-क्रम— स्नेह प्रणय मान
अथवा
स्नेह मान प्रणय

राग और उसके भेद—(५) राग—शृंगार में दुःख का सुख में बदलना । इसके दो रंग माने गए हैं—(१) नीलिमा या (२) रक्तिमा । नीलिमा के फिर दो भेद—(१) नील राग—जिसका रंग न बदले और अव्यक्त हो या श्याम राग—धीरे-धीरे पूर्णता को प्राप्त होनेवाला और जरा-जरा प्रकाशित । रक्तिम राग के भी दो भेद—कुसुम राग—हल्के रंग का—जो जल्दी दूसरे राग में घुल जाए और दूसरे रागों को अभिव्यक्त करे या मंजिष्ठ राग—स्थायी और स्वतन्त्र ।

(६) अनुराग—नित्य नूतन प्रेम । इसके कई स्तर हैं—(१) परवशीभाव आत्मसमर्पण और (२) प्रेमवैचित्य-विरह की स्नेहमयी आसंका, (३) अप्राणि-जन्म—प्यारे के स्पर्श पाने के लिए निर्जीव वस्तुओं के रूप में जन्म लेने की आकांक्षा और (४) विप्रलंभ-विस्फूर्ति-विरह में प्रिय की भलक ।

(७) भाव या महा भाव—(१) रुढ़—जहाँ सात्विकों की परम उद्दीप्त स्थिति हो गई है । संभोग या विप्रलंभ दोनों ही अवस्थाओं में (क) निमिष मात्र का भी विरह असह्य हो जाता है (ख) आसन्न जनता के हृदय को विलोडित करने की शक्ति होती है, (ग) एक क्षण कल्प की तरह और एक कल्प क्षण की भांति हो जाता है, (घ) प्रियतम की सुख-अवस्था में भी आति-शंका के कारण खिन्नता और (ङ) मोह, मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्म-विस्मरण ।

(२) अधिरूढ़—उपर्युक्त रुढ़ भाव की विशेष उत्कर्ष-दशा । इसके दो प्रकार (क) मोदन-सात्विकों का अत्यंत उद्दीप्त सौष्टव जो केवल राधा वर्ग में मिलता है । इसी का और विकसित रूप है (ख) मादन—सात्विकों का सुद्दीप्त सौष्टव—प्रिया के आलिंगन में होते हुए भी प्रिय का मूर्च्छित होना^१—तथा स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करके भी प्रिय के सुख की कामना^२—तथा

१. कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना ।

२. असह्य दुःखस्वीकरावपितसुखकामिता ।

सारे संसार को दुःखी कर डालने की प्रवृत्ति^१, पशुलोक का रोदन^२—मृत्यु का वरण करके भी प्रियतम के साथ अङ्ग-सङ्ग की अभिलाषा^३ और अन्त में है दिव्योन्माद । दिव्योन्माद की अवस्था में नाना प्रकार की अवश क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ हो सकती हैं जिसे 'उद्घूर्ण' कहते हैं । प्रियतम के किसी मित्र से मिलने पर नाना प्रकार की बातचीत हो सकती है, जिसे 'चित्रजल्प' कहते हैं । इस चित्रजल्प की दस अवस्थाएँ होती हैं—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, शंजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प और सुजल्प ।

मादन—'मादन' का अर्थ है समस्त भावों का अंकुरित हो जाना । यह केवल राधा में मिलता है । इसका लक्षण है मान के कारण न होने पर भी मान करना और प्रियतम के साथ संभोग की अवस्था में भी विरहाशंका या नायक के सम्बन्ध की विविध बातों का चिन्तन-स्मरण ।

मधुरा रति का स्थायी भाव ही मधुर रस या श्रृंगार रस हो जाता है । इसके दो भेद हैं—संभोग और विप्रलम्भ । विप्रलम्भ के अनेक आवान्तर भेद हैं^४ ।

(१) पूर्वराम—प्रसुप्त प्रेम, मिलन के पूर्व का प्रेम । प्रियतम के प्रथम दर्शन, श्रवण, स्वप्न-दर्शन, चित्रदर्शन से उद्भूत प्रणय-पिपासा । यह 'प्रौढ़', 'समंजस' या 'साधारण' भेद से तीन प्रकार का होता है । प्रौढ़ पूर्वराम की दस दशाएँ हैं—

सालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (दुर्बलता), जडिमा (शरीर का सुन्न पड़

१. अह्यांशक्षोनकारित्व ।

२. तिरश्चामपि रोदनम् ।

३. मृत्युस्वीकारात् स्वभूतैरपि तत्संगतृष्णा ।

इस संभतृष्णा का रूप—

'पंचत्वं तनुरेतु भूत निवहा

स्वांशे विशेषतुस्फुटम् ।

धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा

तत्रापि याचे वरम् ॥

तद्वापीषु पयस् तदीय मुकुरे

ज्योतिस्तदीयांगने ।

व्योम्नि व्योम तदीय वस्मनि धरा

तत्सालवन्तेऽनिलाः ।'

४. 'रसार्णव सुधाकर' में विप्रलम्भ के चार प्रकार हैं :

पूर्वानुराग, मान, प्रवास और कदना ।

जाना), वैवर्ग्र्य (व्यग्रता), व्याधि (पीला पड़ जाना), उल्लास, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु ।

समंजस पूर्वराग की दस दशाएँ—समंजस पूर्वराग की दस दशाएँ हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति ।

साधारण पूर्वराग की छः दशाएँ—साधारण पूर्वराग की छः दशाएँ हैं, जो समंजस पूर्वराग की प्रथम छः के समान ज्यों-की-त्यों अभिलाष से आरम्भ होकर विलाप पर समाप्त हो जाती हैं ।

(२) मान^१—प्रेम की परिणति में बाधा डालने वाला क्रोधाभास । प्रेमास्पद की कोई चेष्टा या 'हरकत' देखकर, सुनकर या अनुमान कर जो मान होता है वह 'सहेतुक' है । मान का दूसरा भेद है निहेतुक या कारणाभास सहित । मधुर शब्द से, उपहार आदि से, आत्म-प्रशंसा से अथवा उपेक्षा से मान का उपशमन हो जाता है ।

(३) प्रेमवैचित्य—अर्थात् प्रेमास्पद की उपस्थिति में भी विरह की भाशंका ।

(४) प्रवास—प्रिय के वियोग में मानसिक क्षोभ । प्रवासजन्य क्लेश की दस दशाएँ हैं—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तानव, मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु ।

नित्य लीला में नित्य संयोग—नित्य लीला में कृष्ण का ब्रज-देवियों से कथमपि वियोग नहीं होता, क्योंकि इनका मिलन नित्य है । प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियों को प्रवासजन्य क्लेश होता है, अर्थात् प्रकट लीला में बाहर-बाहर से देखने-भर को ही श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन होता है, वास्तव में तो सच यह है कि 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति ।'

संयोग श्रृङ्गार के भेद-उपभेद—संयोग श्रृङ्गार के दो भेद हैं—(१) मुख्य और (२) गौण । मुख्य संयोग है साक्षात् प्रकट मिलन और गौण है स्वप्नावि में मिलन ।^२ इन दोनों के पुनः चार भेद हैं—(१) संक्षिप्त, (२) संकीर्ण,

१. 'मान' शब्द भी 'रस' की भाँति बड़ा ही व्यापक और गम्भीर अर्थ वाला है । हर्ष, विषाद, भय, आशा, अहंकार और क्रोध, प्रेम और वितृष्णा आदि का सम्मिश्रित रूप 'मान' अपने आपमें कितना रहस्यमय शब्द है, बाहर-बाहर से उदासीन और भीतर-भीतर से प्रबल आसक्ति ! इसके व्यक्त रूप की कल्पना ही की जा सकती है, चित्रण नहीं ।

२. 'रसान्वेव सुधाकर' ने भी संयोग के चार उपर्युक्त भेद माने हैं । जीव गोस्वामी ने पूर्व राग के बाद सम्भोग के चार भेद माने हैं और उनका नाम है—संदर्शन, संस्पर्श, संजल्प, संप्रयोग ।

(३) सम्पन्न और (४) समृद्धियत् । इसके अनेक प्रकार हैं—दर्शन, स्पर्श, मन्द-मन्द वार्तालाप, राह रोकना, रास, जलक्रीड़ा, वृन्दावन-क्रीड़ा, यमुना-जलक्रीडा, नौका-विहार, चीरहरण, वंशी-चोरी, पुष्पचौर्य, दानलीला, कुंजों में आँख-मिचौनी, मधुपान, कृष्ण का स्त्रीवेश-धारण, कपट-निद्रा, छूत-क्रीड़ा, वस्त्राकर्षण, नखापण, बिम्बाधर-सुधापान, निधुवनरमणादि सम्प्रयोग, चुम्बन, आलिंगन आदि-आदि और अन्त में है संभोग । सम्प्रयोग की अपेक्षा लीला विलास में अधिक सुख है ।

लीला के भेद—लीला के दो भेद हैं—प्रकट लीला और अप्रकट लीला । वन वृन्दावन में प्रकट लीला, मन वृन्दावन में अप्रकट लीला और नित्य वृन्दावन में नित्य लीला । परन्तु प्रकट ब्रज लीला के भी दो भेद हैं—नित्य और नैमित्तिक । ब्रज में जो अष्टकालीन लीला है वही नित्य है और पूतनावधादि दूरप्रवासादि नैमित्तिक लीला है । निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष और रात्रि भेद से अष्टकालीन लीला ।^१

ऊपर बहुत संक्षेप में हमने गौड़ीय मतानुसार मधुर रस के स्वरूप की चर्चा प्रस्तुत की है । मधुर रस का द्विविध रूप है—सामान्य रूप में वह उपनिषदादि में विद्यमान है । मूल में एक अद्वय वस्तु परन्तु आनन्द के लिए दो—स्त्री पुरुष अथवा प्रकृति पुरुष । ये दोनों परस्पर पूरक हैं और एक दूसरे को पाकर पूर्ण होना चाहता है । इसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय की एकता त्रिपुटी-भंग द्वारा होती है । मिलन की पूर्णता के आघार पर ही भाव का विकास होता है । पूर्ण मिलन निःसंकोच और निरावरण मिलन मधुर में ही होता है ।

मधुर रस की उपासना संसार की प्रायः सभी साधनाओं में प्रकट या गुप्त रूप में विद्यमान है । ईसाई संतों और सूफी फकीरों की अनुभूतियों में मधुर रस की ही धारा है । समस्त सगुण उपासना में मधुर भाव की स्वतःस्फूर्ति है, क्योंकि जीव अपने-आपको पूर्णतः देकर अपने प्राणाराम को पूर्णतः पा लेना चाहता है । जीव-जीवन की यह एक परम सामान्य परन्तु साथ ही परम विलक्षण विशेषता है कि वह अपने प्यारे का प्रियतम बनना चाहता है, जिसे प्यार करता है उसके प्यार पर अपना एकाधिकार या इजारा चाहता है^२ । सगुण

१. निशान्तः प्रातः पूर्वाह्नो मध्याह्नश्चापरातुकः ।

सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौ च यथाक्रमम् ॥

2. One longs for another for perfection.

—M. M. G. N. Kaviraj

इसी को प्रो० रायस (Royce) 'Man's homing instinct' कहते हैं ।

साधना में यह चाह सहज रूप में बलवती एवं फलवती होती है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अत्यन्त गुह्य अर्थात् 'एसॉटरिक' साधनाएँ हैं उनमें भी किसी-न-किसी रूप में मधुर भाव की उपासना बनी हुई है। यहाँ हम इतना ही देखना चाहते हैं कि भारतीय गुह्य सहज साधनाओं में मधुर भाव का क्या स्वरूप है और उसकी पूर्ण निष्पत्ति का क्रम क्या है, क्योंकि बौद्ध धर्म में भी प्रज्ञापारमिता तथा आदि बुद्ध के सम्मिलन से 'महासुख' की उपलब्धि होती है। तंत्रादि में भी इसकी विशेष व्याख्या है। नाथ, सिद्धों और सन्तों में भी इस उपासना की विशेष व्याख्या है। वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में इसका सांगोपांग विवरण है। इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम से देखने पर ही मधुर रस की साधना हमारे देश की परम प्राचीन साधना है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

सहज साधनाओं की पृष्ठभूमि—भारतवर्ष की समस्त गुह्य धर्म-साधनाओं की पृष्ठभूमि तथा लक्ष्य एक है। वासना के विवर्जन या तिरस्करण के स्थान पर वासना के शोधन एवं उन्नयन द्वारा मानव-मन के अन्दर सोये हुए दिव्य आनन्द को उद्बुद्ध एवं उल्लसित करना ही इसका लक्ष्य है। इसके लिए शरीर की दृढ़ता, मन की निर्मलता, बुद्धि की तीक्ष्णता एवं आत्मा की विजयोत्कण्ठा अनिवार्यतः आवश्यक है। समस्त सहज साधनाओं में वाणी, मन, द्वास, वीर्य और प्राण पर सहज रूप से नियन्त्रण स्थापित कर इनका ऊर्ध्व दिशा में उन्नयन आवश्यक माना गया है। लक्ष्य इनका है समरस की स्थिति में प्रवेश करना। यह स्थिति योग से प्राप्त हो या प्रेम से प्राप्त हो—साधन भेद या प्रस्थान भेद जो भी हो, लक्ष्य में कोई भेद नहीं है।

समरस की अवस्था—समरस की अवस्था दिव्य आनन्द की वह अवस्था है जिसमें दो का एकीकरण होता है। 'सहजिया' यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन-पर्यन्त संघर्ष भेदकर भी काम को सर्वथा निर्मूल या उच्छिन्न नहीं कर सकता। अतएव इसका उन्नयन कर इसे ही दिव्य प्रेम और दिव्य आनन्द अर्थात् महासुख और महानुभव का निर्मल एवं अमोघ साधन बनाया जा सकता है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य राग द्वारा ही बँधता और राग द्वारा ही मुक्त होता है—'रागेन बध्यते जीवो रागेनैव प्रमच्यते।'

'इश्क अल्लाह महजब अल्लाह'

The lover of God is the beloved of God.

—अलबस्तामी।

He who chooses the Divine has been chosen by the Divine.

—Sri Aurobindo

समस्त गुह्य साधनाओं की एक सामान्य मान्यता यह भी है कि एक से दो हुआ और दो से अनेक। इसीलिए एकवचन, द्विवचन, तब बहुवचन। 'स एकाकी ना रमत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेम' का भाव यही है। एक से ही यह अनेक है, परन्तु इस अनेक के प्राण में पुनः उसी 'एक' में लौट जाने की प्रबल वासना है जिसमें से वह निकला है। इसीलिए इन आन्तर गुह्य साधनाओं का चरम और परम लक्ष्य है द्वैत का सर्वथा निरसन और अद्वैत स्थिति की उपलब्धि। इस अद्वैत स्थिति में दो का एकीकरण हो जाता है अथवा एक ही में दोनों समाविष्ट होते हैं जिसे उनकी भाषा में अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, युगल, समरस, सहज आदि नामों से अभिहित किया गया है। हिन्दू तंत्रों ने परात्पर तत्त्व के द्विधात्मक रूप को शिव और शक्ति अथवा पुरुष और प्रकृति के रूप में स्वीकार किया है। और इन अंतरंग गुह्य साधनाओं ने ब्रह्मांड और पिंड की एकता को स्वीकार करते हुए यह माना है कि मूल तत्त्व में, जो कुछ भी ब्रह्मांड में है वह पिण्ड में भी है। शिव का निवास सहस्रदल कमल (सहस्रार) में है और शक्ति का मूलाधार में। शक्ति मूलाधार में सर्प की तरह गेंडुर मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इसे जगाकर, मूलाधार से उठाकर सहस्रार में शिव के साथ इसका सम्मिलन कराया जाता है। शिव-शक्ति का यह सम्मिलन ही आनन्द का आदि-विलास है।

इस सन्दर्भ में यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि प्रत्येक पुरुष शरीर के वाम भाग में नारी और दक्षिण भाग में पुरुष तत्त्व विद्यमान रहता है। इसी से सदा-शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप में वामार्द्ध में उमा और दक्षिणार्द्ध में महेश्वर हैं। इसी प्रकार वैष्णव सहजिया में रसिक साधक वामार्द्ध में राधा, दक्षिणार्द्ध में कृष्ण, बायीं आँख में राधा और दाहिनी आँख में कृष्ण हैं—ऐसा मानते हैं।^१ अस्तु, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी में पुरुष तत्त्व और नारी तत्त्व विद्यमान है—पुरुष में पुरुषत्व की प्रधानता है, नारी में नारी तत्त्व की, परन्तु हैं दोनों में दोनों ही। ठीक जैसे वाम और दक्षिण का अर्थ है नारी और पुरुष; वैसे ही वाम का अर्थ है इडा और दक्षिण का पिंगला, वाम का अर्थ है प्राण और दक्षिण का अर्थ है अपान। साधना के द्वारा इन्हें 'सम' करके प्राण-प्रवाह को सुषुम्ना में प्रवाहित किया जाता है। यही सुषुम्ना-साधना है।

इस दृश्य जगत् में पुरुष और नारी का जो भेद हम देखते हैं वह भेद

१. वामे राधा दाहिने कृष्ण देखे रसिक जन ।

दुई नेत्रे विराजमान राधा कुंड श्याम कुंड दुई नेत्रे हय ।

सजल नयन द्वारे भाव प्रेमे आस्वाद्य ।

परात्पर तत्त्व में भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है—शिव-शक्ति रूप में। शिव-शक्ति का सामरस्य ही परात्पर सत्य है। प्रत्येक पुरुष और नारी शरीर में शिव और शक्ति विद्यमान है, अस्तु परम सत्य के साक्षात्कार के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि प्रत्येक पुरुष अपने को शिव रूप में और प्रत्येक स्त्री अपने को शक्ति रूप में अनुभव करे और तब परस्पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सम्मिलन द्वारा परम आनन्द की उपलब्धि करे। समस्त अन्तरंग गुह्य साधनाओं की यही चरम परिणति है। समस्त गुह्य साधनाओं के अन्दर यही है परम रहस्य, जिसका सन्धान साधक और साधिका करते हैं।

बौद्धों का 'सहज'—बौद्ध सहजिया साधना में, परात्पर तत्त्व 'सहज' है—वह आत्म-अनात्म निरपेक्ष है। शून्यता और करुणा—दूसरे शब्दों में 'प्रज्ञा' और 'उपाय' उस सहज के प्रधान लक्षण हैं। यह 'प्रज्ञा' और 'उपाय' और कुछ नहीं है बल्कि हिन्दू-तंत्रों के शिव और शक्ति हैं। 'प्रज्ञा' (नारी तत्त्व) और 'उपाय' (पुरुष तत्त्व) का सम्मिलन ही बौद्ध सहजिया साधना का लक्ष्य है। प्रज्ञा और उपाय का एक और भी अर्थ है और वह है प्रज्ञा = इड़ा, उपाय = पिण्डला। इन दोनों को सम करने पर प्राण-प्रवाह सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर उठता है। इस प्रकार प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन से योगी अन्तः-सम्मिलन की साधना में प्रवेश पाता है। 'उपाय' ही है ब्रह्मसत्व जिसका सहस्रार में निवास है और 'प्रज्ञा' है शक्ति जो मूलाधार में रहती है। अन्तर्मिलन का अर्थ है नाभिदेश से शक्ति को उद्बुद्ध कर सहस्रार में शिव के साथ युगनद्ध करना।

वैष्णव सहजिया में राधाकृष्ण तत्त्व—वैष्णव सहजिया साधना में चिरभोक्ता और चिरभोग्या के रूप में क्रमशः कृष्ण और राधा की उपासना चलती है और इस साधना-विशेष में यह मानकर चलना होता है कि प्रत्येक पुरुष कृष्ण और प्रत्येक स्त्री राधा है। 'आरोप' के द्वारा जब पुरुष अपने को कृष्ण और स्त्री अपने को राधा के रूप में अनुभव करने लगती है, तब पुरुष और स्त्री का सम्मिलन तत्त्वतः पुरुष-स्त्री का सम्मिलन न होकर कृष्ण और राधा का सम्मिलन हो जाता है। बौद्ध सहजिया में योग साधना की मुख्यता है, पर वैष्णव सहजिया में प्रेम-साधना या रस-साधना की।

नाथ पथ की उपासना सूर्य-चन्द्र तत्त्व—नाथपंथ में युगलोपासना एक और ही रूप में व्यक्त हुई। यहाँ सूर्य और चन्द्र प्रतीक रूप में लिये गए—सूर्य कालाग्नि रूप में और चन्द्र अमृतत्व रूप में। नाथ सिद्धों का लक्ष्य रहा है दिव्य शरीर में अमृतत्व की उपलब्धि। हठयोग की नाना क्रियाओं, बँध, मुद्रा आदि द्वारा तथा रसायन द्वारा कायापोषण और कायासिद्धि की प्रणाली सिद्धों में विशेष रूप में पाई जाती है। नाथ सिद्धों के काय-सिद्धि और रस-सिद्धि की

यह साधना रसायन सम्प्रदाय से बहुत मिलती-जुलती है, भेद इतना ही है कि रसायनज्ञों में रससिद्धि की ही प्रधानता रही जहाँ नाथ पंथ में यौगिक क्रियाओं की। साथ ही वैष्णव सहजियों की भाँति नाथ पंथियों ने भी अन्तरंग साधना के लिए प्रेम को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। सहज उपासना में बौद्ध सहजियों का लक्ष्य 'महासुख' और वैष्णव सहजियों का लक्ष्य 'परम प्रेम' रहा, पर दोनों ही प्रकार के लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह अनिवार्यतः स्वीकार किया गया कि सबल और निर्मल शरीर के बिना यह साधना हो नहीं सकती, इसीलिए सभी प्रकार की अन्तरंग साधनाओं में किसी-न-किसी रूप में योग की प्रधानता बनी रही।

परकीया रति में यह सहज उपासना क्या है, इस पर यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। यह न भूल जाना चाहिये कि यह साधना का मार्ग है, भोग का नहीं। यहाँ भोग को भी उन्नीत कर साधना का दिव्य मंगलमय रूप देना होता है। सहज साधना में मिथुन-सुख जीतकर उसे अपना वशवर्ती दास बना लेना होता है और फिर उसे दिव्य बनाकर परात्पर प्रेमानन्द—विलास का साधन बना लिया जाता है। कृष्ण ही हैं रस और राधा हैं रति, कृष्ण हैं मदन और राधा हैं मादन। शिव-शक्ति की तरह, प्रज्ञा-उपाय की तरह राधा और कृष्ण का लीला-विलास एवं आनन्दोल्लास ही साधक का चरम लक्ष्य है। इसे चरितार्थ करने के लिए उसे यह साधना द्वारा अनुभव करना होता है कि पुरुष और स्त्री, कृष्ण और राधा के व्यक्त रूप हैं और इनका प्रेम और सम्मिलन ही सहजियों की चरम स्थिति है। प्रेम की यह दिव्य धारा अखण्ड भाव से तैल-घारावत् विश्व के कण-कण में प्रवाहित हो रही है और इसे साधना के द्वारा उद्घाटित किया जाता है।

अब प्रश्न है कि दिव्य प्रेम की यह अजस्र धारा कैसे उद्घाटित होती है और मानव-प्रेम का दिव्यकरण (Divinisation) किस प्रकार होता है। हम परात्पर तत्त्व की तीन रूपों में भावना कर सकते हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। भगवान् रूप में कृष्ण की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूपा शक्ति, तटस्था शक्ति और माया शक्ति। भगवान् की स्वरूपा शक्ति में तीन तत्त्व निहित हैं—सत्, चित् और आनन्द। सत्, चित् और आनन्द का ही दूसरा नाम संधिनी शक्ति, संबित-शक्ति और ह्लादिनी शक्ति है। राधा ही यह ह्लादिनी शक्ति हैं।

भगवान् में ही भोक्ता और भोग्या दोनों भाव सन्निहित हैं। भोग्या के बिना भोक्ता की स्थिति या आनन्दोल्लास सम्भव भी कैसे है? राधा चिर भोग्या और कृष्ण चिर भोक्ता हैं—मूल में एक, पर लीला-विलास के लिए दो। यह लीला भी तीन प्रकार की होती है—प्रातिभासिक, मायिक, व्यावहारिक। लीला भोग नहीं है। विन्दु का जब ऊर्ध्व-गमन होता है, तब वह लीला है और

धोअग्रगमन होता है, तो भोग। लीला और भोग के बीच का यह असामान्य भेद भूल जाने से ही लीला के हृदयंगम करने में कठिनाई उपस्थित होती है।

यह लीला वन वृन्दावन, मन वृन्दावन और नित्य वृन्दावन में होती ही रहती है। वन वृन्दावन में होती है लीला की आंतरिक लीला और नित्य वृन्दावन में, जिसे नित्य देश या गुप्तचन्द्रपुर कहते हैं, राधा और कृष्ण की नित्य, दिव्य, मनोहारिणी, प्रेम-लीला और रास-विलास होते रहते हैं। यही 'सहज' है। प्रेम-साधना से जब प्रेममय प्रभु के प्रेम का एक कण मिल जाता है, तब साधक इस नित्य लीला में, दिव्य भाव में, सिद्ध देह से प्रवेश पा सकता है।

वैष्णव सहजियों ने नित्य वृन्दावन की नित्य लीला को माना, पर उनकी मान्यता यह है कि नित्य वृन्दावन की राधा-कृष्ण की नित्य लीला केवल वन-वृन्दावन की प्रकट लीला के रूप में ही अवतरित नहीं होती, अपितु प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का अवतार होता है और स्त्री-पुरुष के मिलन के रूप से राधा और कृष्ण की लीला चलती रहती है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो वास्तविक सत्व है वह कृष्ण ही है और यही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है और उसका बहिर्मुख जीवन तथा उसके शारीरिक स्थूल कार्य-व्यापार उसके 'रूप' हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री आन्तरिक रूप में वस्तुतः राधा ही है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है और उसका बाह्य जीवन-व्यापार उसका रूप है। परन्तु इस रूप के अन्दर ही वह स्वरूप रहता है, अतएव प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष के रूप में और कोई नहीं, केवल राधा और कृष्ण का ही लीला-विलास चल रहा है। राधा-कृष्ण की यह रूप-लीला और स्वरूप-लीला ही क्रमशः प्राकृत लीला और अप्राकृत लीला के रूप में मानी गई है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष को कृष्ण और प्रत्येक स्त्री को राधा के रूप में देखने और अनुभव या भावना करने की यह सहजियों की प्रणाली नई नहीं है। हम देख आए हैं कि तंत्रों ने प्रत्येक पुरुष को शिव और प्रत्येक स्त्री को शक्ति के रूप में तथा बौद्ध दर्शन ने प्रत्येक पुरुष को उपाय और प्रत्येक स्त्री को प्रज्ञा के रूप में भावित करने का उपदेश किया है।

ऊपर हम कह आए हैं कि कृष्ण ही हैं रस और राधा हैं रति, कृष्ण ही हैं काम और राधा हैं मादन। कृष्ण काम या कन्दर्प रूप में जीव-जीव के प्राण को अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं—'नाम समेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्'। राधा है मादन जो भोक्ता को आनन्द-विलास प्रदान करती है। रस और रति, काम और मादन के बीच जो दिव्य प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है वही 'सहज' है।

पुरुष का कृष्ण रूप में और स्त्री का राधा रूप में अनुभव या भावना के

आरोप को साधना कहते हैं। निरन्तर शुद्ध चिन्तन और शुद्ध भावना के द्वारा अपने अन्दर के सारे मल-आवरण आदि विकारों को नष्ट कर अपने अन्दर के पशु की बलि देकर साधक सर्वथा पवित्र हो जाए और पुरुष में कृष्ण की और स्त्री में राधा की भावना दृढ़ करे। इस प्रकार भावना दृढ़ होते-होते जब पुरुष को अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् अपने कृष्णत्व का और स्त्री को अपने राधात्व का अनुभव होने लगे, तब उनका प्रेम साधारण स्त्री-पुरुष का पार्थिव प्रेम न होकर राधा-कृष्ण का दिव्य प्रेम हो जाता है। प्रेम की यह दिव्य अनुभूति ही सहज की अनुभूति है।

अगर हम कह आए हैं कि मनुष्य का बाह्य जीवन 'रूप' है और आन्तरिक या आध्यात्मिक जीवन, जो शुद्ध 'कृष्णत्व' या 'राधात्व' की स्थिति है, 'स्वरूप' है। रूप को इस स्वरूप की प्राप्ति होनी चाहिए, तभी हमारे वास्तविक, आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ है। स्मरण रखने की बात यह है कि रूप पर स्वरूप के आरोप का अर्थ रूप की सुप्ति नहीं है, प्रत्युत रूप के एक-एक कण को स्वरूप के रस-बोध से बराबर करना पड़ता है। यह मानव-शरीर तथा मानव-जीवन व्यर्थ या हेय नहीं है। मानवीय सौन्दर्य की मादकता में ही साधक को दिव्य सौन्दर्य की ज्योति का प्रतिबिम्ब मिलता है। दिव्य सौन्दर्य तथा दिव्य प्रेम का अर्थ यह कदापि नहीं है कि मानवीय सौन्दर्य और मानवीय प्रेम का तिरस्कार किया जाए। मानवीय प्रेम और मानवीय सौन्दर्य की शृंखला को स्वीकार करते हुए, उनके भौतिक आकर्षण और नशा को मानते हुए ही साधक मन का सफलतापूर्वक निग्रह कर सकता है और परम दिव्य आनन्द और दिव्य सौन्दर्य की ओर साधना द्वारा अग्रसर हो सकता है। अभिप्राय यह कि जैसे पारा या गंधक शोधा जाता है, उसी प्रकार इस लौकिक मानवीय प्रेम और मानवीय सौन्दर्य को शोधकर दिव्य प्रेम और सौन्दर्य की संसिद्धि होती है जो अपने-आपमें निरन्तर, अपरिमेय और अनिर्वचनीय है। यह दिव्य प्रेम मानवीय प्रेम की परिणति है, अथवा यों कहा जाए कि दिव्य प्रेम का जन्म मानवीय प्रेम के गर्भ से होता है, ठीक जैसे कीचड़ से कमल का। जहाँ ठेठ वैष्णवों ने 'निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा' को काम और 'कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा' को प्रेम की संज्ञा दी है, वहाँ वैष्णव सहजियों ने इस भेद को मिटा दिया है। वे कहते हैं कि दिव्यकरण के अनन्तर निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा और कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा में कोई अन्तर नहीं रहता—निजेन्द्रिय तर्पण और कृष्णेन्द्रिय तर्पण एक ही वस्तु है। स्पष्ट शब्दों में, उनकी मान्यता है कि प्रेम का जन्म काम से होता है। काम के बिना प्रेम हो नहीं सकता, अतः काम को निर्बीज करने की, उच्छिन्न करने की कतई आवश्यकता नहीं है। सहजियों की दृष्टि में भगवान् के चरणों में भक्त की प्रीति का नाम प्रेम नहीं है। प्रेम है राधा और कृष्ण की

प्रगाढ़ प्रीति, जो रूप में स्वरूप के आरोप द्वारा प्रत्येक स्त्री और पुरुष में उपलभ्य है। इसी में पुरुष और स्त्री शरीर की चरितार्थता है। इसीलिए यह शरीर और जीवन हेय नहीं है। मनुष्यत्व ही देवत्व की जननी है। प्रेम से ही मनुष्य देवता बन जाता है, इसीलिए मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ हुआ, क्योंकि उसी में परात्पर दिव्य प्रेम का अनन्त रस-सागर लहरें मारता है। इस प्रकार मनुष्य से परे देव अथवा भगवान् की सत्ता को सहजिया नहीं मानते। राधा और कृष्ण को भी देवी-देवता रूप में ये नहीं पूजते। इनकी मान्यता यह है कि मानव-शरीर में ही राधा और कृष्ण की उपलब्धि हो सकती है। दिव्य दृष्टि से देखने पर रूप और स्वरूप में ऐसी अभिन्न, अविभेद्य एकता और सधनता है कि इन्हें पृथक् किया नहीं जा सकता। ऐसी दृष्टि खुलने पर मानव और देव में कोई भेद नहीं रह जाता। रूप में स्वरूप उसी प्रकार परिव्याप्त है जैसे पुष्प में सुगन्ध। स्वरूप की उपलब्धि रूप के द्वारा ही होती है, इसलिए पूज्य हुआ रूप, अर्थात् मानव-शरीर। मनुष्य सदा किसी प्रेम में तड़पता रहता है। यह जलन क्यों है, किसके लिए है, वह समझ नहीं पाता। यह जलन और यह तड़प 'प्रेम' के लिए है, हृदय की रानी के लिए है, प्राणों के प्राण के लिए है। दिव्य प्रेम के द्वारा ही पुरुष और स्त्री दिव्यत्व को प्राप्त होते हैं, परन्तु मानवीय प्रेम के द्वारा ही पुरुष-स्त्री में पावन प्रेम का उदय होता है, जिसमें वे अपने कृष्णत्व और राधात्व की उपलब्धि करते हैं।

आरोप-सहित प्रेम से ही साधक वृन्दावन में प्रवेश पाता है। स्वरूप का रूप पर आरोप किए बिना, मात्र रूप की उपासना, सीधे नरक को ले जाने वाली है। सहज साधना का साधक सामान्य रस का मनुष्य नहीं होता, वह राग मनुष्य भी नहीं होता, वह तो अयोनि मनुष्य होता है और क्रमशः सहज मनुष्य और नित्य मनुष्य की स्थिति-लाभ करता है। इसी प्रकार सामान्य स्त्री इस साधना में प्रवेश नहीं पा सकती। यह साधना 'विशेष रति' के द्वारा राधात्व प्राप्त करने पर ही सम्भव है। अभिप्राय यह कि विशुद्ध रस को प्राप्त मनुष्य अपने कृष्णत्व के द्वारा और विशुद्ध रति को प्राप्त स्त्री अपने राधात्व के द्वारा ही सहज साधना में प्रवेश पाते हैं। 'उज्ज्वल-नीलमणि' में श्री जीव गोस्वामी ने रति के तीन भेद माने हैं—समर्था, समज्जसा और साधारणी। समर्था में नायिका नायक को सुख प्रदान करने के लिए ही नायक से मिलती है। वह निःशेष आत्मदान के द्वारा अपने प्रियतम को परम आनन्द देना चाहती है। राधा ही समर्था का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। समज्जसा रति में प्रिया-प्रियतम की समान सुख-कामना होती है, जैसे हविमणी आदि। साधारणी रति में नायिका स्वमुखेच्छया नायक से मिलती है, जैसे कुब्जा। सहजियों ने रति के इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है और वे मानते हैं कि एकमात्र समर्था रति ही सहज

साधना के लिए वरेण्य है।

प्रेम-साधना की सिद्धि के लिए सहजियों में बड़े ही कठोर नियम एवं कृष्ण साधना की विधि है। वास्तविक प्रेम-सम्पादन के लिए यह आवश्यक है कि साधक शैव हो जाए, अर्थात् उसके अन्दर की सारी निम्न वृत्तियाँ और पशु भाव समूल नष्ट हो जाएँ, जिससे उस पर दिव्य वृत्तियाँ और दिव्य भाव अपना पूरा रंग डाल सकें, उसका रूप स्वरूप की ज्योति और रस से श्रोत-प्रोत हो। सारांश यह कि पुरुष अपने पुरुषत्वाभिमान का परित्याग कर अपने वास्तविक नारी स्वभाव को प्राप्त कर ले, तभी इस साधना में पैर रखे। इस साधना की कठिनाई को व्यक्त करने के लिए सिद्धों ने कई उलटबासियाँ कही हैं—समुद्र में स्नान, पर रंचमात्र भी भीगना नहीं; साँप के आगे मेंढक का नृत्य; मकड़ी के तार से हाथी बाँधना; इत्यादि। सहजियों ने प्रेम-साधना में साधक की तीन कोटियाँ मानी हैं—प्रवर्त, साधक और सिद्ध। इनके लिए पंचाश्रय हैं—नाम, मंत्र, भाव, प्रेम और रस। प्रवर्त स्थिति के साधक के लिए नाम और मंत्र, साधक स्थिति के लिए भाव, और सिद्ध स्थिति के लिए प्रेम और रस। अभिप्राय यह कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर ही साधक प्रेम और रस की साधना का अधिकारी होता है। सिद्धि के लिए शरीर और मन दोनों का बलवान होना नितान्त आवश्यक है। सबल शरीर के बिना सहज साधना असम्भव है। इसलिए प्रेम-साधना में कार्य-साधना भी एक अत्यन्त प्रमुख अंग है। वह तत्त्व है इस देह में ही, अतएव देह की उपेक्षा कर उस तत्त्व की प्राप्ति कठिन क्या असम्भव है। जो इस भाण्ड (शरीर) को जान जाता है वह ब्रह्माण्ड को जान जाता है। राधा और कृष्ण का सारा रहस्य इस शरीर के भीतर ही जाना जा सकता है। प्रेम की साधना में द्वैत का सर्वथा निरसन हो जाता है। दो शरीर एक आत्मा—एक शरीर एक आत्मा, दो का एक में सर्वथा विलयन। प्रेमी और प्रेमास्पद प्रेम में जब सर्वथा धुलकर 'एकमेक' हो जाते हैं, तभी इस साधना की सिद्धि मानी जा सकती है। चण्डीदास ने गाया है—

पीरित उपरे पीरित वइसह

ताहार उपरे भाव

भावरे उपरे भावरे वसति

ताहार उपरे लाम

प्रेमेर माझारे पुलकेर स्थान

पुलकेर उपरे धारा

धारार उपरे धारार वसति

ए सुख बुझाये कारा

मृतिका उपरे जलेर बसति
 ताहार उपरे ड़ेउ
 ताहार उपरे पीरीति बसति
 ताहा को जानाय केउ

जब साधक के हृदय में वास्तविक प्रेम का उदय होता है, तब प्रेमास्पद प्रेम का एक प्रतीक मात्र बन जाता है और सारा विश्व अपनी अनन्त गरिमा, रहस्य तथा अपरिमेय सौन्दर्य के साथ प्रेमास्पद के शरीर में ही घनीभूत होकर स्फुटित हो जाता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमास्पद ही परम सत्य, परम शिव और परम सुन्दर का प्रतीक हो जाता है। प्रेम के ऐसे दिव्य आवेश में चण्डीदास ने 'राम' को सम्बोधित करते हुए गाया है—

तुमि हउ पितृ मातृ, तुमि वेदमाता गायत्री ।
 तुमि से मंत्र तुमि से तंत्र
 तुमि से उपासना रस ।

अर्थात्, 'तुम्हीं हो मेरी माता, पिता, तुम्हीं हो वेदमाता गायत्री। तुम्हीं से हैं सारे तंत्र-मंत्र और तुम्हीं हो उपासना रस का मूल उत्स।'

प्रेम-साधना में यही है आनन्द की वह सिद्धि, जिसे तैत्तिरीयोपनिषद् ने ब्रह्म से अभिन्न कहा है तथा यह माना है कि इसी से सबकी उत्पत्ति हुई, इसी से सबका पोषण होता है तथा इसी में सबका अभिसंवेश होता है।^१

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
 आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंबिदन्तीति ।— तै० उ० ३-६ ।

भागवत धर्म में श्रीकृष्ण

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित इस पंच महाभूतात्मक स्थूल मानव-शरीर में कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जो हमारे जीवन को विश्व के चिरन्तन जीवन-प्रवाह में मिलाने के लिए व्याकुल रहती है; विश्व के सार्वभौम जीवन में मिले बिना वह स्वतः अपूर्ण अथवा अर्थहीन है। जब तक हमारा स्वर विश्व-संगीत में लीन नहीं हो जाता तब तक हमारे स्वर में कोई लय नहीं, कोई ताल नहीं, कोई संकेत नहीं, कोई अर्थ नहीं। व्यष्टि के समष्टि में मिलने की परम उत्कण्ठा को भिन्न-भिन्न धर्मों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। 'एक' में अनेक और अनेक में एक के सामरस्य को ही सभी धर्म सम्पादित करते हैं, कम-से-कम करना चाहते तो हैं अवश्य। सभी धर्मों ने स्वीकार किया है कि मनुष्य, या सभी चेतन पदार्थ में, अचेतन जड़ तक में भी, ब्रह्म की परम ज्योति बिखरी पड़ी है और इस अनित्य नखर जगत् में वही 'एक' अनन्त एवं शाश्वत है। धर्म तथा जीवन की तह में प्रवेश कर हमारे ऋषियों ने यह अनुभव किया है कि समस्त अनित्यता की तरंग तथा बुदबुद के नीचे नित्य, अकल, अनीह, निरंजन ज्योति का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। यह निखिल ब्रह्माण्ड उस 'एक' का न परिणाम है और न विवृति ही। यह उसकी लीला है, 'लीला एव प्रयोजनमस्ति'।

ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्यां' की अमूर्त वासना से निखिल ब्रह्माण्ड का विराट् अभिनय आरम्भ हुआ, क्योंकि वह 'एकाकी' आनन्द का उपभोग कर नहीं पाता था। आनन्द की उपलब्धि तो दो से ही होती है। उसी 'एक' से ही अनेक की सृष्टि हुई, इसीलिए मूल रूप से अनेक के हृदय में उस 'एक' के लिए ही भूख-प्यास है। और उस 'एक' में लय हुए बिना, उसे पाए बिना अनेक को शान्ति नहीं, आनन्द की उपलब्धि नहीं। हाँ 'वह' एकाकी ऊब रहा था, 'स एकाकी न रमते', इसलिए 'बहुस्यां'—बहुत हो जाएँ, ऐसी वासना उसके हृदय में उगी और फिर क्या था, विश्व का रंगमंच नाच उठा। 'वह' स्वयं उसी में व्याप्त हो रहा है, भीतर भी, बाहर भी। सूत्र में जिस प्रकार मणियों का हार पिरोया होता है उसी प्रकार 'वह' अखिल चराचर में होता हुआ, उसे बेधता हुआ, श्रोतप्रोत करता हुआ चला गया है। सभी कुछ

उसी में तल्लीन है, ओतप्रोत है; दूध में घी अथवा मधु में मिठास की भाँति । बीज में सारा वृक्ष मूल-रूप में सारभूत होकर सन्निहित है । 'वह' हममें घुला-मिला, ओतप्रोत है, फिर भी हमारा-उसका साक्षात्कार नहीं होता । 'पिऊ हिरदय महुँ भेंट न होई, को रे मिलाव कहौं केहि रोई'—ही हमारी सारी उत्सुकता, अभिलाषा तथा जिज्ञासा का मूल प्रेरक है । हम सतत् उसके स्पर्श में आने, उसमें लय होने के लिए व्याकुल हैं । हम अरुणांशुक-वसना उषा की मधुर रूप-श्री देखते हैं, हमारा हृदय आनन्द से नाच उठता है, विभोर हो जाता है । मधुमास में मंजरी के भार से भुकी हुई अमराइयों, गदराई हुई लता-वल्लरियों के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड़ जाती है, अपने दर्द-भरे घायल दिल को उँडेल जाती है । हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना में कुहक उठता है । शरद ऋतु के किसी ज्योत्स्ना-स्नात निशीथ में अनन्त सागर एवं दूर तक फैले हुए विशाल संकत-खण्ड पर छिटकी हुई चाँदनी, उद्वेलित लहरों की हलचल किसके हृदय में एक अतृप्त लालसा का उद्बोधन नहीं करती ? सजल सावन के सघन रिमझिम में पक्षियों को प्रफुल्ल क्रीड़ा करते और चहचहाते देख किसका हृदय आनन्द से आप्लावित नहीं हो जाता ? यह सब कुछ हम देखते हैं और विस्मय से भर जाते हैं । हम इन चित्रों के पीछे छिपे हुए चित्रकार को देखना चाहते हैं, इस विराट् अभिनय के सूत्रधार को देखना चाहते हैं और चाहते हैं उस गायक को देखना जिसके इस दिव्य संगीत में अखिल विश्व डूबा जा रहा है । रमणीय दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर हमारे अन्तस् में जो आकुल उत्कण्ठा जग जाती है—हमारी इस जागृत अभिलाषा, चिर-अतृप्त आकांक्षा की पुनीत प्रेरणा द्वारा ही हमारे भीतर ईश्वर की खोज का आरम्भ होता है ।

प्रकृति के निरवगुण्ठित, आवरणहीन सौन्दर्य के अविच्छिन्न साहचर्य में आकर हमारे आत्मदर्शी ऋषियों ने अपने अन्तस् में उसके अतल स्पर्श का अनुभव किया और आनन्दविभोर हो यत्किञ्चित् अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है । वैदिक युग में प्रकृति के इन्हीं व्यक्त प्रतीकों की उपासना भी होती थी । वरुण, इन्द्र, यम, अग्नि, विष्णु आदि की पूजा प्रचलित थी । उपष् छन्दों के अतिरिक्त इन मंत्रों में देवता की शक्ति का ही विशेष वर्णन है । सौन्दर्य की ओर ध्यान गया भी है वह भी लौटकर शक्ति में मिल गया है । ऋग्वेद में वरुण सबसे श्रेष्ठ देवता माने गये हैं । वरुण जल के देवता हैं और उनकी शक्ति भी अपरिमेय है । विष्णु छन्दों में बार-बार विष्णु के 'तीन मधुपूर्ण पदों से अखिल ब्रह्माण्ड को नापने' की कथा दुहराई गई है । परन्तु वहीं छठे छंद की एक पंक्ति है—'भूरि ऋज्ञाः

अयासः गावः'^१ अर्थात् विष्णु का वह पावन-लोक जिसमें अनेक सींगवाली गायें चरती-फिरती हैं। विष्णु के साथ गोचारण, गोपालन तथा विष्णु-लोक में गौश्रों का घूमना-चरना देख अवश्य कुतूहल होता है क्योंकि यहीं विष्णु आगे चलकर हमारे गोपाल कृष्ण बन जाते हैं।

वैदिक युग में गोलोक-विहारी विष्णु की एक भलक लेकर हम आगे बढ़ते हैं और ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल में प्रवेश करते हैं। आरम्भ में ही यह कह देना उचित होगा कि उपनिषदों में ज्ञान का ही विषय प्रधान है। उन्होंने ब्रह्मात्मैक्य का ही प्रतिपादन किया है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म हमारी वाणी और मन की पहुँच से परे है; वह परब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पाँच गुणों से रहित अनादि, अनन्त और अव्यय है।^२ परन्तु ज्ञानाश्रयी उपनिषदों में भी अव्यक्त की व्यक्त उपासना की भलक कहीं-कहीं मिलती है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को यही उपदेश किया है कि अन्न ही ब्रह्म है, फिर क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन ब्रह्म रूपों का ज्ञान उसे करा दिया है। परन्तु अन्त में आते-आते उत्तरकालीन उपनिषदों में सच्चिदानन्द की भावना श्रीकृष्ण के रूप में की गई है। 'गोपाल-तापनी उपनिषद्' में 'सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णायान्विलिष्टकारिणे' तथा अथर्व शीर्ष में 'गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं' पद आते हैं। 'ब्रह्म-संहिता' के पंचम अध्याय का प्रथम श्लोक है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

सारांश यह कि वैदिक काल में धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप यज्ञमय कर्म प्रधान होते हुए भी ब्रह्म की प्रतीक उपासना की आवश्यकता समझी जाने लगी थी और उपनिषद्-काल में उस ब्रह्म सच्चिदानन्द की मधुर कल्पना श्रीकृष्ण वामुदेव के ही रूप में होने लगी थी। वेद-संहिता तथा ब्राह्मणों में भी, विशेषतः इसी की आगे चलकर तीन शाखाएँ हो गईं। उनमें पहली यज्ञ-याग आदि कर्म को प्रतिपादित करती रही, दूसरी ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा कर्म-

१. त वां वास्तुन्युश्मसि गमेर्ध्वं यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः ।

अत्राह तदु गायस्य वृष्णः परमं पदमेव भाति सूरि ॥

ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त १५४, छंद ६

२. 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' । (तैत्ति० २, ६)

'अदृश्यं अप्राह्यं' (मु० १. १. ६)

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मु० ३. १. ८)

संन्यास अथवा सांख्य मार्ग और तीसरी शाखा ज्ञान-समुच्चय मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। इनमें से ज्ञान-मार्ग से ही आगे चलकर योग और भक्ति के प्रवाह निकले। ज्ञान-प्रधान उपनिषदों में ब्रह्म-चिन्तन के लिए प्रणव का पुष्ट साधन स्वीकृत था। आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ और अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव की उपासना का प्रादुर्भाव हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर स्पष्टतः अंकित है कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है और यह यज्ञ-विद्या आगिरस नामक ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को बतलाई। मैत्र्युपनिषद् में यह कई स्थलों पर प्रकट किया गया है कि विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि की भक्ति की जाती है और ये भी परमात्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप हैं। परन्तु यह भक्ति साधन-मात्र मानी गई—साध्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान ही निरूपित किया गया। इसी हेतु वैष्णव उपनिषदों में भी भक्ति का निखरा हुआ रूप प्रकट न हो सका।

उपनिषत्काल से लेकर बौद्ध-जैन धर्म के जन्म तक के हमारे धार्मिक विकास का कुछ व्यवस्थित क्रमबद्ध रूप नहीं मिलता। वैष्णव धर्म प्रवृत्ति-मूलक, साधना-मूलक है और बौद्ध तथा जैन धर्म निवृत्ति-मूलक ज्ञान-वैराग्य-प्रधान हैं। इसी हेतु वैष्णव धर्म का वह स्रोत, जो उपनिषत्काल के उत्तर भाग में प्रवाहित हो चला था, बौद्ध तथा जैन धर्मों के संन्यास-मूलक वातावरण में लुप्तप्राय हो गया। काल-चक्र की गति बड़ी ही विचित्र है। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में भक्ति की एक झिलमिल आभा विकीर्ण हुई जो श्रीमद्भागवत् में विराट् रूप में प्रकट हुई। नारद सूत्र और शांडिल्य सूत्र में तो भक्ति की बहुत ही सूक्ष्म मीमांसा हुई है। भक्ति की जो सुव्यवस्थित निष्पत्ति श्रीमद्भागवत् में हुई वह नारद तथा शांडिल्य सूत्रों द्वारा प्रवर्तित पावन भक्तिमय वायुमंडल में पूर्णतः परलवित-पुष्पित हुई। श्रीमद्भागवत् के दसवें स्कंध में श्रीकृष्ण की रास तथा चीरहरण की जिन लीलाओं का वर्णन हुआ उनमें प्रेम एवं आनन्द की इतनी अधिक मात्रा थी कि जनता का हृदय सहसा आकृष्ट हुए बिना न रहा।

'गीता' का ज्ञान कर्ममूलक, भक्ति-प्रधान है। उसमें तीनों का समन्वय है। कर्म को ज्ञान की आग में शुद्ध कर भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों में सर्वात्मभाव से श्रीकृष्णार्पण कर देना है। गीता का भक्त भी 'स्थितप्रज्ञ' है तथा नित्य सनातन ब्राह्मी स्थिति में विचरने वाला है। गीता समर्पण में समाप्त होती है, भागवत समर्पण से शुरू होती है। 'मामेकं शरणं व्रज' गीता के अन्तिम अध्याय का पद है, परन्तु भागवत के परीक्षित सब प्रकार से शुक्रदेव के चरणों में आत्मार्पण करके प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि

गीता जहाँ समाप्त होती है, भागवत का वहाँ से श्रीगणेश होता है। गीता में कहीं-कहीं 'परम भाव' की जो झलक मिलती है वह श्रीमद्भागवत् के दशम स्कंध से सर्वथा भिन्न नहीं है। अठारहवें अध्याय में भगवान् के अन्तिम उपदेश वचन को ही लीजिए, जिसे कहकर भगवान् ने अर्जुन के अन्तश्चक्षुओं को खोल दिया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

ग्यारहवें अध्याय का वह श्लोक, जिसमें अर्जुन भगवान् के विराट् विश्व-रूप को देखकर काँप रहे हैं और 'सखा', 'यादव', 'कृष्ण' आदि कहकर विहार, शैया, आसन, भोजन में अपने किये हुए सख्य-व्यवहार पर वह आत्मक्षोभ में डूब रहे हैं; क्षमा के लिए भगवान् के चरणों में प्रणत होकर भय से काँपते हुए करुणा से गीले शब्दों में कहते हैं—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्यः

प्रियः प्रियायाहंसि देव ! सोढुम् ॥

समर्पण का यह कोमल मधुर भाव पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही पूर्णतः चरितार्थ होता है। इसी हेतु भगवान् को पिता और सखा मानकर ही अर्जुन को सन्तोष नहीं हुआ, 'प्रियः प्रियायाः' ही बनाकर छोड़ा।

साधना का वह परम पावन स्रोत, जो पहाड़ की कन्दराओं, खोहों, गह्वरों में बह रहा था, उपनिषत्काल में हमारी आँखों के सम्मुख कल-कल वेग से बहता चला जा रहा था, पूर्ण रूप से श्रीमद्भागवत में ही प्रकट हुआ। हृदय की सम्पूर्ण भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को पूर्णतः रमने का पहला अवसर यही था। प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की जो त्रिवेणी श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में बही है, उसमें बार-बार मज्जन और पान करके भी हमारा हृदय अघाता नहीं, तृप्त नहीं होता, अभी और की आकांक्षा बनी ही रहती है।

इस परम मंगलमय भागवत धर्म के सार-तत्त्व को स्वयं श्रीकृष्ण ने उद्धव से से कहा है—'निरन्तर मुझमें ही मन और चित्त को लगाये रहने वाला तथा जिसके आत्मा और मन का मेरे धर्मों में ही अनुराग हो गया है, वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मों को धीरे-धीरे मेरे ही लिए करता रहे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों वहाँ रहे। पर्व-दिनों पर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, बाद्य के द्वारा ठाठ से मेरी यात्रा आदि का महोत्सव कराए। निर्मल चित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों में और अपने-आपमें मुक्त आत्मा को ही आकाश के समान निरावरण रूप से बाहर-भीतर व्याप्त

देखे। इस प्रकार वह समस्त प्राणियों को मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और भक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूर में समान दृष्टि रखता है, लोभ, लज्जा छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिरकर साष्टांग प्रणाम करता है और इस प्रकार मन, वाणी और शरीर की समस्त वृत्तियों से सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी ही भावना करता है।

भागवत धर्म के मूल तत्त्व-ज्ञान में परमेश्वर को वासुदेव, जीव को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध कहा गया है। भगवान् ने गीता में 'वासुदेवः सर्वमिति' ऐसी भावना करने वाले महात्मा को 'सुदुर्लभ' कहा है। इसका विशेष कारण यही है कि प्रेम का परम व्यापक स्वरूप 'रति' में ही सन्निहित है। हमारी समस्त रसप्यासी वृत्तियों के आलम्बन-उद्दीपन, आकर्षण, प्रथय एवं प्रसार के लिए, प्रेम के आनन्दमूलक, सौन्दर्य-सत्तात्मक एक ऐसी मधुर मूर्ति की उद्भावना होनी चाहिए थी जिसमें हमारा हृदय पूर्णतः डूब जाए। ऐसी छविचाली मूर्ति श्रीकृष्ण की ही है।

हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। हृदय का धर्म है संवेदन, मस्तिष्क का धर्म है चिन्तन। हृदय सुन्दर की ओर आकृष्ट होता है, मस्तिष्क सत्य की ओर। हृदय भक्ति-विह्वल, भावना-प्रवण होता है, मस्तिष्क ज्ञान-चिन्तक एवं आत्म-दर्शी। भक्ति प्रधानतः नारी-हृदय का धर्म है, ज्ञान पुरुष-हृदय का। भक्ति 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुम्यमेव समपंथे' लेकर चलेगी, परन्तु ज्ञान 'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' लेकर। भक्ति का पथ राज-मार्ग के समान सरल, सुगम एवं प्रशस्त है, परन्तु ज्ञान की 'ऊँची गैल राह रपटीली' को 'धुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहा गया है। वैष्णव धर्म भावना, प्रधान प्रवृत्ति-मूलक तथा आनन्द-विधायक है। भगवान् की शील, शक्ति एवं सौन्दर्य—तीन विभूतियों में राम में तीनों का समन्वय होते हुए भी शील एवं शक्ति का चरम विन्यास हुआ है। कृष्ण में, इसके विपरीत, सौन्दर्य की प्रधानता है। राम में लोक-मर्यादा, कर्तव्य और आत्मसंयम का ही भाव प्रमुख है, कृष्ण में प्रेम एवं आनन्द का। राम में दास्य भाव की ही परितुष्टि होती है, परन्तु कृष्ण में सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भाव की। यही कारण है कि भक्ति की सम्पूर्ण रति-भावना की पुष्टि श्रीकृष्ण में ही हुई। इसी हेतु राम-भक्ति-शाखा की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति-शाखा अधिक पल्लवित-पुष्पित हुई। रामानुज और रामानन्द ही राम-भक्ति-शाखा के प्रधान आचार्य हुए, परन्तु कृष्ण-भक्ति-शाखा में बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, हितहरिवंश, चैतन्य महाप्रभु आदि कई हुए। राम-भक्ति की परम पुनीत गाथा 'रामायण' तक में ही केन्द्रीभूत हुई, परन्तु कृष्ण-भक्ति की जो स्रोतस्विनी उमड़ी, उसमें श्री चैतन्य, जयदेव,

विद्यापति, मीरा, सूर, नन्ददास, हितहरिवंश, धनानन्द, रसखान आदि कवियों की एक धारा-सी छूट पड़ी।

राधा का अभाव श्रीमद्भागवत में अवश्य स्मृतकता है, परन्तु रास में सहसा भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाएँ राधारानी के भाग्य की सराहना करती हुई कह रही हैं—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।

यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥

निश्चय ही इन्हीं राधारानी ने भगवान् श्रीहरि का एकान्त आराधन किया है, क्योंकि इनके ही प्रेम के पीछे भगवान् हम सबको सहसा परित्याग करके उनके साथ एकान्त में चले गये।

यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है। भगवान् व्यासदेव ने भी इसे परम गुप्त समझकर अप्रकट ही रखा है। केवल संकेत से बहुत ही थोड़ा-सा लक्ष्य किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति आनन्द-विधायिनी राधारानी तथा सहस्र-सहस्र गोपियों की केलिक्रीड़ा में 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का भाव हमारे हृदय पर सदा के लिए अमिट रूप में जम जाता है। पूतना और कंस के तारने वाले, सुदामा के तन्दुल और विदुर के साग पर रीभतेवाले; प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की अपार राशि, सहस्र-सहस्र गोपियों के प्राणवल्लभ और यशोदा के लाड़ले, नन्द के दुलारे श्रीकृष्ण हमारे हृदय के हृदय में सदा के लिए बस जाते हैं।

पता नहीं कितनी आत्माएँ राधारूप में अपने को श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदित कर चुकी हैं। देवदासियों का रूप पीछे जाकर चाहे जितना भी विकृत हो गया हो, परन्तु आरम्भ में तो उनका देवता के चरणों में सर्वात्मसमर्पण प्रेम की प्रेरणा द्वारा हुआ करता था। इन देवदासियों का कोई सुव्यवस्थित इतिहास नहीं मिलता, परन्तु यह तो हम जानते हैं कि आंडाल, कान्होपात्रा जैसी सहस्र-सहस्र कुमारियों ने अपना पवित्र एवं अक्षत यौवन श्रीकृष्ण के चरणों में चड़ाया है, और उन्हें भगवान् का अंग-संग प्राप्त हुआ, उनके सारे मनोरथ पूरे हुए, इसे कौन अस्वीकार करेगा ?

आंडाल का जन्म विक्रम संवत् ७७० के लगभग हुआ था। वह दक्षिण के आलवार संतों में प्रमुख मानी जाती है। वह एक दिन प्रातःकाल तुलसी के एक वन में पायी गई। सयानी होने पर जब वह भगवान् के लिए माला गूँथती तो प्रेम में इतना पागल हो जाती कि उस गूँथे हुए हार को स्वयं पहनकर आर्द्रने के सामने खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्य की अपने-आप प्रशंसा करती हुई कहती—“प्रभु, मेरे इस शृङ्गार को स्वीकार कर लो ?”

श्रीकृष्ण सदा ही उसकी जूठी माला पहना करते और इसी में उन्हें विशेष सुख मिलता ।

आंडाल वस्तुतः दक्षिण भारत की मीरा थी । वह मधुर भाव की चरम सीमा पर पहुँच गई थी । वह चित्त से सदैव वृन्दावन में वास करती थी और गोपियों के साथ मिलकर अपने प्राणवल्लभ हरि के साथ केलि-क्रीड़ा किया करती थी । आंडाल का विवाह एवं पाणिग्रहण बड़ी धूमधाम से भगवान् श्रीरंगनाथ के साथ हुआ । आंडाल ने प्रेम में मतवाली होकर रंगनाथजी के मन्दिर में प्रवेश किया और तुरन्त वह भगवान् की शेषशैया पर चढ़ गई । इतने में ही लोगों ने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाश में आंडाल सबके देखते-ही-देखते बिजली-सी चमककर विलीन हो गई । प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गए । आंडाल के जीवन का कार्य आज पूरा हो गया— वह अपने प्रियतम में जाकर मिल गई ।

दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में आज भी आंडाल के विवाह का उत्सव प्रतिवर्ष बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है । पण्डरपुर में भगवान् श्री विठ्ठल के चरणों में आत्मार्पण करने वाली कान्होपात्रा एक वेश्या की लड़की थी । उसने भी अपने को भगवान् के चरणों में निवेदित किया और अन्त में वह उसी मूर्ति में लीन हो गई ।

कला की साधना

'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्वी भवति'

The meeting of man and god must always mean penetration and entry of the divine into the human and a self immersion of man in the Divinity.

—Sri Aurobindo

जिसे कवि ने 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहकर मन और वचन द्वारा अप्राप्य विराट निराकार की धारणा की थी, उसे चित्रकार ने तेजोमय प्रणव का रूप दिया, और इस साकार साधना में मानव-हृदय को एक राहत मिली, आधार मिला, शान्ति मिली। जिसकी अलौकिक छवि ब्रह्माण्ड के कण-कण में उल्लास एवं आनन्द की किलकारियाँ ले रही है, उस अपरूप रूप को हम आँखों से पीना चाहते हैं, उसमें अपने सुख की छाया और दुःख की सहानुभूति देखना चाहते हैं। 'कोई' है जो हमसे ओट रहकर भी, हमारी इन स्थूल आँखों से ओभल रहकर भी हमारा 'अपना है, हमारा प्रियतम है, हमारे जीवन का जीवन और प्राणों का प्राण' है। श्रुति कहती है 'स उ प्राणस्य प्राणः' अर्थात् 'वह' प्राणों का प्राण है। उसे अप्राप्य या अदृश्य कहकर हमारे हृदय को तृप्ति नहीं होती, शान्ति नहीं मिलती। हमें तो उस 'न मिलनेवाले' से मिलना है, 'न देखनेवाले' को देखना है और उस 'ना-ना' की मधुर मूरत से एक बार 'हाँ' कहा लेना है। इस जगत् में सभी उसी प्रिय के अन्वेषण में लगे हैं, सभी आनन्द के भिखारी हैं। इसी से समस्त जगत् क्रन्दन और हाहाकार की ध्वनि से भर रहा है। सभी के प्राण व्याकुलता से रो-रोकर यही चिल्ला रहे हैं—'कहाँ है वह सुन्दर ? वह आनन्द-सिंधु, हमारा जीवनसर्वस्व, हमारा प्राण-सखा ? प्यारे ! कहाँ हो तुम ?' हमें विश्व के विविध रसों में इसी 'एक रस' रसरज रसिकशेखर की चाहना बनी रहती है, जिसे पाए बिना विश्व के सारे रस नीरस हैं, फीके हैं। हमें अपने परम प्रिय की छवि देखने की उत्सुकता आजीवन बनी रहती है। हम अपने हृदय के समस्त आनन्द, सौन्दर्य एवं माधुर्य की विभूतियों को समेटकर उस निराकार की मंजुल प्रतिमा का निर्माण करते हैं, और उस भूति को हृदयमन्दिर में स्थापित करते हैं। कला की मूल प्रेरणा यही है।

सबमें आनन्द बिखेरकर, सभी वस्तुओं को अपनी शोभा से पूर्ण कर, सारे जगत् को शोभा से भरकर, कौन हो तुम जो हृदय के भीतर छिपे बैठे हो और मन्द-मन्द मुसकरा रहे हो ? समस्त शोभाओं में, सारे सौन्दर्य में अपने को बिखेरकर भी तुम कैसे छिपकर 'भीतर' जा बैठे हो ? छिपे-छिपे कौतुक कर रहे हो ? सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, नदी, समुद्र, वृक्ष, लता, मानव, मानवी, जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, संयोग,—वियोग सभी-कुछ क्या सुन्दर ताल के साथ तुम्हारे इशारे पर नाच रहे हैं ! सबकी ओट में यह चिक डालकर तुम खूब जा छिपे हो ! पर्व में छिपकर भी अपनी भलमल-भलमल रूपश्री की स्निग्ध किरणों से चर-अचर को अपने प्रेम-पाश में बांधे हुए हो और फिर भी तुम्हारा पता, तुम्हारा निशान कुछ भी नहीं मिलता ! यह कैसी तुम्हारी मायामयी लीला है ? श्रुति कहती है—'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्याभिसंविशन्ति, तै० ३-६ ।'

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पगधोऽस्यो परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्दः, के० ४-३-३२ ।

इस आनन्द-भोग के लिए ही संसार की रचना हुई है । इसी आनन्द की हिलोरों से संसार नाच रहा है । मिलन और विरह दोनों में ही प्रिय का प्रेम, प्रिय का आनन्द उमड़ रहा है । मिलन की ज्वाला ही कला का प्राण है । पृथ्वी किससे मिलने के लिए रात-दिन, प्रतिपल चक्कर काटती फिरती है ? आकाश अनादि काल से किसके लिए चन्द्र-सूर्य का दीपक जलाकर विद्व के एक छोर से दूसरे छोर को नापा करता है ? जल की इन लहरों में व्याकुलता क्यों है ? वे तट से क्यों टकराया करती हैं ? हवा किसकी खोज में सौरभ का उपहार समेटे, स्वयं रूपहीन होकर, किस 'रूप' की आराधना के लिए नदी-नद, गिरि-गह्वरों तथा जंगलों को छानती फिरती है ? अग्नि के प्राणों में इतनी ज्वाला क्यों है ? क्यों यह भीतर-ही-भीतर सुलगती और घघकती रहती है ? किसके चरणों को चूमने के लिए इसकी लपटें ऊपर उठकर आकाश में विलीन हो जाती हैं ? यही ज्वाला, यही मिलन की 'उत्सुकता' हमारे जीवन का मूल स्रोत है, आदि तत्त्व है, जो जन्म के प्रथम निःश्वास से लेकर मृत्यु की अन्तिम सांस तक अविच्छिन्न बनी रहती है । उसकी चेष्टाएँ, उसका अभिसार-उद्यम भले ही बारम्बार निष्फल होता रहे, परन्तु एक दिन अवश्य ही ऐसा आएगा जिस दिन वह अपने जीवन के इस चरम लक्ष्य की सन्निधि में पहुँचकर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करेगी । उस परम प्रियतम को ढूँढे बिना इन्द्रियों की यह आनन्द-स्पृहा कभी मिट नहीं सकती, क्योंकि उस आनन्द के लिए ही तो जीव-जीव का हृदय व्याकुल है और जिसे ही पाने के लिए उसने जीवन-यात्रा आरम्भ की है । वह आनन्द ही विद्व-चराचर के प्राणों का एकमात्र अवलम्ब

है। यह आनन्द नहीं होता तो यह जगत् पल-भर के लिए भी जीवित नहीं रह सकता।

‘एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ति’। इतना ही नहीं, वह आनन्दोत्सुकता, यह जलन तो मृत्यु का द्वार लांघकर पुनः नवीन जन्म प्राप्त कर नये जोश के साथ बढ़ती जाती है। हमारे अनन्त जीवन की भाँति यह जलन भी, मिलन की यह उत्सुकता भी अमर है, अनन्त है। जिस प्रकार हमारा जीवन हमारे कई गत जन्मों से पार होकर इस रूप में दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार यह जलन भी हमारे साथ अनादि काल से लगी चली आ रही है, और हमारे साथ ही अनन्त में विलीन हो जाएगी। इसी ज्वालामय जीवन की एक-एक चिनगारी से विश्व की निखिल कलाओं की सृष्टि हुआ करती है।

हृदय का यह स्वाभाविक गुण है कि वह ‘सुन्दर’ की उपासना करता है, और इस साधना में वह स्वयं अपनी उपासना की भाँति सुन्दर बन जाता है। इस साधना के पथ में आगे बढ़कर अपने उपास्य देव की मधुर छवि का विश्व के चर-अचर यावत् पदार्थों में अवलोकन कर आनन्द-विभोर हो जाता है। आनन्द के अतिरेक में वह गा उठता है, नाचने लगता है और उस आराध्य देव की रूपरेखा को व्यक्त करने के लिए तूलिका में रंग भरकर चित्रपट पर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियाँ खींचने लगता है। इसी मिलन की अनुभूति और उस अनुभूति से उद्भूत आनन्द की अतिरेकावस्था में हमारे हृदय से कला की कलित धारा फूट बहती है, जिसका अवलोकन कर विश्व की तृपित आँखें जुड़ा जाती हैं। सौन्दर्य, आनन्द और माधुर्य के ये बाह्य प्रतीक वस्तुतः उस आन्तरिक आनन्दसिन्धु के एक उल्लास की लहर हैं, भीतर की छलकन हैं। मदिरा, दीपक और प्रियतमा—ये सब मुख्यतः अन्तरंग वस्तुएँ हैं, जिनकी झलक इन सभी सूरतों में दिखाई पड़ती है। ऐ देखने वाले ! देख, मदिरा, दीपक और प्रियतमा में कौन-सा आनन्द छिपा हुआ है ! तू उस अमर मुख के प्याले से शराब पी, जिसका साकी ईश्वर है और वह साकी ही सब लोगों को मदिरा पिलाया करता है। उसके बिना पिला ही कौन सकता है ? उस ‘साकी’ की चितवन ऐसी है जिससे हमारे प्राण निकलने लगते हैं और उसका एक चुम्बन हमें प्राणदान देकर जीवित कर देता है।

कला और जीवन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना अधूरा है। कला की विशेषता इसी में है कि वह जीवन की मूल आभ्यन्तर ललित लालसाओं को अभिव्यक्त करती है, और जीवन की विशेषता इसी में है कि वह अपने ‘देवता’ की छाया देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। जीवन कला का आदि स्रोत है, अनादि निर्भर है, जहाँ से कला अपनी सामग्री लेती

है और कला स्वयं जीवन के आधार की छाया है। उस अगाध समुद्र की एक हुंकार—'foaming of that infinite deep' है। सृष्टि के आदि काल से जीवन और कला, दोनों लिपटी चली आती हैं और आज तो एक-दूसरे की अविभेद्य सहेली बन गई है। एक के बिना दूसरी को ज्ञान्ति ही नहीं मिलती, तृप्ति ही नहीं होती। आंग्ल कवि लांगफेलो ने गायकों का कितना दिव्य उद्देश्य बतलाया है—

God sent His singers upon earth
With songs of sadness and of mirth
That they might touch the hearts of men
And bring them back to Heaven again.

अर्थात् परमात्मा ने इस पृथ्वी पर गायकों और कवियों को आनन्द और विषाद के गीतों के साथ इसलिए भेजा है कि वे मानव-हृदय को संस्पर्श कर उन्हें पुनः उसी आनन्दलोक में लौटा ले चले।

कला हमारी भावनाओं की बाह्य अभिव्यक्ति है, हमारे सपनों की सजीव तसवीर है। वह हृदय से एक आधार पकड़कर बाहर बह चलती है। इसकी अभिव्यक्ति की रेशमी डोर को पकड़कर जो 'भीतर' पैठ सके, भीतर का अपार सौन्दर्य-राशि को पा और पी सके, उस 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' का रसपान कर सके—वही कला का सच्चा पारखी है, कला के वास्तविक आनन्द का वही भोक्ता है।

यह नितिलिखित विश्व वास्तव में एक अविच्छिन्न संगीत है, एक आर्ष कविता है, लीलामय की नृत्य-लीला है, एक सुन्दर सुमधुर आनन्द-प्रवाह है, जिसके रस में हमारे प्राण सराबोर हुआ करते हैं—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' ऊपरी सारी विषमताओं की तह में एक अविराम समता है, एक अविच्छिन्न संगीत है। ये विषमताएँ तो केवल ऊपरी बर्फ की चट्टानें हैं, जिनके अन्तराल में अविराम गति से आनन्द का अमृत-प्रवाह अनन्तकाल से प्रवाहित होता चला आ रहा है। हमारा यह जीवन 'क्षण-भंगुर' होते हुए भी, एक विराट् 'स्वप्न' होते हुए भी, अनन्त है, अमर है, शाश्वत है। जीवन एक है, जन्म कई बार होता है। जीवन की इस अमर धारा को मृत्यु और भी उद्वेलित-उल्लसित-पुलकित कर देती है। मृत्यु का द्वार लाँचकर भी हमारे जीवन का स्रोत बन्द नहीं होता। इसी अमर-अनन्त जीवन का स्पर्श समस्त कलाओं में मिलता है। इस विविधता में 'एकता' के अखण्ड सूत्र को निकाल लेना, इस विषमता में 'सम' को ढूँढ लेना ही कला की आत्मा है; और, जो कलाविद् बनने-मिटने वाली काया के भीतर अखण्ड एकरस चिर-शाश्वत, चिर नवीन-आत्मा की एकता पर अपनी कला का निर्माण करता

है वही अमर है और उसी की कला 'कला' है। आत्मदर्शी कवि ब्राउनिंग ने कहा है—

Oh World as God has made it ! all is beauty,
And knowing this is love, and love is duty.

यह समस्त सृष्टि प्रभु की रची हुई है, इसलिए यहाँ सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है, सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य है। यह आनन्द ही सचमुच प्रेम है और यह प्रेम ही मानव-जीवन का चरम कर्तव्य है। चाहे जिस रूप में हो, अनादि काल से ही हमारे भीतर कला की उपासना चली आई है। जीवन का मूल रस सौन्दर्य है, और सौन्दर्य ही से कला की धारा बहती है, इसी हेतु जीवन और कला का अविभेद्य सम्बन्ध है।

भारतीय आदर्श में सदा ही काव्य और चित्रादि कला जीवन को उन्नत एवं प्रभुमय करने में सार्वक समझी गई है और इसके द्वारा जीवन-प्रवाह असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर मुड़ जाता है। रॉबर्ट ब्रीजेज ने भी कला के इस आदर्श को स्वीकार किया है—

Thy work with beauty crown, thy life with love.

Thy mind with truth uplift to God above

For whom all is, from whom all was begun

In whom all Beauty, Truth and Love are one.

कार्य में सौन्दर्य भर दो, जीवन में प्रेम। अन्तस्तल को सत्य के द्वारा प्रभु के समक्ष उद्घाटित करो, क्योंकि उसी प्रभु से ही सब-कुछ निकला है जिसमें ही सब-कुछ लय होता जा रहा है और जिसमें समस्त सौन्दर्य, समस्त सत्य, समस्त प्रेम एकाकार हो रहे हैं।

कला की सृष्टि का भी बहुत सुन्दर इतिहास है। नाचना हमने मोरों से सीखा है और हँसना फूलों से। शृङ्गार करना ऊषा से सीखा है और चहकना चिड़ियों से। जीवन की सुन्दरता को हमने ओस की एक बूंद पर पड़ी हुई अरुणिमा की आभा से पाया है। चित्र बनाना हमने इन्द्रधनुष से सीखा, गुनगुनाना भौरों से, उछलना विक्षुब्ध समुद्र से और बरसना मेघों से। इस निखिल सृष्टि का अनन्त विलास तथा विकास एक अविच्छिन्न कविता में हो रहा है, एक लय में गूँज रहा है, कला की कमनीय कान्ति में किलक रहा है। विश्व कलामय है, कवितामय है, सुन्दर है, मोहक है, बहुत ही मधुर है।

भारतवर्ष ने केवल बाह्य रूप को कभी स्वीकार नहीं किया है। उसने सतत आभ्यन्तरिक सौन्दर्य का मधुपान किया है, आत्मा के अमर सौन्दर्य में अपने को नहलाया है। यथार्थवाद (Realism) इसी कारण भारतीय कला

का कभी प्रेरक नहीं हुआ। इन्द्रियता में अतीन्द्रिय का दर्शन ही भारतीय कला की स्फूर्ति का कारण रहा है। भारतीय कला केवल प्रकृति को नहीं देखती, प्रकृति के भीतर के सजीव संकेत, अमर इशारे को देखती है। सृष्टि के प्राण-पिण्ड में जो गति है और उस गति के कारण ही बाहर जो चहल-पहल है, उसे ही भारतीय कला साक्षात्कार करना चाहती है—समस्त सौन्दर्य जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है। परात्पर रूप जब अपने को व्यक्त करता है तो उसे हम 'सुन्दर' कह उठते हैं। भारतीय वैष्णव-साधना ने इस अमर सौन्दर्य को ही सृष्टि का सनातन प्राण माना है। इसीलिए चिर सुन्दर के रूप में ही प्राणधन का दर्शन किया है—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु

नयन न तिरपित भेल

लाख लाख युग हिया माझ राखनु

तबु हिया जूड़ न गेल।

इसी से पूर्व और पश्चिम की कला की उपासना के सम्बन्ध में बहुत मत-भेद रहा है। कला सुन्दर की प्रतिमा है। जिसे भारतवर्ष सुन्दर कहता है, उसे यूरोप नहीं कह सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि दोनों देशों के मानव-जीवन की मूल अनुभूति एवं संस्कृति में बड़ी विभिन्नता है। प्राच्य साधना आत्मा की आभ्यान्तरिक लालसाओं और सौन्दर्य को लेकर चलती है, इसीलिए हमारी कला में भी उसी का विन्यास हुआ है। इस नरवर काया के भीतर जो अखण्ड आत्म-सत्ता है, उसका जो अमिट सौन्दर्य है; इस क्षण-क्षण में नाश की ओर जाते हुए संसार के अनल-गर्भ में अविनाशी की जो चिर-ललित लीला हो रही है, प्राच्य कला, प्राच्य साधना उसी का आघार और आश्रय लेकर चली है। जहाँ पाश्चात्य साधना और संस्कृति मानव और प्रकृति की बाह्य अभिव्यक्ति में ही अपने को सीमित कर लेती है, जहाँ उसे इसके भीतर डूबने अथवा इससे ऊपर उठने के लिए न अवकाश है न प्रेरणा ही, वहाँ भारतवर्ष आत्मा की अमर ज्योति को जगाकर उसी के दिव्य प्रकाश में जगत् को देखने का, अनेक को एक में डुबाकर देखने का, सम में विषम को मिटाकर देखने का अभ्यासी है। इसी कारण भारतीय और पाश्चात्य कला-दर्शन में एक महान् अन्तर है जिसे संक्षेप में ऐन्द्रिय और इन्द्रियातीत का अन्तर समझा जाना चाहिए। राधा और हेलन तथा सीता और डायना के चित्र आज भी हमें आकर्षित करते हैं, परन्तु राधा और सीता की जिस शोभा का वर्णन कवि ने किया है, उसकी छाया को भी हेलन और डायना छू नहीं सकतीं। नटनागर राधा को छोड़कर चले गए और राधा आजीवन तड़पती रही। उस तड़पती हुई चिर-विरहिणी

राधा के मनोभावों का चित्रण ही प्राच्य कला का मूल आधार है। राधा की इस अमर वेदना में विश्वात्मा की अमर वेदना व्यंजित है जो उस 'न मिलने वाले देवता' के लिए हमारे हृदय में सदा जागती रहती है। रास और चीर-हरण की मधुर लीलाएँ हमारे हृदय को संयोग शृङ्गार की पराकाष्ठा के कारण ही नहीं खींचती। इनमें तो हिन्दू हृदय का, आर्यों की रहस्यमयी मधुर साधना का चित्र अंकित है। राधा सभी गोपियों के साथ माधव से मिलती है, और उनके साथ हमारा हृदय भी देवता को अनन्त विराट सत्ता में अपना तुच्छ व्यक्तित्व गँवा देता है। उसमें हमारे हृदय की अन्तर्ज्वाला का चित्र है। चीरहरण-लीला हमें क्यों मोहे हुई है? उसमें तो हमारे और हमारे आराध्य के बीच का परदा हटाकर, 'दुई' का भेदभाव हटाकर 'एकता', कभी न बिछुड़ने वाली एकता की ओर संकेत है।

कला की सृष्टि केवल आनन्द के लिए होती है, वह मानव-हृदय को उत्कंठाओं को तीव्र कर परम आनन्द में डुबा देती है, विलीन कर देती है। चारों वेदों में साम वेद को इसी हेतु सबसे सुन्दर माना जाता है कि उसमें मानव-हृदय की आभ्यन्तर लालसाओं का सुन्दर संगीत है। इसी से भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। इसलिए सबसे महान् कला तो वह है जिसमें कलाकार कला की उपासना में 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' का साक्षात्कार करके उसी में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का दर्शन करता है, 'रसो वै सः' का रसास्वादन करता है—और उसका आस्वादन कर 'समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' उस आनन्दमय को पाकर स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

यह संसार माया है, मिथ्या है, स्वप्न है, इसका अर्थ इतना ही है कि यह उस अव्यक्त को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पा रहा है। जिस प्रकार अभिनय में अभिनेता, गीत में गायक, काव्य में कवि और क्रीड़ा में बालक आनन्द लेता है, उसी प्रकार इस व्यक्त सत्ता में अव्यक्त ब्रह्म की अविराम लीला चल रही है। यह लीला चिरन्तन है, इसलिए चिरनवीन है। 'वह' स्वयं लीला करने वाला और स्वयं लीला और स्वयं लीला-भूमि है। इस लीला में एक ताल है, गति है, स्वर है, आलाप है, आरोह और अवरोह हैं; परन्तु है यह चिरन्तन और चिरनवीन, चिरसुन्दर, चिरमधुर। हमारा अहं, समस्त समष्टि के पृथक्-पृथक् अहं उस लीलामय के अपार लीलार्सिधु में लघुकण हैं, बुदबुद हैं—उसी में से निकलकर उसी में लय हो जाने वाले स्फुलिंग हैं। इसीलिए यदि हम अपनी गहराई में डूब सकें तो हम उस सत्, चित्, आनन्द की राशि में अपने को एक कर उस अखण्ड प्रकाश-पुंज में अपने नन्हे-से स्फुलिंग को खोकर अपने वास्तविक विराट् रूप का दर्शन कर सकेंगे। सतह पर सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, उसका दर्शन तो अपने-आप में डूबने पर ही

होता है और कला की उपासना इसी में हमें प्रेरणा भरती है, हमारे अन्तस्तल को उल्लसित एवं आनन्दित कर अपने-आपमें, अपने अन्तः के अथाह सागर में डूबना सिखलाती है। ऐन्द्रियता से ऊपर उठाकर आत्मतत्त्व में एकाकार करने में कला सर्वसुन्दर साधना है। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तो सतह की लहरें हैं। इनके प्रहार को चीरकर हमें इनके अन्दर डूबना है और यह अनुभव करना है कि जो कुछ है, सत् चित् आनन्द की लीला है—ईशावास्यमिदं सर्वं—सर्व-कुछ ईश्वरमय है, परमात्मा से ओतप्रोत है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यहाँ 'नानात्व' है ही नहीं, एक ही एक है। अनेकता के रूपों में वही 'एक' अपनी लीला से चर-अचर सबको मुग्ध किये हुए है।

इस 'विश्व रूप दर्शन' के साथ ही हमारी सीमा जो हमें चारों ओर से जकड़े हुए है, छिन्न-भिन्न हो जाती है; हम उसी विराट् पुरुष के एक अविभेद्य अंग बन जाते हैं, हमारे मनोराज्य में समस्त ब्रह्माण्ड आसानी से समा जाता है, एक-अनेक का भेद मिट जाता है, तभी जाकर हम वस्तुतः सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का दर्शन कर पाते हैं और हमारी इस काया को भीतर और बाहर वही सत्य, शिव और सुन्दर अपने अखण्ड लीला-अभिनय में हुवा लेता है। कला की चरम साधना यही है।

मानव-जीवन अपूर्ण है और वह 'पूर्णता' की ओर बड़े वेग से दौड़ता है, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं। वह अपने नन्हे बिन्दु में निखिल सृष्टि को छिपा लेना चाहता है, सब-कुछ अपनाना चाहता है। इसी उत्सुकता में, इसी अन्तर्जलन में कला का बीज उगता और पनपता है। हम विशाल समुद्र, अनन्त आकाशमण्डल, सुन्दर छविशाली चन्द्र, सूर्य तथा असंख्य तारे, निर्भर, सर, सरिता, उषा और संध्या को देखते और विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं। ये क्या हैं? किसकी ज्योति हैं? किसकी लीला हैं—इस विशाल सुन्दरता की तह में कौन मुसकरा रहा है? कौन संकेत दे रहा है? यह सारा किसका मौन 'निशा निमंत्रण' है? हमारे हृदय में उसी छिपे हुए प्रेमी में लय होने की लालसा जगती है और हम उसे भर-आँख देखने, अपनी भुजाओं में बाँधने और अपनाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। सजल दयामल मेघमाला देखकर मोर नाच उठता है। मलयानिल के तनिक-से झोंके से कोकिला का कंठ खुल जाता है—आम की बौरों के भीतर छिपकर वह गा उठती है। दिनकर की किरणों कमल का हृदय गुदगुदा देती हैं—चन्द्रमा के स्निग्ध अमृत-चुम्बन का रसा-स्वादन करने के लिए समुद्र अपना विशाल वक्षस्थल खोल देता है। वीणा की मधुर लय पर कुरंग मचल पड़ता है, मृत्यु की गोद में सहर्ष छलाँग मारता है। शलभ दीपक को अपनी करुण कहानी न सुना सकने के कारण स्वयं उसकी ली में लीन हो जाता है। सारा संसार प्रेम के सूत्र में बँधा हुआ है। सभी किसी-न-

किसी के चरणों में अपने-आपको निछावर कर देना चाहते हैं, किसी 'एक' का होकर अपने प्राणों की अमर ज्वाला शान्त करना चाहते हैं। यह ज्वाला ही मनुष्य के हृदय को बेचैन किये हुए है, जिसके कारण न वह कहीं रुक सकता है, न कहीं विरम सकता है। चलता ही चला जा रहा है—किसी 'अनदेखे' की खोज में, किसी 'अपने' को पाने की चाह में। इसी 'चाह' में, इसी आजीवन जलन में आनन्द है। इसी आनन्द की व्याख्या और अभिव्यक्ति कला में होती है। इसी कारण सभी को अपने हृदय की प्यास बुझाने का उपकरण किसी-न-किसी प्रकार की कला में मिलता है। कोई कविता लिखकर, कोई चित्र द्वारा, कोई संगीत, नृत्य-बाद्य द्वारा अपनी ज्वाला को बुझाना चाहता है; उस अनन्त में अपने सान्त को मिला देना चाहता है। अपने भीतर एक शीतल स्पर्श का अनुभव करता और किसी अदृश्य सत्ता को विद्यमान देखता है, परन्तु समझ नहीं पाता कि यह क्या है। इसी स्पर्श की अभिव्यक्ति वर्डस्वर्थ ने यों की है—
 "I have felt a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts."

बस, इसी चिरन्तन शीतल स्पर्श की मधुर अनुभूति के लिए कला की सृष्टि तथा उपासना होती है, और इस उपासना में साधक की आभ्यन्तरिक अथवा अन्तरतम लालसाओं को एक सहारा और आघार मिलता है जहाँ साधना की सुन्दर निधियाँ सजाकर मीरा 'मिलन-मन्दिर' में प्रवेश करती है और अपने हृदय के हृदय में अपने प्राणाराम सखा और जन्म-मरण के साथी 'गिरिधर गोपाल' को पाकर उसमें सदा के लिए अपने को खो देती है, जैसे कभी 'हुई' थी ही नहीं। समस्त कला-कृतियाँ सान्त को अनन्त में डुबाकर अनन्त बना देती हैं—आत्मा-परमात्मा का अथवा यों कहिये 'प्रिया-प्रीतम' का 'अन्तमिलन' कराकर स्वयं तदाकार हो जाती हैं।

परम भाव का स्वरूप

देवर्षि नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' में भगवदासक्ति के ग्यारह भेद किये हैं। उन ग्यारह के नाम हैं—

१. गुण माहात्म्यासक्ति—देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, शुक्रदेव, याज्ञवल्क्य, काकभुपुण्ड्र, शेष, सूत, शौनक, शांडिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु, जनमेजया ।

२. रूपासक्ति—मिथिला के नर-नारी, राजा जनक, दण्डकारण्य के ऋषि, ब्रजनारियाँ, भीरा ।

३. पूजासक्ति—लक्ष्मी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्री भरतजी ।

४. स्मरणासक्ति—प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि ।

५. दास्यासक्ति—हनुमान, अक्रूर, विदुर ।

६. सख्या सक्ति—अर्जुन, उद्धव, संजय, श्रीदाम, सुदामा ।

७. कान्तासक्ति—अष्ट पटरानियाँ ।

८. वात्सल्यासक्ति—कश्यप-अदिति, सुतपा-पृथ्वि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी ।

९. आत्मनिवेदनासक्ति—हनुमान, अम्बरीष, बलि, विभीषण, शिवि ।

१०. तन्मयतासक्ति—याज्ञवल्क्य, शुक्र, सनकादि, प्रतीक्षण ।

११. परमविरहा सक्ति—उद्धव, अर्जुन, ब्रज की नारी ।

प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता में ये सभी आसक्तियाँ रहती ही हैं—जैसे श्री ब्रजगोपियों में थी। इन आसक्तियों के द्वारा भगवान् प्रेमरसना में बँध जाते हैं। इनमें उत्तरोत्तर सम्बन्ध की ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों भक्त और भगवान् का सम्बन्ध भी प्रगाढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि यह आसक्ति 'तन्मयता' का रूप धारण कर लेती है—भगवान् और भक्त 'एक' हो जाते हैं। इसके बाद 'परम विरह' की अवस्था प्राप्त होती है। इस परम विरह में चिरमिलन और चिरविरह का अपूर्ण रसायन तैयार होता है—नित्य मिलन होते हुए भी चिरन्तन विरह का रसास्वादन होता रहता है। राधा रानी श्रीकृष्ण की गोद में सिर रखे लेटी हैं, फिर भी उन्हें भान हो रहा है कि कृष्ण नहीं मिले। फिर 'कृष्ण-कृष्ण' का आवाहन करती हुई स्वयं कृष्णमय हो जाती हैं और तब राधे ! हा राधे ! कहकर राधा का आवाहन करने लगती हैं। इसे ही 'प्रेम

वैचित्य' की स्थिति कहते हैं। यह परम मधुर एवं स्वयंसंवेद्य स्थिति है—इसका शब्दों में आकलन नहीं किया जा सकता। अस्तु।

ऋग्वेद की एक ऋच का अंश है—'योषा जारमिव प्रियम्', जिसका भावार्थ यह है कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम का आवेग परकीया नारी के उपपत्ति के प्रति आवेग के समान होना चाहिए। परम भाव की तात्त्विक सूक्ष्म मीमांसा पूर्णतः उपर्युक्त पद में की गई है। प्रेम का परितःपरिपाक परकीया में ही होता है। स्वकीया में तो वह नियंत्रित होकर आत्म-बोध का सहायक बन जाता है। सहजिया सम्प्रदाय के विचार में राधा (ऊड़ा) का प्रेम ही आदर्श प्रेम है। प्रकृति में जो मिथुन-भाव चल रहा है, स्त्री-पुरुष में आकर्षण है, उसे ही साहित्य में 'रति भाव' और साहित्य के अनन्तर साधना-क्षेत्र में 'मधुर भाव' कहते हैं। ईसाई ईसा-मरियम, सूफी लैला-मजनूँ अथवा शीरी-फरहाद तथा हिन्दू राधा-कृष्ण के द्वारा अपनी इस परम भावना को व्यक्त करते हैं। परकीया अपने सारे गृह-कार्यों में फँसी रहने पर भी अपने प्राणवत्लभ प्रेमी का स्मरण किया करती है और मिलन की प्रतीक्षा में व्याकुल हो तड़पती रहती है—

परव्यसननि नारी व्यप्रापि गृहकर्मसु ।

तमेव स्वादयत्यन्तनं व सङ्ग-रसायनम् ॥

हम जिन-जिन बातों से इस संसार में बँधे हुए हैं, ठीक उन्हीं बातों से भगवान् में भी जुड़ सकते हैं। सच तो यह है कि इन सम्बन्धों के अतिरिक्त भी कोई सम्बन्ध है, इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते, इसीलिए इन्हीं सब सम्बन्धों को लेकर भगवान् से भी मिलना है। हम किसी के पुत्र हैं, किसी के पिता, किसी के मित्र, किसी के प्रेमी, किसी के प्रेमास्पद। परमार्थ के पथ में ये सभी नाते वस्तुतः अपना आस्पद पाकर दिव्य हो जाते हैं, क्योंकि हम अपने सभी नाते भगवान् में स्थापित करना चाहते हैं। हमारे भीतर जो अपूर्णता है, रिक्तता है, वह हमें चैन नहीं लेने देती। 'शान्त भाव' में हमारी रति-भावना का प्रस्फुरण नहीं होता। स्वान्तस्थ ईश्वर में लय होने वाले आत्मदर्शी सिद्ध सन्तों ने प्रभु की जो भाँकी पाई उसे कभी-कभी अपने प्रेम-विह्वल गीले शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। कबीर ने 'धुनि लागी नगरिया गगन घहराय' द्वारा उसी अव्यक्त आनन्द को व्यक्त करने की चेष्टा की है। सुन्दरदास ने भी इस 'मधुर मिलन' का उल्लेख किया है—

है दिल में दिलदार सही अँखिया उल्टी करि ताहि चित्तये ।

श्राव में, खाक में, बाद में आतस, जान में सुन्दर जान जनैये ॥

नूर में नूर है, तेज में तेज ही, ज्योति में ज्योति मिले मिल जैये ।

क्या कहिये कहते न बने, कुछ जो कहिए कहते ही लजैये ॥

यह आनन्द योगियों के 'अनहद' से भी कुछ बढ़कर है। इस 'शान्त भाव' में जो आनन्दानुभूति है वह भी द्वैतमूलक है। दो का एक में लय होने की क्रम-व्यवस्था ही प्रेम एवं आनन्द की मूल प्रेरणा है।

हाँ, तो हमारे इन्हीं सम्बन्धों को, जिन्हें हम भगवान् में स्थापित कर पूर्णतः उस सम्बन्ध-विशेष में लय होना चाहते हैं, पाँच मुख्य भावों में विभक्त किया गया है—

- | | |
|--------------------------|--------------------|
| १. शान्त या प्रशान्त भाव | ४. वात्सल्य भाव |
| २. दास्य भाव | ५. रति या मधुर भाव |
| ३. सख्य भाव | |

इनमें शान्त और दास्य तो 'भाव' तक ही रह जाते हैं परन्तु सख्य, वात्सल्य और मधुर 'रति' कहे जाते हैं। इन भावों में हमारी रति-भावना क्रमशः तीव्र होती चलती है। समाधि की निर्विकल्प स्थिति में योगी लोग अपनी हृदय-गुफा में सहस्र-सहस्र सूर्यों का तेज तथा सहस्र-सहस्र चन्द्रमा की शीतलता का एक साथ ही अनुभव किया करते हैं। इस दिव्य प्रकाश एवं सुस्निग्ध शीतलता की प्रशान्त स्थिति में स्थित हो जाना ही प्रशान्त भाव है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि जब संसार की ओर बढ़ने वाले समस्त भावप्रवाह भगवान् की ओर मुड़ जाते हैं और अन्तस्तल में निर्वात दीपक की लौ जगमगाने लगती है, तब इस प्रेमपथ में साधक पैर रखने का अधिकारी होता है। और-और भावों में साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता हुआ रसास्वादन करता जाता है त्यों-त्यों परमात्मा उसके निकट आते जाते हैं और वह परमात्मा को प्रत्यक्षतः खुली आँखों देखता है, स्पर्श करता है, उनसे संलाप करता है, उनका मधुर आलिंगन करता है और फिर क्या-क्या नहीं करता ?

यहाँ यह भूल न जाना चाहिए कि शान्त भाव या उसके पूर्व की स्थिति अर्थात् परमात्मा के प्रति हृदय की साधारण रुझान को भी हमारे ऋषियों ने प्रभु की प्रेरणा ही का फल माना है^१ जिसे गोसाईंजी ने 'सो जानत जेहि देहु जनाई' द्वारा प्रकट किया है। हमारे हृदय में भक्ति का जो पीघा उगता है उसका बीज परमात्मा की प्रेरणा में ही सन्निहित है। भक्ति में प्रेम का पुट प्रारम्भ से ही रहता है। बिना प्रेम के भक्ति हो नहीं सकती। 'प्रेमाभक्ति' तो पंचम

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन ।

येमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ॥

"Let no one suppose," says the Theologic Germanice, that we may attain to this true light and perfect knowledge "by hearsay, or by reading or study, nor yet by high skill and great learning"—'Inner Lights'.

पुरुषार्थ मानी गई है जिसे भगवत्कृपा के बिना प्राप्त करना कठिन है। इसी अद्वैतकी परम प्रेमाभक्ति द्वारा हमारा चिरन्तन सम्बन्ध भगवान् से स्थापित होता है। विश्व-मनमोहन ब्रज-वल्लभ ही, जो पहले हमारा स्वामी है, धीरे-धीरे हमारा सखा हो जाता है। परन्तु इस समानता से हमारा जो नहीं भरता। जो हमारा सखा है वह दूसरे का भी सखा हो सकता है; उसके प्रेम का भागी दूसरा हो सकता है। हम तो अपने प्रेम-पात्र के ऊपर अपना पूर्ण एकाधिकार या इजारा चाहते हैं। हमारी कामना तो यही होती है कि हम सर्वथा उसी के हो जाएँ और वह सर्वथा हमारा ही, केवल हमारा ही, बस एकमात्र हमारा ही हो जाए।

सख्य-भाव में प्रेम की अद्वैतता नहीं मिलती। हम अपने प्यारे सखा को सर्वथा एकान्ततः 'अपना' नहीं बना सकते। इसमें 'ना मैं देखों और को, ना तोहि देखन देखें' की अभिलाषा पूरी नहीं हो पाती। प्रेम तो एकाधिपत्य ही चाहता है, इसमें तीसरे की गुंजाइश ही नहीं है। वात्सल्य-भाव में यह एकाधिपत्यता बहुत अंशों में प्रायः प्राप्त हो जाती है। वात्सल्य रति में भगवान् को अपना प्रिय बत्स बना लिया जाए अथवा उस जगज्जननी का अवोध शिशु बन जाया जाए—दोनों ही तरह से इस रस का आस्वादन होता है। किसी भी सम्बन्ध से अपनाना चाहिए—भगवान् बाँहें फैलाये तैयार हैं। जो हमारा पुत्र है वह किसी और का नहीं हो सकता। उसे प्यार चाहे जितने करें, परन्तु हमारा-उसका सम्बन्ध तो अविच्छिन्न बना रहेगा। उसके भी मित्र, सखा कितने ही हों, परन्तु माता तो एक ही होगी, जिसके प्रेमपूर्ण अधिकार में कोई भी अन्य सम्बन्ध बाधा नहीं डाल सकता। पुत्र पर माता की एकमात्र अनन्यता होती है। कहावत है, 'डायन को भी अपना बेटा प्यारा होता है।' भगवान् कृष्ण के विराट् रूप को देख, अर्जुन, जिनकी उपासना सखा-भाव की थी, भय से काँपने लगे, परन्तु वही रूप यशोदा के हृदय में भय का संचार न कर सका। अर्जुन अपनी भूलों, त्रुटियों एवं अपराधों के लिए भगवान् से क्षमा माँगने लगे, परन्तु यशोदा अपनी प्यार-जन्य प्रताड़ना के लिए क्षमा माँगने न गईं।

प्रेम की पराकाष्ठा कान्ता-भाव में ही प्राप्त होती है। सर्वात्म समर्पण की पूर्ण अभिव्यक्ति यहीं होती है। पत्नी पति के सम्पूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है; उससे उसकी कोई लाज नहीं, कोई दुराव-छिपाव नहीं। पत्नी पति के प्यार-स्नेहादि की भी अधिकारिणी है, सेवा की भी। पति पत्नी का सखा भी है, स्वामी भी, प्रेमी भी है, प्राणनाथ भी। 'अबसर पर पत्नी माता के अभाव को भी पूरा करती है। इसी हेतु इस 'परम भाव' में सभी भावों का रसायन तैयार हुआ है।

प्रभु के साथ दास, वत्स, सखा अथवा उसकी परम प्रणयिनी का सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद हमारे जीवन में एक विचित्र आनन्द का उन्मेष हो उठता है और अपने स्वजन, परिजन, वर्ग, समाज, आदि में हम उसी दिव्य सम्बन्ध का दर्शन करते हुए सदा आनन्द-मुग्ध रहते हैं—जगत् के साथ हमारे सभी सम्बन्धों में एक प्रकार का दिव्य रोमान्स आ जाता है और हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र—सभी सम्बन्धों में एक अकथनीय आनन्द का संचार हो जाता है। सब सम्बन्ध धर्ममूलक हो जाते हैं।

परमभाव की साकार प्रतिमा राधा हैं। महाभाव में राधा और कृष्ण का चिरन्तन विहार होता रहता है। कभी-कभी राधा ही कृष्ण तथा कृष्ण ही राधा-रूप में आकर केलि-क्रीड़ा करते हैं। कृष्ण कभी-कभी कालिन्दी-कूल के करील-कुंजों की सधन छाया में राधा के पाँव पलोटते हुए तथा हूठी हुई प्रियाजू से 'देहि में पदपल्लवमुदारम्' की याचना करते हैं। राधा की भाँति मीरा की उपासना भी परम भाव की थी। स्वप्न में मीरा ने अपने अघरों पर कृष्ण के चुम्बन का शीतल-मधुर, विद्युत्-स्पर्श का अनुभव किया, आलिंगन का अमृत-पान किया—(like the passionate lover's resting on the heaving bosom of his beloved) और यह स्वप्न ही उसके लिए महान् जागरण, चिर-जागरण, का कारण बन गया। फिर क्या था, गिरधारीलाल को ही मीरा ने अपना प्राणवल्लभ पति मानकर सर्वात्म-समर्पण कर दिया।

सन्तों ने भी इसी परम-भाव में अपनी अनुभूति की उपलब्धि की है। कबीरदास ने भी अपने को 'हरि की बहुरिया' कहकर परिचय दिया है। सूफ़ी फकीरों में तो यही भाव श्रोतप्रोत है। 'साजन के घर' का आह्वान सुनने वाले 'सून्न महल' में सेज बिछाने वाले भावुक भक्तों ने 'प्रीतम' को ही सम्बोधित कर अपनी अनुभूति-मूलक प्रेमोपासना की दिव्य संगीत-धारा में हृदय की लालसा और आत्मा की भूख-प्यास को बुझाया है। दास्य-भाव के उपासक गोस्वामीजी तक ने भी 'कामिहिं नारि पियारि जिमि' की भावना में ही हृदय को तृप्त होने का आदर्श स्वीकार किया है। यहाँ 'नारि' में परकीया का ही बोध होता है जिसमें 'रति' की चरम अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह कि निर्गुण सन्तों तथा मर्यादावादी लोक-संग्रही भक्तों ने भी जीवन की पूर्णविस्था में पति-पत्नी भाव के गहरे प्रेम के रूप में भगवत्प्रेम को ग्रहण किया है।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव जब दक्षिण भारत में तीर्थाटन कर रहे थे, वहाँ उन्हें राय रामानन्द के दर्शन हुए थे और दोनों में साध्य तत्त्व के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ बातें हुई थीं। श्री राय रामानन्द ने बहुत ही विस्तार के साथ साध्य-साधन के क्रम-विकास पर प्रकाश डाला है।

प्रभु ने पूछा—मनुष्य का जो कर्तव्य है उसका कथन कीजिये ।

राय महाशय ने कहा—प्रभो ! मैं समझता हूँ, अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कार्य करते रहने से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो सकता है ।

प्रभु ने कहा—हाँ, यह तो ठीक ही है । कोई और उपाय बताइये ।

‘अपने सब कर्मों को भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया जाए । सब-कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाए ।’

‘बात तो बड़ी सुन्दर है परन्तु इससे भी आगे कोई बात हो तो कहिये ।’

‘सत्-असत् का विचार करते हुए भगवान् की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है ।’

‘कोई सरस-सा उपाय बताइये ।’

‘भगवान् की विशुद्ध भक्ति ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है ।’

‘यह तो मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु भक्ति किस प्रकार की जाए, यह और बताइये ।’

‘प्रेमपूर्वक भक्ति करने से ही प्रेममय प्रभु का प्रेम प्राप्त होता है । प्रेम ही उनका स्वरूप है, वे रसराज रसिकशेखर हैं; इसलिए जैसे भी हो उस रससिन्धु में घुसकर खूब गोते लगाना चाहिये ।’

‘परन्तु उस रस का आस्वादन कैसे हो ?’

‘भगवान् के प्रति दास्य भाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ है ।’

‘परन्तु इससे भी बढ़कर तो कोई सम्बन्ध होगा न ?’

‘हाँ, सख्य-सम्बन्ध इससे भी बढ़कर है । यथार्थ रसास्वादन तो सख्य-प्रेम में ही होता है ।’

‘परन्तु प्रेम का कोई ऐसा रस बतलाइये जो हर हालत में एकरस बना रहे ?’

‘वह है वात्सल्य-भाव ।’

‘इससे आगे भी कोई भाव हो तो उसे मुझसे कहिए ।’

‘वह है कान्ता-भाव । बस, इसी में जाकर सभी रसों और सभी भावों की परिसमाप्ति हो जाती है ।’

‘परन्तु कान्ता-स्नेह से भी बढ़कर जो कुछ हो, उसे कृपया बता दीजिये ।’

‘बस-बस प्रभो ! इससे आगे अब कह नहीं सकता, वह अत्यन्त गोपनीय है । भला श्री राधारानी के प्रेम की प्रशंसा कौन कर सकता है ? उनका ही प्रेम तो सर्वश्रेष्ठ है ।’

भगवत्प्रेम की इस दिव्य मधुर साधना में शरीर को कसना नहीं पड़ता; यम-नियमादि के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता । साधारणतः देखा जाता है कि भोग संयम के पीछे ही परेशान रहते हैं, विषयों से मन को मोड़ने में और उससे

रात-दिन संघर्ष करने में ही जीवन को नष्ट कर देते हैं और इस विकट संघर्ष में ही उनकी सारी शक्ति लग जाती है, फिर भी वे मन को जीत नहीं पाते। परन्तु भगवान् के प्रेम का एक कण भी जिसे मिल गया उसकी सारी इच्छाएँ, सारी वासनाएँ स्वयं नष्ट होकर निर्मूल हो जाती हैं। जिन इन्द्रियों पर योगी, यती और तपस्वी लोग संयम करने की इच्छा रखते हैं फिर भी नहीं कर पाते, उन इन्द्रियों और इन्द्रियाथों को भक्त भगवान् के चरणों में निवेदित कर देता है। स्त्री, पुत्र, घर, शरीर, सब-का-सब कृष्णापण कर देता है और सच पूछा जाए तो वास्तविक पूजा है भी यही।

प्रेम तो परस्पर हृदय का आदान-प्रदान है—भगवान् को अपना हृदय देकर हमने भगवान् का हृदय पाया, क्योंकि इस प्रेम-पथ में तो भगवान् भी मनुष्य का प्रेम पाने के लिए उतना ही पागल है जितना मनुष्य भगवान् का प्रेम पाने के लिए। भगवान् को भी हमारी उतनी ही आवश्यकता है जितनी हमें उनकी है। इस प्रेम में दोनों ही एक-दूसरे के पीछे दीवाने हैं। भगवान् अपनी सारी भगवत्ता भुलाकर भक्त के पीछे-पीछे प्रेम की भीख मांगते फिरते हैं।

रवि बाबू का इस विषय पर एक बहुत ही सुन्दर गीत है जिसका संक्षेप भावार्थ यों है—

युग-युग से मेरा हृदय-कमल खिलता चला आ रहा है जिसमें हम-तुम बँधे हुए हैं। इस कमल के दल एक-पर-एक खुलते जा रहे हैं, मानो कहीं इसका अन्त ही नहीं है और इस कमल-कोष का मधु इतना मीठा है कि तुम एक मुग्ध भ्रमर की तरह इसे एक क्षण के लिए भी छोड़ नहीं पाते—इसीलिए तो तुम बँधे हुए हो, और मैं भी बँधा हुआ हूँ। इससे मुक्ति कहाँ ?

यह स्थूल जगत्, जिसमें विषमता तथा विरोध के प्रवाह चल रहे हैं, वस्तुतः भगवान् की लीलाओं का विलास मात्र है। तह में प्रवेश करनेवाले भावुक भक्तों ने अणु-अणु में उसी 'एक' परम रूप की मोहक छवि को ही देखा है। इस विभिन्नता के भीतर से एकता को निकालना यथार्थ ज्ञान है। बर्फ की इस विशाल चादर के नीचे मधुर प्रेम का अविच्छिन्न सोता बह रहा है। चराचर के यावत् पदार्थों में एक शृंखला है, एक सिद्धान्त है, एक नियम है, एक व्यवस्था है। इसी विराट् विश्व-प्रवाह में, इस अविच्छिन्न रस-स्रोत में आ मिलना ही सच्ची साधना है, अणु-अणु में विकीर्ण उस परम रूप की परछाई के स्पर्श में आ जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यह तभी सम्भव है जब 'बुत्तों के पर्दे में छिपे हुए खुदा' को देखते हुए सब भूतों तक, विश्व के यावत् चराचर तक हृदय को फैलाकर जगत् में भाव-रूप में हम रम जाएँ। यही परम-भाव का उत्कृष्ट स्वरूप है।

अध्यात्म और शृंगार

*All music is only the sound of His laughter,
All beauty the smile of His passionate bliss;
Our lives are His heart beats, our rapture the bridal
Of Radha and Krishna, our love is their kiss.*

—Sri Aurobindo

अध्यात्म ने शृंगार को अस्वीकार नहीं किया है, प्रत्युत् उसे पूर्णतः स्वीकार कर उसे पार्थिव स्तर से ऊँचा उठाया है, दिव्य बनाया है, 'सब्लिमेट' किया है। 'रति' शब्द, जिसका व्यवहार साधारणतः हल्के अर्थ में होने लगा है, अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत गम्भीर एवं रहस्यमय भाव का द्योतक है। 'आत्मरति' अध्यात्म की एक परम दिव्य स्थिति है, जिसमें आत्मा स्वयं आत्मा में ही 'रति' करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने शृंगार को ही आध्यात्मिक साधना का प्रमुख हेतु माना है। स्टैन्ली हाल ने तो यहाँ तक कहा है कि भगवत्प्रेम मानव-हृदय की शृंगार-वासना का ही दूसरा रूप है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शृंगार का कला और अध्यात्म के साथ गहरा सम्बन्ध है। शृंगार के आकर्षण से मनुष्य के हृदय में एक भाव-विशेष की सृष्टि होती है, सौन्दर्योपासना की वृत्ति जागृत होती है और यही है धर्म की मधुर अनुभूति का श्रीगणेश। सन्त ज्ञानदास ने गाया है—

रूप लागि अँखि झूरे गने मन मोर
प्रति अंग लागि काँदे प्रति अंग मोर ।
हियार परस लागि हिया मोर काँदे,
परान पीरिति लागि स्थिर नाहिँ राँचे ॥

रूप-रस के लिए अँखिँ भूरा रही हैं; गुण श्रवण कर मन विभोर हुआ जा रहा है। मेरा प्रत्येक अंग तुम्हारे प्रत्येक अंग का संग प्राप्त करने के लिए

1. Love of God and the LIBIDO have the same mechanisms and religious and sex normality and abnormality are very closely connected. Love rules the camp, the court, the grove for, Love is God and God is love.

न्याकुल है। तुम्हारे हृदय का स्पर्श पाने के लिए मेरा हृदय तड़प रहा है और तुम्हारी प्रीति के लिए प्राणों को एक क्षण भी शान्ति नहीं, चैन नहीं।

संसार के प्रायः सभी धर्मों ने मनुष्य की कोमल स्नेह-वृत्तियों को भगवान् के पथ में मोड़कर भगवत्प्राप्ति के एक अचूक साधन रूप में स्वीकार किया है। शृंगार वृत्ति में सभी वृत्तियों का समाहार होता है और जब यह वृत्ति अध्यात्म-पथ में मुड़ती है तो मनुष्य आध्यात्मिक प्रणय एवं तज्जन्य आनन्द की दिव्य मंगलमयी, मोदमयी रसानुभूति में अपनी समस्त चेतना को खो बैठता है। भगवान् के साथ उसका एक निराला सम्बन्ध हो जाता है—वह सर्वथा भगवान् का और भगवान् सर्वथा उसके हो जाते हैं। और इसी आनन्दातिरेक की अवस्था में वह गाता है—

जनम जनम हम रूप निहारल

नैन न तिरपित भेल,

लाख लाख युग हिया बिच राखल ।

तबु हिया जूड़ न भेल ॥

कितनी विचित्र-सी बात है कि जो शृंगार-वृत्ति उच्छ्वल दशा में हमारे लिए घोर पतन एवं पापाचार का कारण थी, वही जब संयत होकर पति-पत्नी के सम्बन्ध में मर्यादित हो जाती है तो समाज के महान् कल्याण का कारण बन जाती है और फिर वही जब अध्यात्म के पथ में प्रवाहित होती है तो भगवत्साक्षात्कार का सुदृढ़ सेतु बन जाती है, क्योंकि उस समय हमारी सारी इन्द्रियाँ प्रेमस्वरूप प्रभु के प्रेमास्वादन में छकी रहती हैं, उसके रूप-रस का पान करती रहती हैं। अध्यात्म का पथ हमारे लिए अत्यन्त सरल एवं सरस हो जाता है, परम स्वाभाविक, परम मनोहर।

इन नैनन मेरा साजन बसता

डरती पलक न लाऊँ री ।

सूफियों ने तो इस्क मजाजी को इस्क हकीकी का एक प्रबल कारण माना है। जब हमारी सभी इन्द्रियाँ भगवान् के रूप-रस का पान करने लग जाएँ, भगवान् का आस्वादन करने लगेँ तब समझना चाहिये कि हमारा प्रेम मजाजी से हकीकी की ओर मुड़ गया है। इस संसार में जो कुछ भी 'सुन्दर' है वह भगवान् की सुन्दरता की ही झलक है और इस सुन्दरता का आस्वादन करने के लिए मनुष्य युग-युग से नाना नाम और नाना रूपों की चादर ओढ़े, नाना जन्मों के द्वार लौघता चला आया है।

पृथ्वी के एक-एक कण में, ज़र्रे-ज़र्रे में भगवान् की दिव्य रूपसुधा छलक रही है। गुलाब में, शमा में, सूर्य में, लैला की जुल्फों में, सुरा में, साकी में सुराही में—बस उसी प्यारे का सौन्दर्य-मधु छलक रहा है। सर्वत्र रूप का हाट

लगा हुआ है, सौन्दर्य का सागर उमड़ा आ रहा है। उसी का आकर्षण पाकर शलभ दीपक की लौ में अपने आपको दे डालता है। उसी का इशारा पाकर बालारुण की कोमल किरणों के शीतल मधुर स्निग्ध स्पर्श में कमल अपना हृदय-कोष खोल देता है। आम की रसभरी मजरी की मदमाती बयार कोयल के हृदय में एक दर्द, एक भीठी व्यथा जगा देती है। लैला के अलकों में मजनू का हृदय बँधा हुआ बल खा रहा है। शीरीं के अघरों पर फरहाद ने अपना जीवन-मधु उँडेल दिया ! अरे, जहाँ भी 'पर्दा' है, उस पर्दे के भीतर वह 'पर्दा-नशी' है ही। हृदय जहाँ भी, जिस कारण भी प्रेम से आकृष्ट हुआ है, यह निश्चय है आकर्षण का जाल बिछाने वाला वही रसिकों का सरदार है। उसके प्रेम का आस्वादन करके ही हम जीवित हैं, उसके प्रेम की भिन्ना के लिए हम दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं;—जिसने भी जब कभी किसी 'सुन्दर' को प्यार किया, सच मानो उसने 'उसे' ही प्यार किया।

या मोहन के मैं रूप लुभानी ।

सुन्दर बदन कमलदल लोचन बांकी चितवन मंद मुसकानी ॥

जमना के नीरे तीरे धेनू चरावै बंसी में गावै भीठी बानी ।

तन-मन-धन गिरवर पर बाहूँ चरण कँवल भीरा लपटानी ॥

रूप का प्यासा मानव अनन्त जन्मों से उस रूप-मुग्धा का पान करता आया है और इस अमर अनन्त यौवन-वसन्त में वह सदा ही अपने प्राण-प्यारे के प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध है—कभी एक क्षण के लिए भी छुटकारा हुआ ही नहीं, अलग हुआ ही नहीं—प्रेमी प्रियतम की गोद में, प्रियतम प्रेमी की गोद में—

I am He whom I love,

He whom I love is I

We are two Spirits

Dwelling in one body.

सहजिया सम्प्रदाय जिसका विशेष विकास उत्तरकालीन बौद्ध विहारों और संघों में हुआ था शृङ्गार को अध्यात्म का सर्वोत्तम साधन स्वीकार करता है। वासना-रहित प्रेम के द्वारा स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की उपासना करे—इसी से उसे आत्म-प्रकाश का दर्शन होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों की ओर भी साधक का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया गया है और उसे सावचेत रहने का आदेश किया गया है। 'सहज' का अर्थ ही है स्वभाव-सिद्ध। इन्द्रियजन्य आकर्षण एवं वासना को सहजिया स्वभाव का विकार मानते हैं और इस पर विजय प्राप्त करके ही इस साधना-पथ में प्रवृत्त होने की स्वीकृति देते हैं। प्रणय की अत्यन्त प्रगाढ़

अवस्था में भी वासनारहित होकर जो इस प्रेम-साधना के मार्ग में शून्यवत् होकर प्रवृत्त होता है वही इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस सहजिया सम्प्रदाय में पीछे कई वैष्णव तथा तान्त्रिक भी सम्मिलित हो गये। वैष्णवों ने इसके प्रेम अंश पर ही विशेष जोर दिया और तान्त्रिकों ने नारी-पूजन पर।

सहजिया सम्प्रदाय के गुप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में इनकी पूजा-अर्चा का विधि-विधान बहुत विस्तार से मिलता है। आरम्भ में साधक को किसी परम सुन्दरी से परिचय बढ़ाकर उसका प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा करनी पड़ती है; परन्तु इस बात की बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है कि वह एक क्षण के लिये भी स्वलित न हो जाय। फिर चार महीने तक उस प्रियतमा के चरणों में पड़ा रहना पड़ता है—परन्तु शर्त यह है कि उसका शरीर-स्पर्श न करे। इसके उपरान्त चार महीने तक उसकी शैया में उसके पाश्वं में सोए परन्तु अंग-संग न होने पावे और इसके अनन्तर उसके प्रगाढ़ आलिंगन में बँधकर भी एक क्षण के लिए भी अपनी स्थिति से विचलित न हो। सहज साधना में प्राणायाम आदि योग की कुछ क्रियाएँ भी चलती हैं और आत्मा का 'सनातन नारी' के रूप में ध्यान करने की विधि है और अपने शरीर के भीतर ही 'चार चाँद' पर ध्यान जमाया जाता है। पीछे जाकर चाहे जो भी विकृति इस सम्प्रदाय में आ गयी हो, आरम्भ में इसका उद्देश्य यह था कि पुरुष के भीतर नारी के प्रति और नारी के भीतर पुरुष के प्रति जो आकर्षण एवं उत्सुकता हैं उन्हें साधना द्वारा जीत लिया जाय।

बंगाल के परम वैष्णव कवि चण्डीदास माता वाशुली के उपासक थे परन्तु उनका 'रामी' नाम की एक रजक-कन्या से अटूट प्रेम था। इस 'अशिष्ट' प्रेम के कारण समाज से वे बहिष्कृत भी हो गये थे परन्तु उनके आध्यात्मिक प्रेम की प्रेरणा 'रामी' ही थी और उसे जगज्जननी, महामाया, महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी, गायत्री, सीता और राधा के रूप में देखते थे।

चण्डीदास की उपासना-पद्धति एवं अनुभूति में प्यार और उपासना में कोई अन्तर नहीं है और स्त्री-पुरुष का जो प्रेम है वही प्रेम भक्त-भगवान् के बीच भी है। यह अनुभूति केवल चण्डीदास की ही नहीं है। भक्ति जब एकान्ततः प्रेमाश्रयी हो जाती है तो वहाँ समस्त प्रेम का केन्द्र-बिन्दु भगवान् ही बन जाते हैं और भगवान् से ही भक्त समस्त सुखों का उपभोग करता है। मैदम ब्रूयर फ्रांस के एक बहुत सम्भ्रान्त कुल की ललना थीं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मुझे 'उस' के अपार प्रेम का आस्वाद मिला है—'Most intimate favours of the Bridegroom'. उसके प्यार में मैंने अपना सतीत्व गँवा दिया। उसने अपने

चुम्बनों से मेरे अन्तरतम के प्राण को पी लिया और मैं 'उस' में मिलकर डूब गयी ।^१

मीरा ने गाया है—

धाली रे मेरा नैना बाण पड़ी ।

चित्त चड़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन छड़ी ॥

कवकी ठाड़ी पंथ निहारूँ अपने भवन छड़ी ॥

कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ जीवन मूर जड़ी ।

मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहँ बिगड़ी ॥

दुनिया ने ऐसों को 'बिगड़ी' कहा ही है, बराबर 'बिगड़ी' ही कहा है परन्तु इन 'बिगड़ी' को संसार की धालोचनाएँ सुनने का अवकाश ही कहाँ है ? वे क्या जानें कि इससे भी 'बनी' हुई कोई स्थिति होती है ।

हसीनाने जहाँ उजड़ी हुई महफिल में रहते हैं ।

जिन्हें बरबाद करते हैं उन्हीं के दिल में रहते हैं ॥

1. "Love of the Bridegroom triumphed over my chaste humility. What a swoon of love when the lips of the Bridegroom drew the substance of life from me and through His caresses when I felt myself passed into Him."

रास और चीर-हरण का रहस्य

वैष्णव-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों में 'परम भाव' के उपासकों को यमुनातट, वंशीवट, करील-कुंज, वृन्दावन की गलियाँ तथा उनमें होने वाली रास की क्रीड़ा ने बहुत अधिक आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक् उद्भावना में रास का बहुत हाथ है। मीरा की प्रेम-भावना भी रास और चीर-हरण की इन लीलाओं से मूलतः ओत-प्रोत है। मीरा ने इन लीलाओं का कहीं वर्णन तो नहीं किया है परन्तु इसके मधुर-रस का आभास यत्र-तत्र उसके पदों की अन्तर्धारा में स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के रास-रसोत्सव का वर्णन मीरा के पदों में मिलता नहीं। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि स्वयं मीरा श्रीकृष्ण की प्रणयिनी है। उसकी यह नित्य निरन्तर स्थिति है; किसी साधना के द्वारा नहीं अपितु स्वयं हृदय के भीतर उसने श्रीकृष्ण को पति-रूप में पाया है। एक सती-साध्वी पत्नी अपने प्राणाधार पति का अन्य स्त्रियों के साथ रास-विलास का वर्णन करती तो कैसे? भारतीय ललना के हृदय में यह भाव आ ही कैसे सकता है कि उसका पति किसी अन्य रमणी पर आसक्त है?

शरद की शोभनीया यामिनी में यमुना के तट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई, कुंज-कुटीर में चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटकी-बिखरी है। यमुना के नीले-नीले जल-प्रवाह पर भगवान् चन्द्रदेव अमृतवर्षा कर रहे हैं। वृन्दावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल ज्योत्स्ना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरुलताएँ, ज्योत्स्नाप्लावित यमुना का पुलिन आज किसी अपूर्व आनन्द में 'किसी' के साथ क्रीड़ा करने की तैयारी में हैं।

सैकड़ों कुंज-कुटीर हैं। श्रीभगवान् की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। वंशी बजती है और—

वंशी धुनि सुनि गोप-कुमारी।

अति आतुर हूँ चली श्याम पै
तन-मन की सब सुरति बिसारी ॥

गल को हार पहिर निज किट महँ,
कटि की किंकिणि गल महँ डारी।

पग पायलने धारण कर में,
कर की पहुँचिया पगन मँझारी ॥

कान बुलाक, कपोलन बँदी,
नाक में पहिरि कान की वारी ।

एक नैन अंजन बिनु सोहै,
एक नैन में काजर सारी ॥

कोउ भोजन पति परसत दौरी,
कोउ भोजन तजि दौन्ही थारी ।

'नारायण' जो जैसी हुती घर,
सो तैसेहि उठि विपिन सिधारी ॥

भगवान् के अकस्मात् अन्तर्धान हो जाने पर उन्हें न देखकर गोपाङ्गनाएँ व्याकुल होकर विलाप करने लगीं । उन्मत्त के समान एक वन में जा-जाकर श्रीहरि का पता वृक्षों से पूछने लगीं । इधर, भगवान् श्रीकृष्ण और सब गोपियों को छोड़कर जिस एक गोपी को लेकर एकान्त में आये थे उस प्रेमगर्विता गोपाङ्गना ने श्रीकृष्ण से कहा—'प्यारे ! मुझसे अब अधिक नहीं चला जाता; तुम्हारी जहाँ चलने की इच्छा हो मुझे कन्धे पर चढ़ा लो ।' ऐसा सुनकर भगवान् ने उस प्रियतमा से कहा, 'अच्छा, तुम मेरे कन्धे पर चढ़ लो ।' ऐसा सुन ज्योंही वह कन्धे पर चढ़ने के लिए तैयार हुई, भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर कृष्णचन्द्र के आगमन के लिये अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ फिर जमुना की रेती में लौट आयीं और परस्पर मिल-जुलकर उन्हीं का गुणगान करने लगीं ।

'गोपी-गीत' यही से आरम्भ होता है जिसमें गोपियों ने अघरामृत पिलाकर जीवनदान की प्रार्थना की है । 'गोपी-गीत' रास पंचाध्यायी का प्राण है । गोपियाँ भाँति-भाँति से प्रलाप करती हुई कृष्णदर्शन की लालसा से फूट-फूटकर रोने लगीं और फिर—

तासामाविरनूच्छौरिः स्मयमान मुलाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः स्त्रम्बो साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

कामदेव के भी मन को मथने वाले भगवान् कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किये मधुर-मधुर मुसकान की फुलभङ्गियाँ छोड़ते हुए उनके आगे प्रकट हुए । प्रियतम को आया देख समस्त ब्रजवालाओं के नेत्र आनन्द से खिल गये और सब-की-सब इस प्रकार खड़ी हो गईं जैसे प्राणों के आ जाने से शरीर उठ बैठता है । उनमें से किसी ने अति आनन्दित हो अपनी अंजलि से भगवान् का कर-कमल पकड़ लिया, किसी ने उनकी चन्दन-चर्चित भुजा अपने कन्धे पर रख ली और किसी ने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथ में ले लिया । एक विरह-

संतप्ता बाला ने अपना चित्त शान्त करने के लिये अपने वक्षस्थल पर उनका कोमल चरणकमल रख लिया । किसी ब्रजवाला ने भगवान् को नयनों के पथ से हृदय में ले जाकर आँखें मूँद लीं, फिर भीतर-ही-भीतर आलिंगन करने से उसके शरीर में रोमांच हो आया और वह परमानन्द में लीन हो गयी । फिर गोपियों ने कृष्ण के बैठने के लिए अपने कुचकुंकुम-मण्डित दुकूल बिछा दिये ।

यहीं महारास शुरू होता है । दो-दो गोपियों के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण उनके गले में हाथ डालकर खड़े हुए । उस समय सब गोपियों ने उन्हें अपने ही निकट समझा । रासोत्सव देखने के लिये उत्सुक देवगण तथा देवाङ्गनाओं के सैकड़ों विमानों से सम्पूर्ण आकाश भर गया । इधर, रासमण्डल में अपने प्रियतम के साथ नृत्य करती हुई गोपाङ्गनाओं के कंगन, पाजेब और करघनी के घुँघरुओं का महान् शब्द होने लगा ।

भङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो, माधवोभाषवो चान्तरेऽङ्गना ।

इत्यमाकल्पितं मंडलं सुन्दरं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण । सारी प्रकृति रसमय, रासमय, आनन्दमय, कृष्णमय, मधुमय हो रही है । गोपियों के प्राण कृष्ण रसामृत से ओत-प्रोत हैं । नाचते-नाचते सारी सुष-बुध खो जाती है—

लोचन श्यामरु, बचनहिं श्यामरु

श्यामरु चाह निचोल ।

श्यारु हार हृदय मलि श्यामरु

श्यामरु सखि करु कोल ॥

श्रीमद्भागवत का 'रास पंचाध्यायी' इसी लीला-माधुर्य से ओत-प्रोत है । भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है । रेमे रमेशो ब्रज-सुन्दरी-भिर्यथाभङ्कः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।' जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है वैसे ही श्रीकृष्ण और ब्रज-सुन्दरियों ने रमण किया । निखिल ब्रह्माण्ड रास के फाँस में गुँथा हुआ है । राधा और कृष्ण का केन्द्र में होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा संयोग का ही व्यञ्जक है । चारों ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही हैं । कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत हैं । सभी को 'वे' अपने-अपने भिन्न दिखाई पड़ते हैं । परन्तु सभी गोपियों के हृदय-प्रवाह में कृष्ण 'एक रस' समान भाव से विद्यमान हैं । हमारा हृदय ही वृन्दावन का विहारस्थल है, जिसमें हमारे प्रेम के प्रवाह के कालिन्दी तट पर श्रद्धा के कुँजों के नीचे हमारी राधा-रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनन्त रास में संलग्न है । भगवान् श्रीकृष्ण ही

हमारी आत्मा के आत्मा हैं। आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुखी वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्म-रमण ही 'रास' है।

चौर-हरण की लीला भी श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित है। एक बार गोपियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया और उसी व्रतकाल में वे सब वस्त्र उतारकर स्नान कर रही थीं। इसी बीच में श्रीकृष्ण भी वहाँ पहुँचे। गोपियों के नग्न स्नान पर उन्हें कूतूहल हुआ। वे उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ़ गये और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगीं तब वे कहने लगे—

भवत्यो यदि मे दास्यो

मयोक्तं वा करिष्यथ ।

अत्रागत्य स्व वासांसि

प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥

हे सुहासिनियो ! यदि तुम मेरी दासी हो और मेरी आज्ञा मानने को तैयार हो तो यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो।

परन्तु संकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ़ नहीं पातीं। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के भी सम्मुख खोलने में हिचकती हैं। इसके उपरान्त का श्लोक है—

पर्यं विवस्त्रा यद्यपो घृतघ्नता

व्यगाहतैततद्दु देव-हेलनम् ।

वद्वाञ्जलि मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहसः

कृत्वा नमोऽज्योवसनं प्रगृह्यताम् ॥

तुमने व्रतधारण करके भी वस्त्रहीन होकर जल में स्नान किया इसमें तुम्हारे द्वारा वरुणदेव का अपराध हुआ है। अतः उस दोष की क्षान्ति के लिए तुम मस्तक पर हाथ जोड़कर उन्हें भुक्कर प्रणाम करो। और फिर अपने वस्त्र ले जाओ। भगवान् के इस प्रकार कहने से उन ब्रजवालाओं ने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारा व्रत खण्डित हो गया, अतः उसकी निर्विघ्न पूति के लिए उन्होंने समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया। कृष्ण ने गोपियों से छल की बातें कीं, उनकी लज्जा छुड़ाई, उनसे हँसी की, उन्हें कठपुतलियों के समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिए तो भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं बल्कि अपने प्रियतम के संग से परम प्रसन्न हुईं। उन्होंने अपने वस्त्र पहन तो लिए किन्तु प्रियतम के समागम में आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे यहाँ से चल न सकीं वरन् लजीली दृष्टि से उन्हीं की ओर निहारती रहीं।

सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राणनाथ और अपने बीच पर्दा बनाये रखना चाहते हैं। हम पूर्णतः अपना नग्न हृदय अपने हृदय-सर्वस्व के सम्मुख रखने में संकोच करते हैं। हमें अपना आवरण ही प्रिय है। जो हमारे हृदय का स्वामी है उससे लाज किस बात की ?

निरावरण हो जाना ही साधन है। मन की गति विचित्र है। भगवान् को पाए बिना भी नहीं रहा जाता, पर्दा भी हटाते नहीं बनता। भगवान् भी मिलें और आवरण भी रहे, यही जीव की इच्छा है। दुनिया के हँसने और अनावृत हो जाने का भय ही हमें भगवान् से मिलने नहीं देता। परन्तु 'बह' तो हमारे अनावृत हृदय को ही देखना चाहता है। गोपियाँ नग्न होकर, प्रेम-विभोर होकर, सब-कुछ छोड़कर, सर्व-शून्य होकर, लोकलाज को तिलांजलि देकर परम प्रियतम को प्राप्त करने के लिये 'उन' के चरणों में दौड़ी आई हैं। इसी को 'Lifting of the veil' कहते हैं।

श्रीकृष्णोपनिषद में बर्णन आया है कि रामावतार में भगवान् के सुन्दर रूप को देखकर दण्डकारण्य के मुनिजन मुग्ध हो गये। भगवान् के रूप-रस का पान तो उन्होंने किया ही पर वे भगवान् का अंग-संग चाहते थे, भगवान् का आलिंगन करना चाहते थे और उनके अधरामृत से अपने प्राणों को तृप्त करना चाहते थे। उनकी इस आन्तरिक लालसा को देखकर भगवान् राम ने उन्हें बर दिया और वे ही गोपियों के रूप में प्रकट हुए। 'कुछ गोपियाँ चित्त-शक्ति की और कुछ साक्षात् श्रुतियों की अवतार हैं। उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान् के चरणों में सर्वथा समर्पण कर दिया था—वे यही जपती रहती थीं कि—“नन्दगोपसुतं देवि पति मे कुरु ते नमः”—हे महामाये, हे महायोगिनी, हे कात्यायिनि ! आप नन्दगोप के पुत्र कृष्ण को हमारा पति बनाइये ! हे देवि ! हम आपको नमस्कार करती हैं। 'नन्दनन्दन' हमारे पति हों—यही उनके हृदय की निगूढ़तम लालसा है। फिर भी निरावरण रूप से वे श्रीकृष्ण के पास नहीं हैं। थोड़ी-सी भिन्नक थी। यही भिन्नक दूर कर देने के लिए, उनकी साधना, उनके समर्पण को पूर्ण कर देने के लिए भगवान् ने उनका आवरण भंग कर दिया, उनका आवरण रूप चीर हूर लिया।

प्रेमी और प्रियतम के बीच एक हार का व्यवधान भी खलता है। इसी

१. श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वांगसुन्दरं मुनयो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽव्यमवतारान्वं गण्यन्ते आलिंगामो भवन्तिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गय अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपाः नः स्त्रीश्च नो कुरु। अन्योन्यविग्रहं धार्य तवांगस्पर्शानादिह। शश्वत्स्पर्शं यितास्माकं गृह्णीयोऽवतारान्वयम्।

लिये श्रीकृष्ण ने कहा—मुझसे अनन्य प्रेम करने वाली गोपियो ! एक बार, वस एक बार अपने सर्वस्व को और अपने को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही । गोपियों ने कहा—श्रीकृष्ण ! हम अपने को कैसे भूलें ? हमारे जन्म-जन्म की धारणाएँ भूलने दें तब न ? हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है । हम तुम्हारी दासी हैं । परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ ।

परन्तु श्रीकृष्ण इस पदों को कैसे रहने देते ? उन्होंने प्रणय का जादू बालकर इस आवरण को हटा ही दिया । आत्मा के आत्मा श्रीकृष्ण का निरावरण मिलन का मधुर आमंत्रण पाकर गोपियाँ प्रेम में निमग्न होकर प्रियतम के चरणों में दौड़ आयीं । फिर न उन्हें वस्त्रों की सुध रही, न लोगों का ध्यान रहा—उन्होंने न जगत् की ओर देखा, न अपनी ओर !

वैष्णव भक्तों में चीरहरण और रास की लीलाएँ बहुत ही व्याप्त हैं । उनकी प्रेम-साधना का सम्बल ही यही है । इसी भावना के मधुर रस में वे डूबे । मीरा का सरल, निश्छल भावुक रमणी-हृदय इसके लिए सर्वथा उपयुक्त था । वह गाती है—

आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारो,
म्हारे गेल पड़्यो गिरधारी ।

मैं जल जमुना भरन गई थी आ गया कृष्ण मुरारी ।
ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊनी उधारी;
सखी साइनि मोरी हँसत है, हँसि हँसि दे मोहि तारी ॥
सास धुरी अरु नणव हठीली, लार लार दे मोहि गारी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी ॥

इस पद में मीरा बार-बार कृष्ण को 'अनारी' कह रही है । इस 'खीभ' की मिठास पर बरबस मन खिच जाता है । मीरा के पदों में वस इस एक ही स्थान पर चीर-हरण का संकेत आया है । लज्जामयी 'कुल-ललना' का हृदय उक्त 'रस' में डूबकर भी अभिव्यक्ति से बचता रहा, और, रस की गोपनीय साधना में अभिव्यक्ति होती भी कैसे ! बाइबिल की भाषा में कहना चाहें तो भगवान् के लिए उसकी साध ही उसे खा गयी—*"My zeal for the Lord has eaten me up."*

इस ऐकान्तिक माधुर्य-भावपूर्ण भक्ति की साधना मीरा के लिये सहज स्वाभाविक थी । उसमें स्वाभाविक भोलापन और उस रस के ग्रहण के लिये हृदय की पूरी रसमग्नता थी । मीरा के लिये कुछ बनना नहीं था—वह तो नित्यसिद्ध गोपी थी, स्वयं श्री राधारानी की प्रिय सखी ललिता की अवतार थी ।

वेदना का सौन्दर्य

पिउ हिरदय मंह भेंट न होई
को रे मिलाव कहीं केहि रोई ?

— जायसी

मजनुं को लैला के वियोग के कष्ट से सहसा एक शारीरिक बीमारी उत्पन्न हो गयी। शोक की तीव्र जलन से उसके खून में उबाल आ गया जिसके कारण मजनुं के शरीर पर दाने पड़ गये। वैद्य इसका इलाज करने को आया और कहा कि रग से खून निकालने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई इलाज नहीं। खून को निकालने के लिए इसकी रग फाड़ देनी चाहिए। इसको सुनने के पश्चात् एक चतुर फसद खोलनेवाला आया। फसद खोलनेवाले ने मजनुं के हाथ बाँध दिये और अपना नश्तर निकाला। मजनुं ने उसको डाँटकर पूछा—यह क्या है ? तू अपना वेतन ले ले और मेरी फसद न खोल। फसद खोलते वाले ने कहा—भला तुम इस फसद से क्यों डरते हो ? तुम तो वन के शेर, भेड़िये, रीछ, चीते जैसे फाड़ खाने वाले जानवरों से नहीं डरते। मजनुं ने कहा—मैं नश्तर से नहीं डरता। मैं तो पहाड़ से भी अधिक घबरा में घटल हूँ। मैं तो वह तीर खानेवाला हूँ कि बिना तीर लगे मेरे शरीर को चैन नहीं मिलता। मैं तो प्रेमी हूँ और जहम खा-खाकर भकड़ा करता हूँ। परन्तु मेरे सम्पूर्ण शरीर में तो लैला ही व्याप्त है और इस शरीर-रूपी लीपी में उठी मोती की मलक भरी है। इसलिए ऐ उस्ताद ! मुझे डर है कि यदि तू मेरी फसद खोलेगा तो यह नश्तर कहीं लैला के न लग जाय। मुझमें और लैला में कुछ अन्तर नहीं। मैं लैला हूँ और लैला मैं हूँ। प्रत्यक्ष में दो शरीर दृष्टिगोचर हैं परन्तु वास्तव में दोनों में एक ही प्राण है।

कहीं सुन्दर रूप देखकर, कहीं मधुर शब्द सुनकर सुखी प्राणी भी उत्सुक हो उठता है। उसके हृदय में किसी बिछुड़े हुए 'अपने' से मिलने के लिये कातर लालसा जग उठती है, अपने इष्टजन के विरह में प्राण रो उठते हैं—कुछ समझ में नहीं आता कि 'वह' कौन है, पर इतना तो समझ में आता ही है कि 'कोई' है जो हमारे प्राण को प्रणय की डोर से खींच रहा है—

रम्याणि दीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दात्

पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चैतसा स्मरति नूनमवोध पूर्व

भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि—शाकुन्तल

यह उत्सुकता, यह प्रणयोत्कण्ठा जीव-जीव की हृदय-कन्दरा के भीतर निर्मल मणि की तरह जगमग-जगमग कर रही है। कविता सदा इस हृदयमणि को उद्घाटित करती आई है।

मध्याह्न का समय था। महर्षि वाल्मीकि माध्याह्निक सन्ध्या करने के लिये तमसा के तट पर आये। उन्होंने पार्श्व में ही व्याधा के बाणों से क्राँच के जोड़े में एक को ग्राह्य देखा और दूसरे को उसके विरह में छटपटाते। ऋषि इस करुण दृश्य को देखकर अपने को संभाल नहीं सके। उनका हृदय रो उठा। ऋषि के हृदय में करुणा का जल हलचल मचाने लगा। हृदय उमड़ आया। श्रौंखों से अश्रुधार बहने लगी। इसी हृदयावेग में अनायास अन्तः का शोक श्लोक बन गया—

“मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।

यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

ऋषि का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा। छन्द, लय, ताल तो स्वयं आ गये। पीछे जाकर इस छन्द का ‘अनुष्टुप’ नाम पड़ा। करुणा की गहरी टेस से ऋषि में सोया हुआ ‘कवि’ जाग गया। फिर तो छन्दों का वह अबाध प्रखर प्रवाह चला कि सारा संसार उसमें बह गया। आदि कवि की यह व्यथा उनके ‘महाकाव्य’ का कारण बन गयी और काव्य की दृष्टि से अब भी वह महाकाव्य संसार का शिरोमणि है। दांते ने वियेट्रिस को बस एक ही वार देखा था—नदी-तट पर; उस अनिद्य सुन्दरी की रूप-ध्री में कवि का विह्वल हृदय सदा के लिए डूब गया और उसका समस्त काव्य उस प्रणयस्मृति से प्रीत-प्रीत है। प्रणय तथा तज्जन्य वेदना की बांसुरी समस्त हृदयों में एक-सा आघात करती है, क्योंकि हृदय हृदय एक है—सब हृदयों में एक ही सुर बजता रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश में दार्शनिक, सन्त एवं कवि होता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश में पुरुष एवं नारी दोनों होता है; किसी में पुरुषत्व की विशेषता रहती है, किसी में स्त्रीत्व की। एक व्यक्ति में दार्शनिक का चिन्तन जिस अंश में है उतने अंश में वह पुरुष है और जितने अंश में कवि का संवेदन है उतने अंश में स्त्री है। लगता है कि कविता प्रधानतः नारी-हृदय का धर्म है। परन्तु बिना पुरुष और नारी के ‘एक’ हुए जीवन का कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। इसी को प्रेमियों की भाषा में प्रिया और प्रियतम का मधुर आलिंगन में ‘एक’ हो जाना—

“identification with the Almighty Lover in a passionate embrace” कहते हैं।

दार्शनिक के चिन्तन में कवि की संवेदनशील अनुभूति तथा कवि के संवेदन में दार्शनिक का गूढ़ चिन्तन जब पूर्णतः अलक्ष्य रूप से ओत-प्रोत होकर मिल जाता है तभी दर्शन एवं कविता दोनों अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। अतएव दार्शनिक में अनुभूति एवं कवि में चिन्तन का होना अपरिहार्य है। प्रेम और ज्ञान का जब सम्मिलन होता है तभी जीवन का अन्तः-सौन्दर्य खिल उठता है। प्रेम ही ज्ञान का रस है—ज्ञान ही प्रेम का प्रकाश है। प्रेम गहरे में उतरकर ज्ञान बन जाता है और ज्ञान हृदय के रस में डूबने पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध में मेटार्सिक की ये पंक्तियाँ स्मरण हो जाती हैं—‘Wisdom is the lamp of love and love is the oil of the lamp. Love sinking deeper grows wiser; and wisdom that springs up aloft comes over the nearer to Love.’ हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सामंजस्य ही तो जीवन की चरम अभिव्यक्ति है।

खिले हुए फूलों, गदराई हुई अमराइयों, फूलों से लदी हुई लतावल्लरियों, भरनों के चिर अभिनव संगीत, तारों की अलीकिक झिलमिल भेदभरी छटा, पीयूष-वर्षा चन्द्रमा को देख विशाल समुद्र के हृदय-देश में अपूर्व उद्वेलन, ऊषा और संध्या की मनोहारिता, रमणी के निखरे हुए सौन्दर्य तथा शिशु की कोमल, मधुर मुसकान आदि में एक अपूर्व आकर्षण है जो हमें अपनी ओर केवल आकर्षित ही नहीं करता अपितु हमारे हृदय को गुदगुदा देता है। इनमें हम उस ‘परम छवि’ की विकीर्ण आभा पाते हैं। ‘देखेउँ परमहंस परिछाई। नैन जोति सो बिछुरत नाही।’ हमारे अन्तस् में कोई शीतल अथवा मधुर संस्पर्श की अनुभूति होती है। कोई हमारा ‘अपना’ है जो इस शोभा का जाल बिछाकर हमें अपनी ओर खींच रहा है, बुला रहा है। प्रेम की बंसी लगाकर वह हमारे हृदय को आकर्षित कर रहा है। बंसी की डोरी इतनी लम्बी है कि हम उस अलक्ष्य ‘शिकारी’ को देख नहीं पाते, फिर भी हमारा हृदय उसी बंसी की गाँस में बेतरह उलझ गया है। हम अनुभव करने लगते हैं कि उस महा-तेजस् के हम भी एक अंश हैं जिसके चारों ओर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने ग्रह-नक्षत्रों के साथ चक्कर काट रहे हैं। हम अनुभव करते हैं और हमारे हृदय में एक हूक उठती है—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी—

उस ज्वालामयी जलन के,

कुछ शेष चिह्न हैं केवल

मेरे उस महा मिलन के—आँसू,

प्यार की चोट खायी हुई मीरा ने स्थान-स्थान पर 'पूरव जनम की ब्याही', 'जनम-जनम की कौवारी', 'मेरी उनकी प्रीत पुराणी', 'पूरव जनम को कौल', 'जनम-जनम की दासी', आदि पदों में अपना-उनका अनन्त सम्बन्ध माना है और इस सम्बन्ध के कारण ही उसे उस पर 'अधिकार'-सा प्रतीत होता है। मीरा के काव्य में जितना भी भाव-सौन्दर्य है उसके मूल में यह आत्मीयता की भावना ही है। मीरा का सारा काव्य परम प्रियतम के पथ में आत्मा के अभिसार तथा अभिसारपथ की अनुभूतियों से भरा पड़ा है। इसलिए उसमें जीवमात्र की व्यथा प्रतिबिम्बित हो रही है। कवि का अपना अनुभव जब जीव-जीव के अनुभव के रूप में प्रकट होता है, जब उसके निजी अनुभव का 'साधारणीकरण' हो जाता है तभी उसका काव्य काव्य है। मीरा का 'दुःख' सर्वथा अपना होते हुए भी मानवमात्र का है। हम सभी उस दुःख में धुलते रहते हैं, उसकी तीव्रता का गहरा अनुभव हम मीरा की तरह भले ही न करें। मीरा के काव्य की प्रभविष्णुता का सबसे प्रबल कारण है उसका सरल-निश्छल भावाभिव्यंजन। मीरा की वेदना जीवमात्र की वेदना है, भगवान् से बिछुड़े हुए और उसके प्यार में तड़पते हुए जीवमात्र की अन्तर्व्यथा है।

शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक सुखान्त नाटकों की अपेक्षा हमारे हृदय को क्यों अधिक प्रभावित करते हैं ? हैमलेट, मैकबेथ और आथेलो तथा लियर को पढ़ते समय हमें अनुभव होता है कि जीवन की यही सही तसवीर है। उनकी समस्या हमारी अपनी समस्या हो जाती है, उनका दुःख हमारा दुःख हो जाता है और इसीलिए इन नाटकों में 'मानस-प्रक्षालन' (katharsis) की अपूर्व क्षमता है। यही बात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के साथ भी है। यदि दुष्यन्त चुपचाप शाकुन्तला को स्वीकार करके अपने अन्तःपुर में रख लेता तो फिर हम 'शाकुन्तल' को क्यों पढ़ते ? 'शाकुन्तल' का सौन्दर्य तो इसी में है कि निर्दोष शाकुन्तला का प्रत्याख्यान हुआ, वह मरीचि के आश्रम में प्राणघन की प्रणय-प्राप्ति के लिये साधना में लीन हो गयी। शृङ्गार जब करुणा में तपता है तभी उसका वास्तविक सौन्दर्य निखर उठता है। हमारी वेदना को उभारने वाले दृश्यों एवं उपकरणों का हमारे हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है उसके आघात-प्रत्याघात से स्वयं हमारे 'भीतर' संगीत छिड़ता है और वही संगीत 'कविता' है।

'कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में रूप-रस की मदिरा छलक रही है, परन्तु वह पाँचवें सर्ग में तपस्या की आँच में पवित्र हो जाने के बाद ही 'पेय' होती है। शाकुन्तल के तीसरे अंक में जिस संभोग-शृङ्गार का वर्णन है वह इतना मादक है कि उसे स्थिर और स्थायी बनाने के लिये कवि ने उसे तपश्चर्या की आँच में तपाया है। 'उत्तर रामचरित' का तीसरा अंक पढ़कर 'अपि आवारो-

दत्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्—वज्र का हृदय भी फूट-फूटकर रो पड़ता है। छाया सीता का समावेश कराकर भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' को विश्व के करुणरस-काव्य में सर्वश्रेष्ठ बना दिया है।

कवि के हृदय की व्यथा जब पाठक के हृदय में डलकर अपना नशा लाती है तभी काव्य का सच्चा और पूर्ण रसास्वादन हो पाता है। इसे सभी जानते हैं कि संगीत में वेदना और उल्लास के दो तार हैं; वेदना का गम्भीर एवं प्रभावशाली तथा उल्लास का हलका और क्षणिक। वेदना के गीतों का स्थायी प्रभाव सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। महाकवि भवभूति ने 'एकोरसः करुण एव', शेली ने "Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts" तथा पंत ने 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' द्वारा इसी सार्वभौम सत्य को व्यक्त किया है। 'करुणा' ही हमारे जीवन के अन्तर्जगत् की मूल एवं सच्ची अभिव्यक्ति है। इसी में वह शक्ति है जो हमारे हृदय के तार-तार को भङ्कृत कर दे।

पर संसार के प्रत्येक रूप में 'उसी' का सौन्दर्य छलक रहा है, मानो पद की ओट में, जहाँ भी पर्दा है, आवरण है, उसके भीतर वही 'जल्वागर' वही 'पर्दानशी' छिपा हुआ है। हृदय जहाँ भी, जिसके द्वारा भी मुग्ध होता है, यह निश्चय है वह मुग्ध करनेवाला और कोई नहीं है, वही 'छलिया' है। उसके प्यार में हृदय रम रहा है, उसकी खोज में हृदय का स्पन्दन है। इस संसार के जिस किसी भी सुन्दर पदार्थ को हम प्यार करते हैं—हमारा प्यार उसी 'एक' को ही पहुँचता है, हम उसी 'एक' को ही वस्तुतः प्यार करते हैं।

विरह और मिलन, वेदना और उल्लास, दुःख और सुख मानव-जीवन के दो तार हैं। अद्वैत रूप में तो निखिल ब्रह्माण्ड तेजोमय, प्रणवमय, प्रकाशमय परमात्म स्वरूप है। सब कुछ 'एक' है। यह विश्व उस 'एक' की छाया या कृति ही नहीं है अपितु वही वह है। जायसी ने 'रुख समाना बीज मँह' तथा 'दूध माँझ जस घीउ' है—द्वारा उस परम रस से ओत-प्रोत इस ब्रह्माण्ड की भावना प्रकट की है। मीरा ने कहा है, 'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा'। मिश्री में मिठास वाली उपमा भी दी जाती है। 'वह' भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे ओत-प्रोत हो रहा है, स्वयं अपने को बिखेरकर अणु-अणु में रम रहा है। निमित्त भी वही है, उपादान भी वही है। विश्व ब्रह्ममय है, सच्चिदानन्द-स्वरूप है; जो परिवर्तन हम देख रहे हैं वह मायाकृत, अज्ञानजन्य है। सोने के अलंकार रूप में बदल जाने पर भी उसका स्वर्णत्व नहीं मिटता। कलाकार अपनी कला रूप में स्वयं विद्यमान है—उसके भीतर भी और बाहर भी। उस चरम सौन्दर्य को उपनिषद् के 'कवि' ने—

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः

तमेव मान्तमनुभाति, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति ।

द्वारा उसी एक परम ज्योति की ओर लक्ष्य किया है जिसकी ज्योति से सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्र भासमान हैं। पुनः साधना के सँकरीले पथ की फिसलन का ध्यान रखते हुए उन्होंने साधक को पैर टिकाने के लिये कहा—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

अर्थात् जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य में एकाकार हो जाता है उसी प्रकार साधक साधधानी से प्रणव के धनुष पर आत्मा का बाण चढ़ाकर ब्रह्म में तन्मय हो जाय।

वही सच्चिदानन्दधन ब्रह्म भक्तों का परम प्रियतम प्राणाधार प्राणसखा है जो भक्तों के प्रेम के लिये उनके पीछे-पीछे घूमा करता है, भक्तों की चरण-शूलि से अपने को पवित्र करने के लिये—“अनुव्रजा म्यहं नित्यं पूययेदंघ्रि-रेणुभिः ।” वही परब्रह्म परमात्मा भक्त के प्रेम-परवश होकर भक्त का सखा, स्नेही, मित्र, पुत्र, पत्नी बनकर भक्त के प्रेम का रसास्वादन करता और अपनी प्रीति का आस्वादन कराता है। प्रेमलीला की स्फूर्ति के लिये ही यह सारा द्वैत है जो अद्वैत का ही चिद्विलास है। श्रीमद्भागवत में इसी का संकेत है—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद्भूजानमव्ययम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥ १. २. ११.

हमारी आत्मा ही उस परम प्रियतम की प्रणयिनी है और जब तक दोनों का मिलन नहीं होता, जब तक दोनों मिलकर ‘एक’ नहीं हो जाते तब तक हमारा एकमात्र यही कर्तव्य है कि असीम धैर्य के साथ उस प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करें, हृदय का द्वार खोलकर, अन्तर में प्रेम की बाती बालकर। यह प्रतीक्षा ही जीवन की परम मधुर अनुभूति है—

“The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but the light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts and to be united with His consoling and all-absorbing embrace.”

मोह से आक्रांत अर्जुन को भगवान् ने जब अपना विराट विद्वरूप दिखाया तब अर्जुन के अन्तरचक्षु खुले। आँखें खुलीं तो देखा कि सब-कुछ कृष्णमय है। अणु-अणु में केवल वही ‘एक’ है। सर्वत्र उसी एक जल्वे को

देखकर अर्जुन कांप उठे और भगवान् के चरणों में गिरकर साष्टांग दण्डवत करते हुए, भय से कांपते हुए स्वर में कहने लगे—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधत्स्य कार्यं

प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।

पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्यः

प्रियः प्रियायाहंसि देव सोढुम् ॥

‘प्रभो ! तुम्हारे चरणों में आर्त्त होकर गिरा हूँ । तुम विश्ववरेण्य हो । जिस प्रकार पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर देता है उसी प्रकार तुम भी मेरे अपराध को क्षमा कर दो ।’ अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को पिता कहा, फिर सखा कहा परन्तु तृप्ति नहीं हुई; अन्त में परमप्रियतम प्राणेश्वर रूप में पाकर ही उसके प्राण जुड़ा गये । ‘उसे’ हम सर्वत्र देखते हैं परन्तु पहचान नहीं पाते । पता नहीं ‘वह’ किन-किन रूपों में हमारे पास आता है और हमसे तिरस्कृत होकर लौट जाता है । फिर भी उसका आना और हमारा भूलना चलता रहता है । हमारी खोज हमारे निजी जीवन के वास्तविक व्यापार से अलग होकर चलती रहती है परन्तु वह तो हमारे जीवन के अन्तस में, सूक्ष्म रूप में, प्रतिपल, प्रतिक्षण बोल रहा है, सम्मुख आ रहा है । हम इसे जीवन का साधारण व्यापार समझ आँखें फेर लेते हैं और ‘उसे’ पा नहीं पाते । ‘वह’ हमारे जीवन की चलती धारा में ही हमारी आसक्ति के पर्दे को हटाने आता है । पर ‘उस’ के चुम्बन का रस हमारे अघर अनुभव नहीं कर पाते, उसके आलिंगन का आनन्द हमारे हृदय को पूरी तरह नहीं मिल पाता, उसकी आँखों का नशा हमारी आँखों में नहीं उतर पाता । वस्तुतः हम कुछ ऐसे व्यस्त से हैं कि हमें इस महामिलन की सुघ तक भी नहीं आती, इसके स्पर्श की सिहरन को अनुभव करना तो दूर रहा । परन्तु एक बार ठेस लगती है और हमारी आँखें खुलती हैं । हम देखते हैं जीवन की प्रत्येक धड़कन में ‘वही’ तो बोल रहा था । लज्जा से हमारा सिर झुक जाता है । हम उसके चरणों में अपना सिर टेककर कहते हैं—प्रभो ! क्षमा करो ! मेरी इस चिर विस्मृति को क्षमा कर दो ! तुम मेरे भाई हो, माता हो, पिता हो, मित्र हो, सखा हो... नहीं-नहीं पति हो, सर्वस्व हो, प्राणाधार हो । मेरी भूल क्षमा कर दो, प्यारे ! उस समय जब हम उसके साथ अपने इस सम्बन्ध का अनुभव करने लगते हैं तब हमारा पहाड़-सा भी अपराध कितना नन्हा दीखता है । प्रणयी अपनी प्रियतमा के अपराध की ओर ध्यान नहीं देता । वह सर्वथा सब काल उसी की है अतः वह उसके अपराधों का ध्यान न कर उसे सदा हृदय में बसाये रहता है । उस समय अपराध स्वयं प्रणय का रूप धारण कर लेते हैं । इस प्रकार परमात्मा को परम प्रियतम के

रूप में पाकर आत्मा की चिरन्तन भूख-प्यास शान्त होती है, क्योंकि उस अवस्था में हम अपने 'प्यारे' को शरीर-मन-प्राण से, सब प्रकार से, शरीर से शरीर को, मन से मन को, प्राण से प्राण को पाकर अपने-आपको पूर्णतः जुड़ा पाते हैं। मिलन के इसी आनन्दोल्लास में मीरा ने कहा—

म्हारी ओलगिया घर आया जी ॥

तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी ।

घन की घुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ घ्राणंद आया जी ।

मगन भई मिली प्रभु अपनासूँ, भौ का दरद मिटाया जी ॥

खँद को देखि कमोदणि फूलै, हरखि भया मेरी काया जी ।

रग रग सीतल भई मेरी सजनी, हरिं मेरे महस सिधाया जी ॥

सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु में पाया जी ।

मीरा बिरहणि सीतल होई, दुख दुन्द दूर नसाया जी ॥

तथा

जोसीड़ा ने लाख बघाई रे, अब घर आयो स्याम ॥

आजि आनन्द उमंगि भयो है, जोव लहै सुखधाम ।

पाँच सखी मिली पीव परसि कै, आनँद ठाम ठाम ॥

बिसरि गई दुख निरखि पिया कूँ, सुफल मनोरथ काम ।

मीरा के सुखसागर स्वामी, भवन गवन कियो राम ॥

यहाँ 'पाँच सखी' का अर्थ है—शरीर, मन, प्राण, हृदय और आत्मा । इन सभी के द्वारा उस परम प्रियतम के मिलन की आनन्दोपलब्धि हुई । ये वचन हुए ।'

परमात्मा को पति के रूप में अनुभव करते हुए अपने को उसके चरणों में सम्पूर्ण भाव से आत्म-समर्पित करने की भावना को ही 'परम भाव' या मधुर भाव कहा गया है । उस समय जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, मिलन

1. "Mystical love then burns with a sacred flame which lights up and dedicates to God all that is noble and pure as well as the ignoble and sensual in the mind. In the cup of reciprocal tenderness and devotion, full to the brim and spilling on all sides repression or fulfilment, holiness or unholiness are swept away and in the new innocence and spontaneity of the senses a human passion stands unmasked and unabashed only for Unity with God."

और विरह का द्वैत नष्ट हो जाता है। अपना भला-बुरा सब-कुछ प्राणधन के चरणों में निछावर हो जाता है। बस एक ही राग, एक ही आलाप, एक ही ताल और एक ही स्वर रह जाता है—'भेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो ब कोई।' हम अनुभव करने लगते हैं कि संसार की जो कुछ छवि है 'उस' की है, जो कुछ रूप-माधुरी है उसी की है। यहाँ द्वैत रहते हुए भी अद्वैत है; अद्वैत होते हुए भी द्वैत है। स्पष्टतः कुछ द्वैत और अद्वैत की भाषा में इस रस को नापा नहीं जा सकता। इसी से यह अचिन्त्य भेदाभेद की अनिर्वचनीय स्थिति है। लहर समुद्र से उठती और समुद्र में ही लीन हो जाती है और वह जल ही जल है। फिर भी लहर और समुद्र का परस्पर विलास प्रेम का आधार लेकर ही तो है। बस यही स्थिति प्रेम की चरम स्थिति है।

सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर
 दाढ़ देखे एक को दूजा नाहीं और।
 हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई
 बूंद समानी समंद में सो कत हेरया जाइ ॥
 हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई।
 समंद समाना बूंद में सो कत हेरया जाइ ॥

उस विराट् मिलन में सारी प्रकृति सराबोर है। बूंद में सारा समुद्र डूब रहा है। नक्षत्र और ग्रह उसी मिलन की तैयारी में चक्कर काट रहे हैं। उसी से मिलने के लिए समुद्र अपना हृदय-सिंहासन बिछाए हुए है। उसी के लिए पृथ्वी अनवरत गति से गतिशील है—रात-दिन, प्रति पल, प्रति क्षण। व्यक्तिगत साधना की चरम अनुभूति में जब हम अपने उपास्य में एकाकार हो जाते हैं, 'तन्मय' हो जाते हैं, तब हमारे लिए दूसरा कुछ रह नहीं जाता—

लगी मोहि राम खुमारी हो
 रम जम बरसै मेहड़ा भीजे तन सारी हो ॥
 चहुँ दिस चमकै दामणी गरजै धन भारी हो ॥
 सत गुरु भेद बताइया खोलि भरम किवारी हो ॥
 मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो ॥

ऐसा भान होता है कि एक क्षण के लिए मिलकर हम उससे बिछुड़ गए हैं, उससे जिसके बिना हमारा जीवन ही असंभव है, जो हमारे प्राणों का प्राण एवं जीवन का सर्वस्व है। क्षणिक मिलन में पाये हुए उस अमर चुम्बन के दाब को हम अपने अघरों पर देखकर वेदना से विह्वल हो उठते हैं। हृदय की घड़कन में भी वही 'परदानशी' अपना राग आलाप रहा है, हमारी साँसों में भी उसी की तान छिड़ी हुई है फिर भी वह हमारी पकड़ में नहीं आता। यह

कैसी पहेली है ! हमारी 'स्मृति' को जगाकर 'वह' छिप जाता है। हम कराह उठते हैं—हाय ! यह क्या हुआ ? हमारा-तुम्हारा मिलन इन असंख्य नक्षत्रों ने देखा है, इस वसुन्धरा ने तुम्हें हमारे अघरों का चुम्बन लेते देखा है। इस चन्द्रमा ने हमारे-तुम्हारे आलिंगन को देखा है। इस संसार के सभी प्राणी हमारे-तुम्हारे इस मधुर गोपनीय सम्बन्ध को जानते हैं, और आज उसका यह उपहास, उस प्रेम की यह उपेक्षा ? अरे, आज तुम मुझे लज्जित क्यों कर रहे हो ? इन नक्षत्रों, चन्द्रमा, सूर्य, वसुन्धरा के विविध उपकरणों के सामने कौन-सा मुख लेकर आऊँ ? एक क्षण के लिए अपने भुजपाश में बाँधकर अनन्त काल के लिए तुमने विरह की आग में जलने के लिए छोड़ दिया है !

इस प्रकार प्रेम और सौन्दर्य के रूप में प्रभु को पाकर उसके मधुर मिलन और रसमय विरह में मनुष्य की सारी वासनाएँ और लालसाएँ अपने-आपको लय कर देती हैं। आनन्द और विषाद, ज्ञान और अबोधता सब-कुछ उसी 'एक' में लोप कर मनुष्य अमर जीवन के आनन्द का उपभोग करने लगता है। एक बार प्रेम के मधुर आकर्षण में मुग्धा राधा को बाँधकर आजीवन तड़पने के लिए छोड़कर नटनागर चले गये। कण्व के आश्रम में अलहड़ शकुन्तला को प्रेम-बाण से घायल कर दुष्यन्त ने उसे अपनी भुजाओं में बाँध लिया, परन्तु फिर उसी छद्मप्रणयी ने अनाथ, गर्भवती शकुन्तला का भरी सभा में प्रत्याख्यान किया। स्त्री-सुलभ कौतूहल-प्रियता में पार्वती ने शिव से राम के विषय में पूछा। जरा-सा अपराध परन्तु युग-युग के लिए परित्याग ! आग में अपनी परीक्षा दे चुकने पर भी गर्भवती सीता का अवधिहीन निर्वासन ! इन्हीं अलहड़ परित्यक्त गोपियों, राधा, पार्वती, सीता और शकुन्तला की मूर्तियाँ जो हमारे काव्य की चिर-निधि हैं, हमारे अन्तस्तल से बोल रही हैं और हमें हमारे उस 'महामिलन' की स्मृति दिला रही हैं।"

उस रूप-सुषमा का कभी भी अन्त नहीं होता। वह नित्य-नूतन और अनन्त-यौवन है। इसलिए वहाँ सदा ही अनन्त उपभोग है—वहाँ इस उपभोग में मन-प्राण को किसी प्रकार की क्लान्ति या थकान का बोध नहीं होता।

जिस वस्तु को हम पा लेते हैं अथवा इच्छा करते ही पा सकते हैं, उसके प्रति हमारा वैसा कुछ 'अनुराग' नहीं रहता। किन्तु 'उस' को पाकर भी हम

1. "God as Love and Beauty fulfils all man's fundamental impulses and interests. Love becomes the eternal expression of infinite beauty. The human lover becomes timeless in his sense of joy and beauty and foretastes the life immortal."

पूरे तौर से नहीं पाते, 'उसे' लेकर भी पूरे तौर से लेना नहीं होता—'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च'—उसकी रूप-श्री और लावण्य की कहीं इति नहीं है, उसके सौन्दर्य-माधुर्य की सीमा नहीं बाँधी जा सकती। उस रूपवान चिर-सुकुमार को सदा पाकर भी सदा पाते रहने की इच्छा बनी रहती है और हृदय बार-बार कुहक उठता है—

भज सखे ! भवत्किङ्करीः स्म नो
बलशहाननं चाद्य बर्षय ।

मीरा के आविर्भाव-काल में भक्ति की धाराएँ

भगवान् शंकराचार्य के शुष्क ज्ञानवाद में जनता की वृत्तियों का पूरा-पूरा रमना सम्भव न था। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक स्वामी रामानुज ने जन-समुदाय के हृदय को आकृष्ट करने के लिए एक बहुत बड़ा सहारा ढूँढ निकाला। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत में 'प्रपत्ति' या शरणागति की साधना मुख्य रही और महाविष्णु के साथ महालक्ष्मी की उपासना चली। महालक्ष्मी ही इस सम्प्रदाय की आचार्या हैं, इसीलिए इसका नाम 'श्रीसम्प्रदाय' हुआ। क्रमशः भगवान् श्रीकृष्ण का लोकरक्षक, लोकरंजक रूप जनता के सामने आया, परन्तु श्रीमद्भागवत के पीछे श्रीकृष्ण का लोकसंग्रही रूप क्रमशः हटता गया और वे कार्यक्षेत्र से हटकर प्रेम के मधुर आलम्बन मात्र रह गए। श्रीमद्भागवत में अनेक दुष्टों और राजसों को सुगति देने वाले, गोवर्धन धारण करने वाले श्रीकृष्ण के रूप पर हमारा ध्यान उतना नहीं गया जितना गोपियों के साथ उनकी मधुर-मधुर लीलाओं पर। महाभारत के वीराग्रगण्य श्रीकृष्ण का रूप हमारी आँखों के सामने उतना नहीं ठहर सका जितना भागवत के प्रेमी श्रीकृष्ण का। श्रीवल्लभाचार्यजी ने तो लोक और वेद दोनों का अतिक्रमण करके भगवान् श्रीकृष्ण के लोकसंग्रही रूप को स्पष्ट शब्दों में हटाया। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई और इसी से इसमें रहस्य-भावना की गुंजाइश हुई। स्वामी बल्लभाचार्य (सं० १५३६-१५८७ वि०) ने जनता के सामने सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की एकान्त भक्ति का एक बहुत ही सुव्यवस्थित निखारा हुआ रूप उपस्थित किया। स्वामी श्रीनिम्बाकाचार्य ने इसी भक्तिधारा को और भी अधिक हृदयग्राहिणी और आकर्षक बनाया।

राधा का स्पष्ट उल्लेख जो श्रीमद्भागवत में खटक रहा था वह इन वैष्णव आचार्यों द्वारा पूरा हुआ। भक्ति-प्रेम में लय हो जानेवाली कही गई और प्रेम के आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, संचारी आदि की पूर्ण व्यवस्था द्वारा जनता के सम्पूर्ण हृदय को इन प्रेममार्गी आचार्यों ने प्रेम-भक्ति से अभिभूत कर दिया। हृदय में प्रेम की प्रेरणा द्वारा समस्त इच्छाएँ एवं कामनाएँ भी कृष्णार्पण हो गईं। भक्तजन अपमान और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलने लगे।

व्यक्तिगत आत्मानुभूति के लिए 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति भले ही सम्भव हो, परन्तु जनता के हृदय में प्रवेश कर भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं

विश्वास का भाव हड़ करने वाले तो ये भावुक, भक्तिवादी, द्वैत-सम्प्रदाय के आचार्य ही हुए। अद्वैत को लेकर जीवन के सभी कर्म और व्यवहार में ब्रह्मात्मैक्य की अक्षुण्ण भावना बनाए रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। स्वामी शंकराचार्य ने भी इस कठिनाई का अनुमान पहले ही कर लिया था और इसी हेतु गीता-भाष्य के आरम्भ में श्रीकृष्ण को परमेश्वर, माया के अधीश्वर, नियंता तथा साक्षात् नारायण माना है। उनके प्रसिद्ध अनुयायी 'अद्वैतसिद्धि' के रचयिता, अद्वैत में परम निष्णात और तत्त्वविद् ब्रह्मज्ञ श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती ने तो 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' ही कहा था। उनका प्रिय प्लोक आज भक्तों के गले का हार हो गया है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरवामात्

पीताम्बरादरणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूणेंद्रु सुन्दर मुख्तादरबिन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

जिनके कोमल हाथ मुरली से सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अंगों की आभा नूतन जलधर के समान साँवली है, तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्ब-फल के समान नाल-लाल होंठ, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्ण से बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्व को नहीं जानता। इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर-से-कट्टर मायावादियों ने भी भक्ति का आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप माना है।

मीरा का जन्म लगभग सं० १५५५ विक्रम माना जाता है। इस समय देश में भक्ति और ज्ञान की अनेक धाराएँ चल रही थी। इनकी गतिविधि को जान लेना आवश्यक होगा।

सबसे पहली धारा निर्गुण सन्तों की है। मीरा के ठीक सौ वर्ष पूर्व कबीर का जन्म हुआ था। उनका पंथ अभी भी बड़े वेग से चल रहा था, यद्यपि उसमें भी जप, माला, छापा, तिलक का प्रवेश हो चुका था। फिर भी मूर्तिपूजा, छुआछूत, तीर्थाटन, संस्कार, जाति-पाँति आदि का विरोध करने वाली रमते फक्कड़ साधुओं की टोली देश में 'निर्गुन' के पद गा-गाकर तथा अपने मन से भी रचे हुए पदों को 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' का भोग लगाकर प्रचार-कार्य में व्यस्त थी। उनमें न कबीर की तरह आत्मानुभूति ही थी और न आत्म-विश्वास का प्रखर तेज ही। हाँ, 'निर्गुन' चिन्तन का लग्गा लगा रहा।

इन्हीं 'निर्गुनिये' फकीरों की भाँति गोरखपंथी दल भी तन्त्र, रसायन और हठ-योग द्वारा 'योग' का प्रचार कर रहा था। 'त्रिकुटी महल' में 'प्रीतम की सेज' सजाने वाले इड़ा, पिगला और सुषुम्ना को साधकर ब्रह्मानन्द में लय हो जाते थे। मेरूदण्ड जहाँ पायु और उपस्थ के बीच में लगता है वहीं एक

त्रिकोण चक्र में स्थित स्वयंभू लिंग है जो साढ़े तीन वलय में लिपटकर सर्प की भाँति अवस्थित है। इसे ही 'कुण्डलिनी' कहते हैं। मेरुदण्ड की बायीं ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना है। उसी के भीतर 'ब्रह्मनाड़ी' है जो कुण्डलिनी के ऊपर चढ़ने का असली मार्ग है। इसे ही बगकर सुरंग सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ब्रह्म-रंघ्र तक पहुँचने वाले इन तांत्रिक हठ-योगियों का भी दौर-दौरा राजस्थान में विशेष रूप से था। उन दिनों, सच पूछा जाए तो राजस्थान में निर्गुणियों और इन गोरखपंथियों की अजीब खिचड़ी पक रही थी।

मीरा के जीवन-काल में ही उत्तर की ओर पंजाब में गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९६ वि०) ने अपने मत का प्रचार किया, जिसमें निर्गुण निराकार की साधना के साथ-साथ नाम-प्रेम का अटूट सम्बन्ध था।

जायसी का 'पद्मावत' वि० सं० १५९७ में लिखा गया था। 'पद्मावत' के पूर्व 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि प्रेम-गाथा की पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। इससे स्पष्ट है कि सूफी फकीरों का प्रभाव उस समय देश में कम न था। 'प्रेम की पीर' लेकर हिन्दू-जीवन के भीतर अपनी प्रेम-साधना को जाग्रत करने वाले 'इस्क-हकीकी' के इन प्रेम-प्रवण भावुक कवियों ने देश में एक अपूर्व लहर चला दी थी। अवधी भाषा में, सीधे-सादे दोहे-चौपाइयों में अपूर्व सहृदयता से अपने 'हिय की पीर' को व्यक्त करने वाले इन प्रेममार्गी सूफी कवियों के गीत का देश ने बड़े उत्साह, चाह और उल्लास के साथ स्वागत किया।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव (सं० १५४२-१५९०) श्री वल्लभाचार्य के सम-कालीन थे। इधर ब्रजमण्डल, गुजरात-काठियावाड़ में वल्लभाचार्य कृष्ण-भक्ति में लीला-विहार का प्रचार कर रहे थे, उधर बंगाल में महाप्रभु श्री चैतन्यदेव नाम-प्रचार में लीन थे। श्री चैतन्यदेव ने भाव-प्रवाह में रमकर कीर्तन की प्रथा चलाई और 'महाभाव' का मूर्तिमान् आविर्भाव हुआ। प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य ही भगवान् की प्रधान विभूति मानी गई, जिसका गौरांग महाप्रभु ने अपने प्रेम-नारायण भावमग्न हृदय में पूर्णतः अनुभव कर व्यक्तिगत साधना का वह स्रोत बहाया जिसमें लोक-हृदय को रम जाने का पूर्ण अवकाश एवं क्षेत्र मिला। पथभ्रान्त मानवता को नाम और लीला का आधार मिला।

इसी प्रकार गुजरात में भक्तप्रवर श्री नरसी मेहता की भक्तिधारा में जनमानस को दिव्य आनन्द मिल रहा था। नरसी ने शिव की कृपा से महारास के रस का पान किया था और वही दिव्य शृङ्गार इनके पदों में स्रोतप्रोत है। अस्तु महाप्रभु चैतन्यदेव, श्री नरसी मेहता और जयदेव का काव्य-प्रवाह उन दिनों इस देश को विशेष रूप में प्रभावित कर रहा था।

रूप एवं लीला में विहार करने वाले नवद्वीप के इस परम भावुक प्रेमी भक्त

ने आनन्द का जो स्रोत बहाया वह जयदेव के 'धीर समीरे यमुना तीरे बसति बने वनमाली' में पूर्णतः व्याप्त था। शृङ्गार की, मिलन-माधुरी की जो पराकाष्ठा 'गीत-गोविन्द' में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार मैथिल-कोकिल विद्यापति के 'जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरिपित भेल' में भी प्रेम की अनन्त अतृप्त आकांक्षा की बड़े ही भावपूर्ण, मधुर छन्दों में उद्भावना हुई है। जयदेव तथा विद्यापति सम्भोग-शृंगार के अपूर्व कवि हैं। नव-द्वीप की यही पुनीत प्रेमधारा जो गीतों में बह रही थी, मिथिला की अमराएषों में विरमती हुई ब्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ की चरणरज को लेकर नवीन चेतना एवं प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की प्रेम की उस पगली पूजारिन के आँगन में उतरी।

रागानुगा भक्ति और गोपीभाव

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत् ।

तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते ॥

—भक्तिरसामृतसिंधु

इष्ट विषय में गाढ़ तृष्णा—यह है रागानुगा भक्ति का स्वरूप लक्षण और इष्ट में आविष्टता—यह है तटस्थ लक्षण । श्री जीव गोस्वामी अपने 'भक्ति-सन्दर्भ' में इसकी यों व्याख्या करते हैं—

तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गोच्छ्रामयः प्रेमरागः यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ तादृशा एवात्र भक्तस्य श्री भगवत्यपि राग इत्युच्यते ।

अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों को स्वभावतः ही विषय-संसर्ग की इच्छा होती है—जैसे आँखों से सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कानों से मधुर राग के प्रति खिचाव, उसी प्रकार भक्त को जब श्री भगवान् में आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है तो उसे 'रागानुगा' कहते हैं ।

श्री कृष्णदास कविराज ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' में इसी विषय की व्याख्या की है जो श्री जीव गोस्वामी कृत 'भक्ति रसामृतसिंधु' की व्याख्या से बहुत मिलती-जुलती है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा रागस्वरूप लक्षण ।

इष्टे आविष्टता तटस्थ लक्षण कथन ।

रागमयी भक्तिर ह्य रागात्मिका नाम ।

ताहा सुनि लुब्ध ह्य कोन भाग्यवान् ॥

ब्रज के भक्तों की प्रेमसेवा की चर्चा सुनकर किसी भाग्यवान् के चित्त में जो लोभ होता है वह लोभ ही इस रागानुगा का मूल कारण है । श्री जीव गोस्वामी कहते हैं—

यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु राग विशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागमुधाकरकराभास समुल्लसित हृदयस्फटिकमणैः शास्त्रादि-श्रुतामु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीवपि रुचिजायिते ।

इसी रागानुगा भक्ति को पुष्टि मार्ग में 'अविहिता भक्ति' कहते हैं—

माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभी भक्तिविहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्यु-पाधिजास्वविहिता ।

—अणुभाष्य

श्री जीव गोस्वामी अविहिता का निर्णय यों करते हैं—

‘अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्त्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात्’

रुचिमात्र प्रवृत्ति के कारण ही इस प्रकार की भक्ति को ‘अविहिता’ कहते हैं । श्री गोविन्दभाष्य में श्री बलदेव विद्याभूषण इसी को ‘रुचि भक्ति’ कहते हैं—

रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता । रुचिरत्ररागः । तदनुगता भक्ति रुचिभक्तिः रुचिरभक्तिः । अथवा रुचिपूर्ण भक्तिः । इयमेव ‘रागानुगा’ इति गदिता । श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री हरिव्यासजी ने अपनी ‘सिद्धान्त रत्नाञ्जलि’ टीका में अविहिता भक्ति का उल्लेख किया है । ‘महावाणी में उन्होंने सखी भाव से नित्य वृन्दावन में श्री राधा-गोविन्द की युगल सेवा-प्राप्ति की साधना बतलाई है । महावाणी में दास, सखा या पिता-माता का उल्लेख नहीं है । गौड़ीय वैष्णवों की रागानुगा भक्ति के साथ श्री हरिव्यासजी की साधना का भेद सुस्पष्ट है । महाप्रभु के सम्प्रदाय में किसी भी भाव का तिरस्कार नहीं है—‘कृत्रापि तद्विहिता न कल्पनीया’ । श्री हरिव्यासजी में श्रीकृष्ण की देवलीला-परायणता है, परन्तु गौड़ीय वैष्णव केवल नरलीला में माधुर्योपासक हैं ।

रागानुगा भक्ति में स्मरण की ही प्रधानता है । श्री सनातन गोस्वामी ने ‘बृहद्भागवनामृत’ में इसका विस्तार से वर्णन किया है । इस साधन में मानसिक सेवा और संकल्प ही मुख्य हैं । रघुनाथदास गोस्वामी के ‘विलाप कुसुमाञ्जलि’ और श्री जीव गोस्वामी के ‘संकल्प कल्पद्रुम’ में रागानुगा भक्ति के अनुकूल संकल्प और मानसी सेवा के क्रम का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है—

सेवा साधकरूपेण सिद्धिरूपेण चात्रहि ।

तद्भावलिप्तुना कार्या ब्रजलोकानुसारतः ॥

यथावस्थित देह ही साधक देह है और अन्दर में अपने इष्ट श्री राधा गोविन्द की साक्षात् सेवा करने के लिये जो उपयोगी देह है वह सिद्ध देह है । सिद्ध देह से ही ब्रजभाव प्राप्त होता है । सिद्ध देह की भावना के सम्बन्ध में ‘सनत्कुमारतन्त्र’ में कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम् ।

रूपयौवनसंपन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ॥

अर्थात् गोपीभाव या ब्रजभाव में अपने को रूपयौवन-सम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में सिद्ध देह से भावना करनी चाहिये । रागानुगा साधन में जो ‘अज्ञात रति’ साधक हैं—अर्थात् जिन्हें रति की प्राप्ति नहीं हुई है उनको अपने लिए गुरुदेव के उपदेशानुसार सखी की संगिनी के भाव से मनोहर वेशभूषण से युक्त किशोरी रमणी के रूप में भावना करनी चाहिये । सखी की आज्ञा के अनुसार सदा सेवा के लिए उत्सुक रहते हुए श्री राधाजी के निर्माल्य

स्वरूप अलंकारों से विभूषित साधनों के सिद्ध रूप इस मंजरी देह की भावना निरन्तर करनी चाहिये। मंजरी स्वरूप में तनिक भी सम्भोग की वासना नहीं है। इसमें केवल सेवा-वासना है। जो 'जात रति' हैं—अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गई है, उनमें इस सिद्ध स्वरूप की स्फूर्ति अपने-आप हो जाती है। प्राचीन अलवार भक्त शठारि मुनि की साधक देह में ही सिद्ध देह का भाव उत्तर आया था। उन्होंने अनुभव किया कि श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम हैं और अखिल जगत् स्त्री-स्वभाव है। अन्त में शठारि में कामिनी भाव का आविर्भाव हो गया था—

पुंस्त्वं नियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे

स्त्रीप्राय भावकथनोज्जगतोऽखिलस्य ।

पुंसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्तयापि

शौरेः शठारि यमिनोऽजनि कामिनीत्वम् ।

—वैष्णव धर्म

गौड़ीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्ण भावनामृत' आदि ग्रन्थों के क्रमानुसार गुरु गौराङ्गदेव के अनुगत भावों से श्री राधागोविन्द की अष्टकालीन लीला का स्मरण करते हैं। इस लीला के ध्यान में ही मानसोपचार से इच्छित सेवा होती रहती है। श्री बल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में भी अष्टयाम की लीलाओं का स्मरण तथा पदकीर्तन मुख्य साधना है। प्रातःकाल की मंगला आरती से लेकर रात के विश्राम-काल तक भिन्न-भिन्न समयों की भिन्न-भिन्न लीलाओं के लिए भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में अनेकानेक पद गाये जाते हैं जिसमें सहज ही भगवान् की विविध लीलाओं का स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान होता है। और भक्त शरीर से चाहे जहाँ हो, भाव-देह से निरन्तर भगवान् की सन्निधि में रहते हुए उनके अंग-संग का अमृतोपम सुख झूटता है। बल्लभकुल के मन्दिरों में पदगायन लीला-विहार का परम दिव्य साधन है।

बंगाल के साधक श्री निवास आचार्य किसी समय मंजरी देह से श्री राधा-कृष्ण का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्री गोपीजनों के साथ श्रीकृष्ण यमुनाजी में जल-क्रीड़ा कर रहे हैं। श्री राधा के कान का एक कुण्डल जल में गिर गया। सखियाँ खोजने लगीं। अन्तर्द्वेह से इस कुण्डल की खोज में श्री निवास का एक सप्ताह का पूरा समय हो गया। साधक देह निस्पन्द आसन पर विराजमान था। रामचन्द्र कविराज आये तो वे भी सिद्ध देह से श्री निवास की अनुगता दासी के रूप में उनके साथ हो लिए और चतुर रामचन्द्र को एक कमलपत्र के नीचे राधाजी का कुण्डल दिखाई पड़ा। उसी क्षण उन्होंने श्री चिबासजी के हाथ में दे दिया। सखी मंजरियों में आनन्द की तरंगें उछलने

सर्गी । श्री राधारानी ने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान इन्हें पुरस्कार-रूप में दिया । रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठने वालों की तरह साधक देह में लौट आए । देखा गया कि सचमुच श्री राधाजी का दिया हुआ पान-पुरस्कार उनके मुख में था ।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की तरह एक भाव शरीर या सिद्ध देह भी होता है और साधक इसी भावदेह से भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है । मीरा तो नित्य इसी भावदेह में ही विचरती थी । उसे कुछ बनना तो था नहीं । वह तो महाप्रभु चैतन्यदेव की तरह जगत् को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए इस घराघाम पर आई थी और अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के द्वारा भाव-भक्ति का आचरणात्मक उपदेश देकर वह अपने प्राणधन प्रभु के श्री विग्रह में सशरीर समा गई ।

तेरो कोई नहिं राखणहार, मगन होई मीरा चली ।
लाज सरम कुल की मरजादा सिर से दूरि करी ।
मान अपमान दोउ धर पटके, निकसी हूँ ज्ञान गली ।
ऊँची अटरिया लाल किबड़िया, निरगुण सेज बिद्यी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहे सिन्दुर मांग भरी ।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी ।
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी ।

मीरा के पदों में भक्ति का पूर्ण विकसित रूप मिलता है, उसके प्रत्येक स्तर के दर्शन होते हैं । यह नहीं कहा जा सकता कि मीरा ने इस रागानुगा भक्ति की दीक्षा पुष्टि-साधना से प्राप्त की या गौड़ीय-साधना से । जन्म से उसे बल्लभकुल का संस्कार प्राप्त था पर आगे चलकर प्रेम की परवशता में वह वृन्दावन भी आई थी और यहाँ जीव गोस्वामी से उसका मिलना हुआ था । अतः यह स्पष्ट है कि उसे बल्लभिय तथा गौड़ीय दोनों ही साधनाओं का मधु प्राप्त था और उसने सम्प्रदायों की सीमाओं का अतिक्रमण कर परम प्रेममयी 'रसीली भक्ति' का अमृत पिया ।

भगवान् के 'अनुग्रह' को ही 'पुष्टि' कहते हैं—'पोषणं तदनुग्रहः' । उस अनुग्रह से जो भक्ति या भगवत्प्रेम होता है उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं । यह भक्ति स्वरूप से रागमयी है । शांडिल्य ने इसकी परिभाषा—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' की है । नारद इसी को 'सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा' कहते हैं तथा 'पाँचरात्र' में उसकी परिभाषा इस प्रकार है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तस्या भूषितं चान्यथा ॥

यह स्नेहमयी रागात्मिका भक्ति भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है। भगवान् का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं, वह साधन से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है, वह किसी साधन के परतन्त्र नहीं है। भगवान् भक्त के अधीन हैं, भगवान् भक्त के भक्त हैं। अतः यहाँ असाधना ही साधन है।

जैसे स्वर्ग, विसर्ग आदि श्री पुरुषोत्तम की लीलाएँ हैं, यह भक्ति-अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला ही है। वह 'लीला' क्या है, 'सुबोधिनी' भा० ३, स्कंध १ में वर्णित है—'लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तथा कृत्या वहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तारि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्णं आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजनन सदृशी क्रिया क्वाचिदुत्पद्यते।'।

भगवान् स्वतः परिपूर्ण हैं, तृप्त हैं, अतएव बिना प्रयोजन के ही—'लीला एवं प्रयोजनत्वात्' लीला करते रहते हैं। भगवान् स्वतः तृप्त होते हुए भी चिर अतृप्त हैं। निष्काम होते हुए भी विलासेच्छु हैं। अद्वितीय होते हुए भी भक्त के प्रेम-पराधीन हैं।

गुरु भक्त के हृदय में भगवान् की प्रीति का दान देकर उसका भगवान् से सम्बन्ध करा देता है जिसे पुष्टि मार्ग में 'ब्रह्म-सम्बन्ध' कहते हैं और इसी ब्रह्म-सम्बन्ध के बाद शिष्य के हृदय में मिलन की लालसा होती है जिसे 'ताप' कहते हैं। यह ताप ही पुष्टि मार्ग की साधना का प्राण है। मोरा के पदों में यह ताप व्याप्त है।

भवनपति तुम घर आज्यो हो।

बिधा लगी तनमाहिने (म्हारी) तपन बुझाज्यो हो ॥

रोबत रोबत डोलतां सब रँण बिहार्च हो।

भूल गयी निदरा गयी, पापी जीव न जावँ हो ॥

दुखिया को सुखया करो मोहि दरसन दीजँ हो।

मोरा व्याकुल बिरहिणी अब बिलम न कीजँ हो ॥

तथा

दरस बिन दुखण लागँ नैन।

सब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन ॥

सबद सुणत मोरी छतिया काँपँ मोठे-मोठे बैन।

बिरह व्यथा कासे कहँ सजनी बह गयी करवत ऐन ॥

कल न परत पल हरि मग जोबत भई छमासी रैन।

मोरा के प्रभु कब रे भिलोगे, दुख भेटण सुख देण ॥

यह 'ताप' या दुःख की ज्वाला ही प्रेम-साधना का प्राण है, क्योंकि इसी के सहारे सबके मूल आश्रय तत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के लिए जो अनुकूलता-

युक्त अनुशीलन होता है उसी का नाम भक्ति है। इस रागानुगा भक्ति में दो उपाधियाँ हैं—(१) अन्याभिलाषिता, (२) कर्मज्ञानयोगादि का मिश्रण। अन्याभिलाषा में भोगकामना और मोक्षकामना दोनों ही सम्मिलित हैं। सच्चा भक्त भुक्ति और मुक्ति दोनों को हेय समझकर छोड़ देता है। कर्मज्ञानयोगादि भी उपाधि हैं, परन्तु ज्ञान द्वारा यदि भगवान् के स्वरूप और भजन का रहस्य जाना जाए। योग से चित्त भगवान् के गुण, लीला आदि में लगे, कर्म द्वारा भगवान् की सेवा बने, तो ये ज्ञान, योग, कर्म बाधक न होकर भक्ति के साधक बन जाते हैं।

सकाम भक्ति में भोग कामना होती है। यह कामना तीन प्रकार की होती है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। मोक्ष-कामना सात्विक सकाम भक्ति है; विषयोपभोग, यश, कीर्ति आदि की कामना से की गई भक्ति राजसिक सकाम भक्ति है; और हिंसा, दंभ, मत्सर आदि से की हुई तामसिक सकाम भक्ति है।

उत्तमा भक्ति—अथवा निष्काम भक्ति के तीन भेद हैं—साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेम भक्ति। उत्तमा भक्ति के दो गुण होते हैं—(१) क्लेशघ्नी, (२) शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकार के—पाप, वासना, प्रारब्ध। पाप का बीज है वासना; वासना का कारण है अविद्या। इन सब क्लेशों का मूल कारण है भगवद्धिमुखता। भक्तों की संगति से भगवान् की संमुखता प्राप्त होती है, फिर क्लेशों के सारे कारण अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। इसी से साधन भक्ति में 'सर्व दुःख-नाशकत्व' गुण आ जाता है।

'शुभ' शब्द का अर्थ है साधक के द्वारा समस्त जगत् के प्रति प्रीतिविधान और सारे जगत् का साधक के प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणों का विकास। सुख के तीन भेद—विषय-सुख, ब्राह्मसुख, पारमैस्वर सुख। ये सभी सुख साधन भक्ति से प्राप्त होते हैं।

भाव भक्ति में दो गुण—'मोक्षलघुताकृत' और 'सुदुर्लभा'। इसमें साधक भक्ति के दो गुण क्लेशघ्नी और शुभदायिनी अपने-आप आ जाते हैं। प्रेम-भक्ति में 'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' एवं 'श्रीकृष्णाकषिणी' ये दो गुण होते हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकषिणी च सा ॥

—भक्तिरसामूर्तासिन्धु

'मोक्षलघुताकृत'—यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्ट और सायुज्य—इन पाँच प्रकार की मुक्ति)—इन सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

सुदुर्लभा—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि तो भगवान् सहज दे देते हैं, पर अपनी भावभक्ति नहीं देते ।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—फरोड़ों ब्रह्मानन्द इस प्रेमामृतरूपी भक्ति सुखसागर के एक कण की भी तुलना में नहीं आ सकते । यह अपार और अचिन्त्य प्रेम सुखसागर में निमग्न कर देती है ।

श्रीकृष्णाकर्षिणी—यह प्रेमभक्ति श्रीकृष्ण को भक्त के वश में कर देती है ।

साधन भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा । शास्त्राज्ञा से भजन में प्रवृत्ति को वैधी कहते हैं । भगवान् में प्रेममयी तृष्णा का नाम है राग । ऐसी रागमयी भक्ति का नाम है रागात्मिका । रागात्मिका के दो भेद—(१) कामरूपा, (२) सम्बन्धरूपा । जिसमें सब चेष्टा श्रीकृष्ण सुख के लिए, अर्थात् जिसमें काम ही प्रेमरूप में परिणत हो गया है उसी को कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं । यह भक्ति श्री गोपीजनों में ही है ।

‘प्रेमैव गोपरामाणां काममित्यगमत् प्रथाम्’ । श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध अनुभव करते हुए प्रेम का नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है ।

रागानुगा भक्ति में स्मरण का ही अंग प्रधान है । इसके भी दो भेद—कामानुगा और सम्बन्धानुगा । कामानुगा के दो भेद—भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी । केलि-सम्बन्धी अभिलाषा से युक्त भक्ति का नाम संभोगेच्छामयी और यूथेद्वरी ब्रजदेवी के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति का नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है ।

भावभक्ति—भगवत्-प्राप्ति की अभिलाषा, उनकी अनुकूलता की अभिलाषा और उनके सौहार्द की अभिलाषा के द्वारा चित्त को स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है उसी का नाम ‘भाव’ है । भाव का ही दूसरा नाम रति है । रस की अवस्था में इसी का वर्णन स्थायी भाव और संचारी भाव—दो प्रकार से किया जाता है । इसमें स्थायी भाव भी दो प्रकार का होता है—प्रेमांकुर या भाव और प्रेम । स्नेह, प्रणय, अनुराग आदि प्रेम के ही अन्तर्गत प्रीति के नौ अंकुर बतलाये गए हैं—

(१) क्षान्ति—घन, पुत्र, मान आदि के नाश, असफलता, निन्दा, व्याधि आदि क्षोभ के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का जरा भी चंचल न होना ।

(२) अव्ययकालत्व—अण मात्र का भी समय सांसारिक कार्यों में वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीर से निरन्तर भगवत्सेवा-सम्बन्धी कार्यों में लगे रहना ।

(३) विरक्ति—इस लोक और परलोक के समस्त भोगों से त्वाभाविक अरुचि ।

(४) मानशून्यता—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थिति से सम्पन्न होने पर भी मान, सम्मान सर्वथा त्याग करके अधम का भी सम्मान करना ।

(५) आशाबन्ध—भगवान् के और भगवत्प्रेम के प्राप्त होने की चित्त में दृढ़ और बद्धमूल आशा ।

(६) समुत्कंठा—अपने अभीष्ट भगवान् की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा ।

(७) नामगान् में सदा रुचि—भगवान् के मधुर और पवित्र नाम का गान करने की ऐसी स्वाभाविक कामना कि जिसके कारण नामगान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाम में अपार आनन्द का बोध होता है ।

(८) भगवान् के गुणकथन में आसक्ति—दिन-रात भगवान् के गुणगान, भगवान् की प्रेममयी लीलाओं का कथन करते रहना; और ऐसा न होने पर बेचैन हो जाना ।

(९) भगवान् के निवास-स्थान में प्रीति—भगवान् ने जहाँ-जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान् के चरण-स्पर्श से पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानों में रहने की इच्छा ।

भाव की परिपक्वावस्था का नाम 'प्रेम' है । चित्त में सन्पूर्ण रूप से निर्मल और अपने अभीष्ट श्री भगवान् में अतिशय ममता होने पर ही प्रेम का उदय होता है । किसी भी विघ्न के द्वारा जरा भी न घटना या बदलना प्रेम का चिह्न है । यह प्रेम दो प्रकार का होता है—महिमा-ज्ञानयुक्त और केवल । विधि मार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम महिमा-ज्ञानयुक्त है और रागमार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है । ममता की उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेम की अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसे ही बदलती जाती है । प्रेम की एक ऊँची स्थिति का नाम है स्नेह । स्नेह का चिह्न है चित्त को द्रवित हो जाना । प्रेम जब चित्त को द्रवित कर इष्टमय हो जाता है तो वह स्नेह कहलाता है । उससे भी ऊँची अवस्था का नाम है राग । राग का चिह्न है गाढ़ स्नेह । उससे ऊँची अवस्था का नाम प्रणय । प्रणय का चिह्न है गाढ़ विश्वास या विश्रुम्भ । भक्त और भगवान् को प्राण, मन, बुद्धि, शरीर और शृंगार में भेदाभेद—भेदमय अभेद या अभेदमय भेद होता है । इसके बाद की अवस्था का नाम है मान । प्रणय में जहाँ प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता आ जाने पर उसके समग्र मनचित्त को अपनी और आकृष्ट कर लेने की लालसा का उदय होता है और उसमें कभी-कभी कोई अन्तराय देखकर मन में सात्विक ईर्ष्या या द्वेष हो जाता है उसे प्रणय-मान कहते हैं । इसके बाद की स्थिति

का नाम है अनुराग। अपने इष्ट के प्रति राग जब गाढ़ हो जाता है तो अपने प्रेमास्पद में उस नित्य नवनवायमान सौन्दर्य, लावण्य, सौकुमार्य और 'लौल्य' का अनुभव होने लगता है उसे ही अनुराग कहते हैं। इसके अनन्तर महाभाव की स्थिति आती है। जब अनुराग में भगवान् और भक्त दोनों उल्लिप्त हो जाते हैं और परस्पर मिलन की वासना अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाती है तो अनुराग की संज्ञा महाभाव की हो जाती है। भगवान् भक्त से और भक्त भगवान् से मिलने के लिए आतुर हो जाते हैं और मिलन की अत्यन्त प्रगाढ़ावस्था में भी विरह की आशंका सनाती रहती है। कवि बलरामदास के एक पद में इसका बहुत भावपूर्ण वर्णन हुआ है जब श्रीकृष्ण राधारानी की गोद में सिर रखे हुए हैं तो भी वे विरह की आशंका में व्याकुल हैं और रो रहे हैं। महाभाव की परम परिणत स्थिति है दिव्योन्माद। महाप्रभु की गम्भीरा लीला जिसमें लगातार महाप्रभु ने जगन्नाथपुरी के एक कमरे में व्याकुल रोते-तड़पते श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेमोन्माद में लगातार चौदह वर्ष बिता दिए। श्रीमद्भागवत का गोपी-गीत भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्रीकृष्ण-रति स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव के साथ मिलकर आस्वादनयुक्त पाँच प्रकार की होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। जिसमें जिसके द्वारा रति का आस्वादन किया जाता है उसको विभाव कहते हैं। इनमें, जिसमें रति विभावित होती है उसका नाम है आलंबन विभाव, जिसके द्वारा रति विभावित होती है उसका नाम है उद्दीपन विभाव। आलंबन विभाव भी दो प्रकार का होता है—विषयालंबन, आश्रयालंबन। इस श्रीकृष्ण-रति के विषयालंबन हैं श्रीकृष्ण और आश्रयालंबन हैं उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रति का उद्दीपन होता है वे श्रीकृष्ण का स्मरण करानेवाली वस्त्रालंकारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन विभाव।

नाचना, भूमि पर लोटना, गाना, जोर से पुकारना, अंग मोड़ना, हँकार करना, जमुहाई लेना, लम्बे स्वास छोड़ना आदि अनुभाव के लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकार के होते हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जमुहाई लेना आदि को शीत और नृत्यादि को क्षेपण कहते हैं।

सात्विक भाव आठ हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, न्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रनय (मूच्छर्द्ध)। ये सात्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रुध भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें स्निग्ध सात्विक के दो भेद होते हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला स्निग्ध सात्विक भाव मुख्य है और परम्परा से अर्थात् किञ्चित् व्यवधान से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव गौण है। स्निग्ध सात्विक भाव नित्य सिद्ध भक्त में ही होता है।

जागरति—अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है उन भक्तों के सात्विक भाव को दिग्ध भाव कहते हैं और आजात रति—अर्थात् जिनमें प्रेम नहीं उदय हुआ है ऐसे मनुष्य में कहीं आनन्द विस्मयादि के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव को रुक्ष भाव कहते हैं ।

ये सब भाव भी पाँच प्रकार के होते हैं—धूमयित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त, सूद्दीप्त । बहुत ही प्रकट परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्विक भावों का नाम 'धूमयित' है । एक ही साथ दो-तीन भावों का नाम 'ज्वलित' है । ज्वलित भाव को भी बड़े कष्ट से गुप्त रखा जा सकता है । बड़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होने वाले तीन, चार या पाँच सात्विक भावों को 'दीप्त' कहते हैं । यह दीप्त भाव छिपा कर नहीं रखा जा सकता । अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त एक ही साथ उदय होने वाले छः, सात या आठ भावों का नाम 'उद्दीप्त' है । यह उद्दीप्त भाव ही महाभाव में 'सूद्दीप्त' हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त रत्याभास-जनित सात्विक भाव भी होते हैं । उनके चार प्रकार हैं । मुमुक्षु पुरुष में उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'रत्याभासज' है । कर्मियों और विषयी जनों में उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'सत्वाभासज' है । अन्यासियों के फिसले हुए चित्त में उत्पन्न सात्विक भाव को 'निःसत्त्व' कहते हैं । भगवान् से विद्वेष रखने वाले मनुष्यों में उत्पन्न मान्विक भाव को 'प्रतीप' कहते हैं ।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्त और बोध । इन तैंतीस व्यभिचारी भावों को 'संचारी' भी कहते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा अन्य सारे भावों की गति का संचालन होता है । स्थायीभाव—सामान्य, स्वच्छ, शान्तादि भेद से तीन प्रकार का होता है । किसी रसनिष्ठ भक्त का संग हुए बिना ही सामान्य भजन की परिपक्वता के कारण जिनमें एक प्रकार की सामान्य रति उत्पन्न हो गई है उसे सामान्य स्थायीभाव कहते हैं । शान्तादि भावों के संग से, संग के समय, जिनके स्वच्छ चित्त में संग के अनुसार ही रति उत्पन्न होती है उस रति को स्वच्छ स्थायीभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रसनिष्ठ भक्तों की शान्तादि पृथक्-पृथक् रति का नाम ही शान्त स्थायीभाव है । भाव पाँच प्रकार के होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर । इनमें किसी भी भाव से भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाना चाहिए ।

प्रेम की चिनगारी

श्री नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में मीरा का परिचय यों लिखा है—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलियुर्गह दिखायो ।
 निर अंकुस अति निडर, रसिक जस रसना गायो ॥
 दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो ।
 बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो ॥
 भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नांही लजी ।
 लोक लाज, कुल-भृङ्गला तजि मीरा गिरिधर भजी ॥

इसके कुछ ही काल अनन्तर मीरा के सम्बन्ध में श्री ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त नामावली' में लिखा है—

साज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कानि ।
 सोई मीरा जगविदित प्रगट भक्ति की खानि ॥
 ललिता हू लइ बोलिकै, तासों अति हेत ।
 भ्रानन्द सो निरखत फिरै, वृन्दावन रस-खेत ॥
 नृत्यत नूपुर बाँधि कै, नाचत लै करतार ।
 विमल हियौ भक्तनि मिली, तून सम गन्यो संसार ॥
 बंधुनि विष ताको दियौ, करि विचार चित्त भ्रान ।
 सो विष फिरि अमृत भयो, तब लागे पछितान ॥

श्री प्रियादासजी ने पूरे दस पदों में मीरा के जीवन की प्रायः प्रत्येक उल्लेखनीय मार्मिक घटना का बड़े ही सजीले शब्दों में विवरण दिया है—

मेरतो जन्मभूमि, झूम हित नैन लागे,
 पगे गिरधारीलाल पिता ही के धाम में ।
 राना कै सगाई भई करी ब्याह सामानई,
 गई मति बूड़ि, वा रंगीले घनदयाम में ॥
 भाँवरे परत, मन साँवरे स्वरूप भाँस,
 ताँवरे सी आबे, चलिबे को पति गाम में ।
 पूछै पिता माता, "पट आभरन लोजिए जु",
 सोचन भरत नीर कहा काम दाम में ॥१॥

देवी गिरधारीलाल, जो निहाल कियो चाहो,
 और धन माल सब राखिये उठाय के ।
 बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़यो भारी,
 रोय मिली महतारी, कहा "लीजिये लड़ाय के" ॥
 डोला पधराय हग हगसों लगाय चली,
 सुखन समाय जाय, प्रान पति पाय के ।
 पहुँची भवन सासु देवी पै गवन कियो,
 तिया अरुवर गँठजोरी कर्यौ नायक ॥२॥
 देवी के पुजायवे कौं, कियो ले उपाय सासु,
 वर पै पुजाइ, पुनि बधू पूजि भाखिये ।
 बोली "जू बिकायो माथो, लाल गिरधारी हाथ,
 और कौन नये, एक बहै अभिलाखिये" ॥
 बड़त सुहाग याके पूजे ताते पूजा करी,
 करी जिनि हठ सीस पायनि पै राखिये ।
 कही बार-बार "तुम यही निरधार जानौ,
 बही सुकुमार जायै वारि फेरि नाखिये" ॥३॥
 तबती खिसानी भई, अति जरि बरि गई,
 गई पति पास "यह बधू नहीं काम की ।
 अब ही जवाब दियो, कियो अपमान मेरी,
 आगे क्यों प्रमान करै ?" भरै स्वास चाम की ॥
 राना मुनि कोप कर्यौ धर्यौ हियो भारि बोई,
 बई ठौरि न्यारी देखि, रीसि मति वाम की ।
 लालनि लड़ावे गुन गायकै मल्हावे,
 साधु संग ही सुहावे, जिन्है लागी चाह स्याम की ॥४॥
 आयकै ननैद कहै, गहै किन चेत भानी,
 साधुनिसों हेत में कलंक लाये भारिये ।
 राना देसपती लाजै, बाप कुलरती जात,
 मान लीजै बात वेगि संग निरवारिये ।
 लागे प्रान साथ संत, पावत अनन्त सुख,
 जासों दुख होय, ताको नीके करि टारिये ।
 सुनिकै कटोरा भरि गरल पठाय दियो,
 लियो करि पान, रंग चढ़यो यों निहारिये ॥५॥
 गरल पठायो, सो तो सीस ले चढ़ायो,
 संग त्याग विष भारी, ताकी झार न सभारी है ।

राना ने लगायी चर, वैसे साधु ढिगडर,
तबहीं खबर कर मारी यह धारी है ॥
राजें गिरधारीलाल, तिनहीं सों रंग जाल,
बोलत हँसत ह्याल कानपरी प्यारी है ।
जायकें सुनाई, भई अति चपलाई,
आयी लिये तरवार, दै किवार खोलि न्यारी है ॥६॥

“जाके संग रंग भीजि करन प्रसंग नाना,
कहाँ वह नर गयो, वेगि दै बताइयै ।”
“आगे ही विराजें, कडू तो सों नहीं लाजें,
अमूं देख सुखसाजें, आंखें खोलि दरसाइयै ।”
भयोई खिसानौ राना लिख्यौ चित्र भीत मानौ,
उलट पयान कियो, नेकु मन आइयै ।
देख्यो हूँ प्रभाव यँ पै भाव मैं न भिद्यौ जाइ,
बिना हरि कृपा कहाँ कैसे करि पाइयै ॥७॥

विषई कुटिल एक भेष परि साधु लियो,
कियो यों प्रसंग मोसों अंग संग कीजियै ।
आज्ञा भों को दई आप लाल गिरधारी अहो,
सीस धरि लई करि भोजन हूँ लीजियै ।
संतनि समाज में बिछाय सेज बोलि लियो,
संक अब कौन की निसंक रस भीजियै ।
सेत मुख भयो, विषेभाव सब गयो,
नयो पांयन पै आय मोकों भक्तिदान दीजियै ॥८॥

रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये,
लिए संग तानसेन, देखिबे को आयो है ।
निरखि निहाल भयो छबि गिरधारीलाल,
पद मुखलाज एक तबही चढ़ायो है ॥
वृन्दाबन आई जीवगुसाई जु सो मिलि झली,
तिया मुख देखिबे कौ पन ले छुटायो है ।
देखी कुञ्ज कुञ्जलाल प्यारी मुख पुञ्जभरी,
धरो उर मांस आय देख बन गायो है ॥९॥

राना की मलीन मति देखि बसी द्वारावती,
रति गिरधरलाल, नितही लड़ाइयै ।
लागी चटपटी भूप भक्ति को सरूप जानि,
अति दुख जानि, विप्र श्रेणी ले पठाइयै ॥

बेगि लंके आवाँ मोंको प्रान दें जिवावाँ,
 अरो गयो द्वार धरनी दें बिनती सुनाइयँ ।
 सुन विदा होन गई राय रणछोड़ जूयँ,
 छाड़ी राखी हीन लीन भई नहीं पाइयँ ॥१०॥

मीरा के हृदय में कृष्ण-प्रेम की चिनगारी बहुत बचपन से विद्यमान थी और यह चिनगारी आगे चलकर विराट् प्रेमज्वाला बन गई और इसने मीरा को आत्मसात् कर लिया। कुल-संस्कार एवं परिस्थितियाँ तो निमित्त-मात्र थीं। गुरु की महिमा सभी सन्तों और भक्तों ने गायी है। 'गुरु साक्षात्परब्रह्म' तक भी कहा गया है। इस निविड़ अंधकारपूर्ण जगत् में स्वयं पथ ढूँढ़ लेना असंभव ही है। इसमें तो अपना हाथ तक नहीं सूझता। इसी हेतु गुरु की सहायता भगवत्पथ में अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य है। यही कारण है कि नवधा भक्ति में 'श्रवण' प्रथम सोपान है, अध्ययन नहीं। 'वाक्य-ज्ञान' में निपुणता प्राप्त कर लेने से ही यदि भक्ति का पथ सुगम हो जाता तो केवल तर्क की ही पूजा होती रहती। कबीर तथा सहजो ने तो गोविन्द से भी बढ़ कर गुरु को माना है। घूँघट का पट खोलकर गुरुदेव ही हमें 'राम' से मिला सकते हैं। हृदय पर पड़े हुए मोह और अज्ञान के पर्दों को वे ही हटा सकते हैं। हृदय की आँखें गुरु की कृपा से ही खुल सकती हैं। मीरा रैदासजी की शिष्या थीं। रैदासजी स्वामी रामानन्द के शिष्य, 'रामनाम' के उपासक कबीर के गुरु-भाई, निर्गुणपंथी सन्त थे। कबीर, रैदास और पीपा प्रायः समकालीन थे और 'वाणी' द्वारा अपने उपदेश से जनता में शुद्ध ज्ञान का प्रचार कर रहे थे। रैदासजी कबीर की अपेक्षा अधिक भाव-प्रवण साधु थे। परमात्मा के साथ अपने मधुर प्रेमभाव को बड़े ही सुन्दर, भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है—

प्रभु जी ! तुम चंदन हम पानी
 जाकी अंग-अंग बास समानी ।
 प्रभु जी ! तुम दीपक हम बाती
 जाकी ज्योति बरै दिन राती ॥

रैदास की सहृदयता, भावुकता एवं परमात्मा के साथ हृदय के मधुर सम्बन्ध की अनुभूति अन्य सन्तों से अधिक गहरी थी। कहा जाता है कि जूते बनाते समय रैदासजी चमड़े पर टाँकियाँ देते जाते थे और कोने में, पास ही रखी हुई ठाकुरजी की मूर्ति का स्मरण कर प्रेम-विह्वल, गद्गद हृदय से भजन गाते जाते थे, आँखों से प्रेमाश्रु की धारा बहती जाती थी। यह तो सर्वविदित ही है कि कबीर, रैदास आदि निर्गुणिये सन्त मूलतः सिद्धान्तरूप में मूर्ति-पूजा आदि न मानते हुए भी वैष्णव मत के थे और राम, गोपाल तथा हरि को

संबोधित कर अपने हृदय की भूल-प्यास शान्त किया करते थे। कबीर ने तो कई स्थलों पर अपने को 'वैष्णों' कहा है तथा 'साकत' को भला-बुरा कहा है। कबीर की यह घृणा शाक्तों के प्रति न समझकर, शाक्तों की हिंसा-वृत्ति के प्रति समझी जानी चाहिए। रैदासजी कबीर की भाँति अक्खड़ न थे। उनके जो थोड़े से पद मिले हैं उनमें आत्मानुभूतिपूर्ण हृदय की कोमल भावनाओं की ही व्यंजना है। रैदासजी मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विष्णु भगवान् की मूर्ति उनके घर में थी जिसकी वे पूजा किया करते थे। रैदासजी कृष्ण, गोपाल, हरि, राम आदि को ब्रह्म की व्यक्त सत् मानकर साधना की मधुर अनुभूति में लीन होने वाले आत्मदर्शी सन्त ० उन्होंने शाक्तों को गालियाँ नहीं दी हैं—ऐसा करने के लिए न उन्हें शक्ति ही थी और न अवकाश ही था। रैदास को 'माघो' नाम बहुत प्यारा है।

निर्गुणिये सन्तों के समान रैदास में जगत् के प्रति तीव्र वैराग्य था, सदाचार के प्रति अटूट आस्था थी और नाम-स्मरण की अन्तर्मुखी साधना का चिरन्तन विलास था। वे सदा मधुर भाव में मग्न रहने वाले, लोकपक्ष से उदासीन, जगत् के प्रपंचों से तटस्थ और आत्मानुभूति में डूबे रहने वाले हृदय-प्रधान सन्त थे। कोरी कथनी में उनका रंच मात्र भी विश्वास नहीं था—वे 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' पर अधिक जोर देते थे। प्रीतिपूर्वक अपने हृदय के भीतर भगवान् का स्मरण ही उनकी साधना का प्राण है। भगवान् की मधुर स्मृति जगाये रखना तथा उसी में निमग्न रहना—यही थी उनकी साधना-प्रणाली। बाहरी आचार-विचार पर उतना ही ध्यान था जिससे समाज के नियमों का तिरस्कार न हो जाय परन्तु समाज के विविध नियमों और विधानों में अपने को जकड़े रखना भी उनके मत से अनुचित था। संत प्रायः सामाजिक प्राणी नहीं होते—उनका समाज, उनकी जाति अपनी एक अलग ही होती है।

रैदास का 'निर्गुण' कबीर का 'निर्गुण' नहीं है। रैदास का अद्वैत कबीर का अद्वैत नहीं है। रैदास हृदय की मधुर माँग को स्वीकार करने वाले सन्त थे। प्रेम से ओत-प्रोत, ज्ञानोत्तर भक्ति के विकसित रूप में हरि को ही सर्वत्र देखने वाला, आत्मानुभूति के गहरे रंग में रंगा हुआ, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को मानने वाला, सर्वभूतमयहरि तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' के रस में पगा रैदास का कोमल हृदय प्रतिपल अपने 'प्रभुजी' के लिए बेचैन था, तड़प रहा था, तड़फड़ा रहा था।

मीरा इसी भावुक भक्त एवं प्रेमी-सन्त की शिष्या थी। रैदास के चमार होने से मीरा के गुरु होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। महाप्रभु श्री चैतन्यदेव ने कहा है—

किंवा न्यासी, किंवा विप्र शूद्र केन नय ।

जे कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय ॥

मीरा के दो-तीन पदों में, 'मेरे गुरु रैदासजी' का उल्लेख है, साथ ही साथ एक 'योगी' का भी वर्णन मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बोई है। यह योगी स्वप्न में आए हुए श्री गिरिधारीलालजी का अवधूत रूप हो सकता है अथवा रैदासजी या अन्य सन्त योगी हो सकते हैं, जिससे मीरा की प्रेम-साधना में सहायता प्राप्त हुई हो। इतिहास की दृष्टि से मीरा और रैदास के समय में बहुत अन्तर है और स्पष्ट है मीरा ने रैदास से स्वप्न में ही दीक्षा पायी होगी, ठीक जैसे चरणदासजी ने शुकदेव से। इस प्रकार की दीक्षा में समय का अन्तर कुछ महत्त्व नहीं रखता। गुरुदास और 'योगी' का रासरूप में संकेत मीरा ने कई स्थलों पर किया है। इन पदों में से कुछ की बानगी लीजिए—

तेरो मरम नहि पायो रे जोगी ।

आसण मारि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो ।

मीरा को प्रभु हरि अविनासी, भाग लिखो सोई पायो ॥

तथा

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाईं पहरें चेरी तेरी हों ।
 प्रेम भगति के पंड़ो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा ।
 अगर चंदणरी चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा ॥

• • •

जावा दे, जावा दे, जोगी किसका मीत ।

सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीति।
 में जाणूँ या पार निर्भंगी छाँड़ि चलै अधबीच ॥

• • •

योगियारो प्रीतड़ी है दुखडारी मूल ।

हिलमिल बात बनावत भीठी पीछे जावत मूल ॥

• • •

जोगिया कहाँ गया नेहड़ी लगाय ।

छोड़ गया बिसबास संघाती प्रेम की बातो बराय ।
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई ॥

• • •

जोगिया जी निसदिन जोऊँ बाट । इत्यादि ।

उपर्युक्त पदों में 'आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो' में स्पष्ट ही योगी गुरु का संकेत है, कृष्ण का नहीं। क्या यह उस साधु के

सम्बन्ध में तो नहीं है जिसकी पूजा में मीरा को श्री गिरिधारीलालजी की मोहिनी मूर्ति प्राप्त हुई थी ? जो कुछ भी हो, इन पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी साधु ने मीरा को प्रेम-साधना का मन्त्र दिया और पता नहीं फिर वह कहाँ भ्रन्तहित हो गया। उससे मीरा फिर न मिल सकी। वह मीरा से न मिल सका। प्रेमाराधना की वही चिनगारी जिसे उस योगी भवधूत ने लगाई थी काल और परिस्थिति की अनुकूलता से इतने विराट् रूप में बढ़ी कि मीरा को उसने धात्मसात् कर लिया—

न पा सकते जिसे पाबंद रहकर कंदे हस्ती में ।

सो हमने बेनिशाँ होकर तुझे ओ बेनिशाँ पाया ॥

लौ

If the soul is to go to higher spiritual blessedness, it must become a woman, however manly thou mayest be among men.

—Newman

ज्यों तिरिया पीहर बसे, सुरति रहै पिय माहि ।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को मूलत नाहि ॥

विवाहिता स्त्री मायके में रहते हुए जिस प्रकार मन, चित्त और प्राण से अपने पति का ही स्मरण करती रहती है उसी प्रकार इस संसार में रहते हुए भी हम अपने प्राणाराम जीवन-धन हरि का ही स्मरण करते रहें—यही सभी सन्तों और समस्त धर्मग्रन्थों के उपदेश का सारतत्त्व है। जीव की यही साधना है। मन को हरि में डालकर मस्त हो जाना ही आनन्द की चरम अवस्था है। जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, सेवा, दान, सत्संग, सदाचार सभी प्रकार के सत्कर्मों का फल है प्राणाधार हरि का अखण्ड स्मरण। यह स्मरण ही भगवान् के चरणों में सच्ची प्रणति है; यह स्मरण ही सर्वात्मसमर्पण की सच्ची अभिव्यक्ति है। धनीभूत अखण्ड स्मरण की हँसती हुई ज्योति का नाम है 'लौ'। साधना का प्राण है स्मरण, और 'लौ' है स्मरण की आत्मा।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपक का जलता हुआ प्रकाश। दीये में तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और सलाई से उसे एक बार जला देते हैं। फिर जब तक तेल दीये में है, बत्ती बनी हुई है और बाहर के आंधी-तूफान से वह सुरक्षित है तब तक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी। ध्यान इस बात का रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पाए, बत्ती बुझने न पाए और जहाँ अखण्ड दीप की बात है वहाँ तो सतत सावधान रहना ही पड़ेगा। एक क्षण की विस्मृति में दीपक के बुझ जाने और धोर अन्वकार के घिर आने की आशंका है।

ठीक यही बात अन्तर की 'लौ' के सम्बन्ध में है। वहाँ भी सतत सावधान रहना पड़ता है। एक पल के लिए भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नहीं कि सब कुछ मिटा। मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, आत्मा सभी श्रीहरि के चरणों से भरते हुए

मकरन्द का पान करते रहें। वहीं उस परम दिव्य स्पर्श की पावन अनुभूति में बेसुध बने रहें। बाहर आने का ध्यान भी न रहे, बाहर के किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का भान भी न हो। कोई रूप आँखों को लुभा न सके। कोई शब्द कानों को मोह न सके। स्मृति सदा हरि के चरणों को छूती रहे। प्राण सदा प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणिपात करते रहें। यही अखण्ड जागरण है।

हंसा पाये मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोले ?

वहाँ के आनन्द और शोभा का वर्णन कैसे किया जाय ? वहाँ की तो चर्चा भी नहीं हो सकती। बात चलते ही जी थहराने लगता है। चर्चा करा कैसे जाय ? बात जानत कष्टुक हमसों कहत जिय थहराय। जिसने एक बार भी उस रस का आस्वादन किया है उसके लिये फिर वहाँ से हटना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है।

बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै धर्राई।

किस बिध चरण कमल मैं गहिहौँ, सर्वाह अंग धर्राई ॥

सच्चे प्रेमी को प्रियतम का स्मरण करना नहीं पड़ता। जब तक स्मरण करना पड़ता है, जब तक स्मरण और विस्मरण का युद्ध जारी है; तब तक तो 'उस' से प्रेम क्या, देखा-देखी भी नहीं हुई ऐसा मानना चाहिए। पत्नी पति के नाम की माला नहीं जपती। वह एकान्त में आँखें मूँदकर, आसन मारकर प्राणायाम आदि करके पति के ध्यान में डूबने का स्वांग नहीं भरती। वह सब कामों से छूट्टी लेकर सत्संग का सेवन, तीर्थों में घूमना, दान-पुण्य करना आदि में अपने जीवन को इसलिए नहीं लगाती कि इनके फलस्वरूप उसे अपने पति का स्मरण-ध्यान होगा। वैसा करना उसके लिए अस्वाभाविक होगा। ऐसा करके वह स्वयं अपनी दृष्टि में तथा लोगों की दृष्टि में उपहासास्पद बनेगी। वह ऐसा करने ही क्यों जायगी ? अपने प्राणप्यारे प्रीतम के स्मरण के लिए भला योग, जप, तप, ध्यान और एकान्त की आवश्यकता ही क्या है ? वह स्मरण स्मरण नहीं जो करने से हो। वह ध्यान ध्यान नहीं जिसमें डूबने के लिए घोर परिश्रम और कठिन प्रयत्न करना पड़े। वह प्रेम, प्रेम नहीं जिसमें प्रेमास्पद की सहज स्मृति न हो। वह प्यार प्यार नहीं जो बिना बुलाए, अपने आप ही उमड़-धुमड़कर हमारे हृदय के आँगन में न बरसे।

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।

गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।

रैण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ।

रैण बिना बाके संग डोलूँ ज्यूँ ज्यूँ बाहि रिशाऊँ।

जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।

मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ।

जित बँठावें तितही बँठूं बेचें तो विक जाऊँ ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ ।

० ० ०

विरह जगावें दरद कौं, दरद जगावें जीव ।

जीव जगावें सुरत को, पंच पुकारें पीव ॥

रोम-रोम में प्रियतम की पुकार है । रोम-रोम उसकी प्यारभरी स्मृति में पगे हुए है । और कोई वस्तु है ही नहीं जो चित्त को एक क्षण के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट कर सके । प्रति पल प्यारे की स्मृति एक अजीब अदा और अन्दाज के साथ आ-आकर प्राणों को नहला जाती है, शराबोर कर जाती है । ध्यान जमाने के लिए आटक आदि मुद्राओं का सहारा नहीं लेना पड़ता और न आँखें ही बन्द करनी पड़ती हैं । उनके नूपुरों की ध्वनि सुनने के लिए कान मूँदने नहीं पड़ते और न पहाड़ की खोह में जाकर एकान्त-वास की ही आवश्यकता है; यहाँ तो—

आँख न मूँदों कान न खँधों, तनिक कण्ठ नहीं धारों ।

खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारों ॥

खुली आँखों अपने प्राणेश्वर को देखूँ तभी तो देखना है । खुले कान उनकी बंशी और नूपुर की ध्वनि सुन सकूँ तभी तो सुनना है । सारे रूप, विश्व के विविध रूप उस एक अपरूप रूप में पलट जाएँ; जगत् का सारा कोलाहल, हाहाकार और चीत्कार मुरली की मधुर ध्वनि होकर हमारे कानों में समा जाय; जो कुछ सुनूँ, देखूँ, स्पर्श करूँ सभी में प्राण-वल्लभ का 'मौन निमन्त्रण' स्पष्ट देख-सुन पड़े तब तो समझना चाहिए कि उनके प्रेम का आस्वादन हमारे प्राणों ने किया है । नहीं तो सब कुछ कोरा हठयोग ही है । एक क्षण के लिए भी जिसे हरि का स्पर्श मिल गया वह उस रस को पूरा पिये बिना रह कैसे सकता है ? वहाँ तो पग-पग पर एक अद्भुत आकर्षण बलात् प्राणों को किसी 'अपने' की ओर खींचे लिए जा रहा है । और इस मार्ग में चलते हुए एक विचित्र उल्लास संगी बना रहता है । वहाँ मिलन एवं विरह का अद्भुत सम्मिश्रण है । यह अखण्ड मिलन एवं आमरण विरह की अवस्था है । यहाँ मिलन और विरह दोनों घुले-मिले हैं । इस स्थिति में काम, क्रोध, लोभ आदि का प्रवेश है ही नहीं । यहाँ माया की मोहिनी नहीं चलती । यहाँ तो सतत जागरण है । यहाँ की बेहोशी संसार की सारी बुद्धि से परे की है और इसीलिए संसार की किसी भी वस्तु का आकर्षण वहाँ है ही नहीं । वहाँ तो परम रस, 'रसो वै सः' को पाकर संसार के विविध रसों की ओर से सहज ही विरति हो जाती है । यह तो 'आत्मरति' की सहज स्थिति है । यही सहज समाधि है ।

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो कर्हें री ।

तेरी ही उमरण तेरी ही सुमरण तेरी ही ध्यान धर्हें री ।

जहाँ जहाँ पाव धर्हें धरणी पर तहाँ तहाँ निरत कर्हें री ;

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणों लिपट पर्हें री ॥

भाता-पिता के प्यार में पली हुई कन्या पति की परिणीता होकर, पाणि-ग्रहण, ग्रन्थि-बन्धन और सिन्दूर-दान के अनन्तर सदा के लिए, जन्म-जन्मान्त के लिए अपने पति की हो जाती है। आश्चर्य होता है कि जिस घर में वह इतनी सयानी हुई वही घर उसके लिए पराया हो जाता है, और एक 'पुरुष' जिससे पहले वह सर्वथा अपरिचित थी उसी की वह एकान्ततः हो जाती है। वह अपना कुल, गोत्र, नाम सब कुछ पति के कुल, गोत्र और नाम में लय कर देती है।

ठीक वही बात यहाँ भी है। जगत् के प्रपञ्चों में पला हुआ प्राणी, जगत् के विषयों में रचा-पचा पुरुष एक क्षण के इस दिव्य विद्युत् स्पर्श में आकर अपना लोक-परलोक, पाप-पुण्य, सुख-दुःख—अपना सब-कुछ हरि के चरणों में निवेदित कर सदा के लिए 'उसका' बिना मोल का चेरा हो जाता है। खेल-खिलवाड़ में ही वह पहले इस और आने को ललकता है परन्तु एक बार जहाँ इधर पैर रखा कि फिर अपना सर्वस्व अर्पित कर देने की ही सनक सवार हो जाती है। वह विवशता भी कितनी मधुर, कितनी दिव्य है !

मैं गिरधर-रंग राती ।

पंचरंग चोला पहर सखी मैं क्षिरमिट खेलन जाती ।

ओह क्षिरमिट माँ मिलयो सौवरो खोल मिली तन गाती ॥

'पिय-परिचय' की वह दिव्य बेला साधक के लिए परम महोत्सव की बेला है। 'परिचय' हो जाने पर समर्पण करना नहीं पड़ता। वह आप-ही-आप हो जाता है। वहाँ चारों ओर से संयम नहीं करना पड़ता। पिय के प्राण में प्राण घुल-से जाते हैं, अतएव वहाँ सहज एकाग्रता होती है। वहाँ सब धर्मों के बन्धन को छोड़ने नहीं जाना पड़ता; 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' सुनना नहीं पड़ता। सभी धर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं, सभी धर्म अपना फल देकर, अपने को उसके प्रिम-मिलन में बाधक समझकर चुपचाप छिप जाते हैं; और वहाँ साधक अपने प्रियतम का प्रेमास्पद बनकर उसके परम प्रेम में अर्हनिश छका रहता है।

कोई कल्लू कहे, मन लागा ।

ऐसी प्रीति लगी मनमोहन ज्यूँ सोना में सोहागा ।

जनम जनम का सोवा मनुश्राँ सतगुरु सब्द मुन जागा ॥

मात पिता सुत कूटुम कबीला टूट गयो ज्यों धागा ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा ।

जिसे मैं चाहता हूँ वह भी मुझे चाहे यह मानव-हृदय की मधुर दुर्बलता है। अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त करना प्रेम-साधना की एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतम की ओर से प्रेम की अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमी के प्राण सदा नहाते हैं। यही बेखुदी की हालत है।

हमन है इस्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?

रहँ आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?

जो बिछुड़े हैं प्यारे से, भटकते दरबदर फिरते।

हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?

हृदय-देश में छिपा हुआ वह हमारा 'यार' अब तक सर्वथा अपरिचित-सा था। अन्तर का पट हटा और 'वह' सामने आया। और सामने आने पर—

ऐसे पियेँ जान न दीजै हो।

चलो री सखी ! मिलि राखिये नैननि रस पीजै हो ॥

युग-युग से, जन्म-जन्मान्तर से जिस प्राणाराध्य की खोज में आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक रूप से दूसरे रूप में, एक नाम से दूसरे नाम में ढलती आई है उस परम प्रियतम को पाकर अब क्यों छोड़ना ? आओ, उसे सदा के लिए प्राणों में छिपा लें और आँखों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछाकर और बाहर से पलकों की चिक डालकर उसके रस को पीते रहें।

रूपराग

रति या सङ्गमात्पूर्वं दर्शन भवणादिजा ।

तयोश्मीलति प्राप्यैः पूर्वराग स उच्यते ॥

—उज्ज्वल नीलमणिः (शृङ्गार भेद प्रकरण)

कृष्ण के रूप में जो लावण्य है, जो मोहकता एवं आकर्षण है वह अन्य अवतारों में नहीं मिलता। यही कारण है कि कृष्णभक्ति शाखा में श्रीकृष्ण के रूप का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। राम में माधुर्य है परन्तु कृष्ण में लावण्य है। राम के हाथ में धनुष-बाण उनकी कर्तव्यशीलता तथा दुष्ट-दलनता का परिचायक है पर कृष्ण के हाथ में मुरली उनकी अगाध मोहकता, आनन्द-विधायिनी प्रेमोज्ज्वलता की परिचायिका है।

सूरदास ने—

सोभित कर नवनीत लिए ।

घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधिलेप किए ।

द्वारा बाल-चापल्य एवं सहज नटखटी का जो संश्लिष्ट रूप हमारे सामने रखा है वह गोस्वामीजी में मिलना कठिन है। गोस्वामीजी का दास्य भाव सदा ईश्वर के ऐश्वर्य की ही भावना लिए हुए था। शिशु राम में भी 'स्वामित्व' की भावना ईश्वरत्व लिये हुए बनी हुई है। इस रूप-चित्रण में माधुर्य एवं मोहकता का गहरा पुट होते हुए भी रूप के नाना विलास, शिशु राम के विविध क्रीड़ा-कौतुक का कोई संश्लिष्ट रूप हमारी आँखों के सम्मुख नहीं आता। हम गोद के 'राम' को पैरों में पंजनी और हाथों में पहुँची तथा 'पीत भृगा' में ही देखकर तृप्त नहीं हो पाते। कौशल्या के आँगन में दौड़ते हुए 'अरबराय करि पानि गहावत डगमगाय धरे पैयाँ' का रूप-विलास, क्रीड़ा-कौतुक देखने के लिए उत्सुक-लालायित रह जाते हैं।

गोसाईंजी इस बालक राम के सम्मुख भी सिर नवाना ही पसन्द करेंगे उस निश्चल सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे प्यार से चुम्बन लेना नहीं। उनका दास्यभाव सर्वत्र एवं सर्वदा अखण्ड रूप में बना रहा। इसी हेतु वात्सल्य शृंगार में उनकी वृत्ति बहुत ही कम रम सकी। यही कारण है कि बालक राम के इस 'सोच विमोचन' रूप को देखकर मोहित न होने वाले को 'खर, सूकर, स्वान' की उपाधि मिली।

मीरा का प्रेम माधुर्य-भाव का था। इसलिए कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। पत्नी अपने पति के बाल रूप में लीन नहीं हुआ करती; उसे उसका प्रौढ़ युवा रूप ही अच्छा लगता है। पत्नी पति के शिशु या बाल-रूप को कौतूहल की दृष्टि से देखती है। दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नहीं है, युवा-युवती की रति है। मीरा कृष्ण को जगा रही है—परन्तु यह जगाना यशोदा का कृष्ण को अथवा कौशल्या का राम को जगाने के समान नहीं है। यहाँ पत्नी सोये हुए पति को जगा रही है—

जागो बंसी वारे ललना, जागो मेरे ध्यारे।

रजनी बीती, भोर भयो है, घर-घर खुले किवारे ॥

गोपी दही-मयत सुनियत है कंगना के ज्ञानकारे ॥

संगीत की मृदुल झंकार पर ध्यान दीजिए। प्रभात हो चला है, गोपियाँ दही मह रही हैं—उनके कंगनों की झनकार सुनाई पड़ रही है। घर-घर के द्वार खुल गये हैं। इस समय भी मीरा की सेज पर श्रीकृष्ण सो रहे हैं और द्वार बन्द हैं। यह देख मीरा कुछ संकोच, कुछ व्रीडा के साथ जल्दी-जल्दी अपने प्राणनाथ को जगा रही है, कि कहीं सखियाँ देखकर उसे चिढ़ाएँ नहीं। बहूधा ऐसा होता भी है कि देर तक सोते हुए पति को पत्नी जल्दी-जल्दी इसलिए जगा देती है कि कहीं उनका देर तक सोना देखकर दूसरे तंग न करें, चिढ़ाने न लगें।

मीरा के कृष्ण एक सुन्दर तथा परम मोहक प्रौढ़ युवा कृष्ण हैं। उनकी भावना मीरा ने यों की है—

मेरे नैना निपट लंपट बंकट छवि अटके।

देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके।

बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके।

टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।

मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरघर नागर नट के।

यही ललित त्रिभंगी भुवन-मोहिनी मूर्ति मीरा के हृदय में घर कर चुकी है। यह छवि उसके रोम-रोम में उलझी हुई है, यही प्रेमामृत उसके रेशे-रेखे में अंत-प्रोत है। हृदय में उलझी हुई उस बाँकी छवि की भाँकी सीजिये—

जब से मोहि नंदनंदन दृष्टि पड़यो माई।

तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई ॥

मोरन की चंद-कला सीस मुकुट सोहै।

केसर की तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥

कुंडल की अलक शलक कपोलन पर छाई।

मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन छाई ॥

कुटिल भ्रुकुटि, तिलक भाल, चितवन में टौना ।
 खंजन अरु मधुप भीन भूले मृग-छौना ॥
 सुन्दर अति नासिका सुधीव तीन रेखा ।
 नटवर प्रभु भेस धरे रूप अति बिसेखा ॥
 अधर बिब अरुन नैन मधुर मंद ह्रांसी ।
 दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला-सी ॥
 छुद्र-घांठि किकिनी अनूप धुनि सोहाई ।
 गिरिधर के अंग-अंग भीरा बलि जाई ॥

कृष्ण के इसी नटवर प्रौढ़ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढ़ाया है। 'अलंकार' वालों से यहाँ इतना निवेदन है कि यह 'रूप-राग' का विषय है, मीरा की 'काव्य-कला' का नहीं। अतएव 'रूपकातिशयोक्ति' एवं उत्प्रेक्षा दिखाकर मीरा की कविता पर धन्य-धन्य अथवा बाह-बाह कहने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ अलंकार स्वतः गौण है, रूप-विधान ही मुख्य है। भावना को तीव्र एवं कल्पना को सजीव बनाने के लिए ही ये अलंकार आए हैं। ऊपर के पद में कितनी सुन्दर रूप-व्यंजना की उद्भावना हुई है! कुटिल भ्रुकुटि, भाल पर केसर का चन्दन और चितवन में टौना देख किसे लोक-परलोक की मुधि रहेगी? किसका हृदय बरबस इस रूप-सागर में डुबकी लेने के लिए व्याकुल न हो उठेगा? मीरा का भावप्रवण हृदय इस 'परम भाव' के लिए सर्वथा उपयुक्त था। उसे कुछ बनना तो था नहीं। 'माधुर्य भाव' उधार लेने की उसे कोई आवश्यकता तो थी नहीं। मीरा को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष कहाँ से और कैसे दीख पड़ता? यह सारा संसार ही सखी-भाव से स्त्री-स्त्री हो रहा था, यदि कोई पुरुष था तो श्रीगिरिधारीलालजी।

प्रेम का प्रारम्भ, जिसे कवियों ने 'पूर्वानुराग' की संज्ञा दी है, विशेषतः प्रिय के संगम के पूर्व प्रिय के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर या उसके दर्शन से, रूप के ही आकर्षण से होता है। अनजाने हृदय बरबस अरुण जाता है। आँखों की खिड़की से प्रवेश कर हृदय में रूप का टौना एक विचित्र हलचल मचाने लगता है। लगालगी आँखें करती हैं और बँधता है बेचारा मन। जो चाहता है कि बश चलता तो असंख्य नक्षत्र, मधुर ऊषा, समस्त संसार के अखिल सौन्दर्य को अपने प्रेम' के चरणों में चढ़ा देता। कविवर (Yeats) ईट्स में यह भी भावना मिलती है। कवि का विवशतापूर्ण कथन है—ऐ मेरे प्रियतम! यदि मेरे पास ये असंख्य नक्षत्र, अनन्त आकाश और उस पर बिछी हुई सतरंगी चादर होती तो तुम्हारे चरणों में बिछा देता, जिस पर तुम्हारे कोमल चरण पड़ते, परन्तु—

But, Alas! I am poor and have my dreams only,
 I have spread my dreams under Thy feet;

Tread softly, for Thou treadst on my dreams.

परन्तु खेद है कि मुझ गरीबिनी के पास सपनों के सिवा कुछ है नहीं। ऐ मेरे प्रियतम, मैंने तुम्हारे चरणों के नीचे अपने सपने बिछा दिए हैं। इन सपनों पर धीरे-धीरे चलना, मेरे साजन, क्योंकि तुम मेरे सुकुमार सपनों पर चल रहे हो।

महादेवी में भी एक स्थान पर ऐसी ही मधुर भावना मिलती है—

मैं पलकों में पाल रही हूँ
 यह सपना सुकुमार किसी का।
 जाने क्यों कहता है कोई
 मैं तम की उलझन में खोई।
 धूममयी बीधी - बीधी में
 लुक - छिपकर विद्युत-सी रोई।
 मैं कण - कण में ढाल रही हूँ
 आँसू के मिस प्यार किसी का।

प्रेम की आँखों से देखने पर वही रूप कुछ और हो जाता है। इसी से तो कहा है कि 'अल्लाह भी मजनुँ को लैला नजर आता है।' रूप की धोत सबसे करारी होती है। प्रीति का घाव बड़ा ही गहरा होता है। उसे वही समझ सकता है जो स्वयं घायल हो, भुक्तभोगी हो—

'जाके लगै सोई पै जाने प्रेम वान अनियारो'
 'घायल की गति घायल जानै
 कि जिन पीर लगाई होय।'

प्रेम-जन्य, आकर्षण-मूलक यह 'दर्द' ही तो प्रेमियों का एकमात्र सहारा है। प्रेम के इस दुःख को दुःख भी तो नहीं कह सकते। जहाँ 'कुछ और' की कामना बनी रहती है वहाँ दुःख कैसा? किसी अप्रेम कवि ने ठीक ही कहा है: 'Love is a pleasant woe' अर्थात् प्रेम सुखद वेदना है। प्रेम की विकलता में पड़े हुए प्राणी इससे बाहर आना पसन्द नहीं करेंगे—

Love ! in what a prison is thy dart
 Dipped when it makes a bleeding heart ?
 None know but they who feel the smart.

—Druham

प्रेम की दारुण दशा भी प्रेमियों को सहारा ही देती है। किसी के रूप पर मुग्ध हुआ मन संसार में अपने प्रेम-पात्र के समान ढूँढ आता है; चन्द्र, ऊषा, कमल, आदि सभी उसको उस परम रूप-शोभा के सम्मुख तुच्छ लगते

हैं। उसकी यह आसक्ति ही, यह एकोन्मुखी वृत्ति ही आगे चलकर 'प्रेम' हो जाती है। रूप पर आसक्त हृदय रूप का पुजारी हो जाता है। अपने प्रेम-पात्र की आँखें, कान, भों, भुजाएँ, नासिका, कपोल आदि पर से विछलती हुई उसकी दृष्टि, प्रिय का मिलना, हँसना, बातें करना, बैठना, सोना, यहाँ तक कि रूठने में भी एक अपूर्व माधुरी का आस्वादन करता है। अनुराग अपने को प्रिय के सभी क्रिया-कलाप पर छिड़क देता है। इसी हेतु प्रिय की सभी 'हरकतों' में उसे एक अपूर्व मादकता मिलती है। गीरा का यह 'पूर्वानुराग' इसी प्रकार का है।

विषाद की अमावस्या

भगवान् के प्रेमपथ में चलनेवाले साधक को अनुभूति की अनेकानेक घाटियों से गुजरना पड़ता है। पहली घाटी अन्वेषण की है। यह बहुत ही कष्टकर और साधक को थका देनेवाली होती है। यहाँ साधक को अपने समस्त भार को पटककर हलका हो लेना पड़ता है। अकिंचन, निरीह, सर्वथा अकेला; इसमें वह आगे बढ़ता है। प्लॉटिनस ने इसे ही stage of purification कहा है। आत्मदान का यह श्रीगणेश है।

सर्वथा एकाकी, परित्यक्त, नग्न, निरीह होकर जब साधक आगे बढ़ता है तो प्रेम की कठिन घाटी में प्रवेश करता है। यहाँ उसके अन्तस्तल में प्रकाश की भिल्लमिल कोमल किरणें क्रीड़ा करने लगती हैं। यहाँ अन्धकार से प्रकाश में अचानक अपने को पाकर वह चकित-विस्मित हो जाता है।

इसके बाद ज्ञान की घाटी आती है जहाँ उसे सत्य से साक्षात्कार होता है और 'रहस्य' धीरे-धीरे उसके सम्मुख खुलने लगता है। वह प्रकृति के नाना रूप और विलास में भगवान् का हास-विलास देखता है और प्रकाशमय जीवन में प्रवेश करता है।

ज्ञान की घाटी के अन्तर वैराग्य की घाटी आती है जहाँ दिव्य भागवत-प्रेम में साधक की समस्त सत्ता डूब जाती है, और यहाँ प्रेम ही कर्तव्य-रूप में दोष रह जाता है; बाकी सारी बातें अपने-आप छूट जाती हैं।

इसके बाद विस्मय की घाटी आती है जहाँ भगवत्प्रकाश से साधक की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और उसे इस प्रखर प्रकाश के कारण कुछ भी सूझता नहीं; कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

और अन्त में आत्म-विसर्जन की घाटी आती है जिसमें साधक भगवान् के प्रेम में अपने-आपको भुला देता है—जैसे मछली अगाध सागर में।

हमारा यह एक अभिमानभरा प्रमाद है कि हम भगवान् को ढूँढ़ते हैं और उसके पथ में चल रहे हैं। वस्तुतः खोजने वाला तो स्वयं भगवान् ही है और वही इस पथ में चलने की प्रेरणा भी प्रदान करता रहता है। संत एखार्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिलन की चाह इधर भी है और उधर भी; इधर की अपेक्षा उधर ही अधिक है। प्रेम प्रेम का आवाहन कर रहा है क्योंकि परमात्मा जीव का प्रेमी है। हृदय के द्वार पर 'वह' खड़ा-खड़ा हमारे द्वार

खोलने की बाट देखा करता है। हमारा खोलना और उसका प्रवेश करना एक साथ होता है।¹ जलालुद्दीन रूमी ने इसी को दूसरे ढंग से कहा है—

When in this heart the lightning spark of love arises

Be sure this love is reciprocated in that heart.

भगवान् के प्रेम की चोट खाए हुए साधक की स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी बाण लगे हुए हिरण की। 'दरद की मारी बन-बन डोलूँ, दरद न जानै कोय।' प्रेम का तीर छोड़कर 'शिकारी' छिप जाता है। हृदय में उस घाव को लिये हुए प्रेमी साधक बेचैनी में गाता है—'घायल-सी घूमूँ-फिरूँ, मेरी विधा न बूझे कोय।'।

रे मेरे पार निकस गया साजन मार्या तीर ।

बिरह भाल लागी उर अंतरि व्याकुल भया शरीर ॥

इत उत वित्त चलै नहि कबहूँ डारी प्रेम जंजीर ।

के जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाने पीर ॥

कहा करूँ मेरो बस नहि सजनी नैन भरत दोउ नीर ।

मीरा कहै प्रनु तुम मिलियाँ बिनि प्राण धरत नहि धीर ॥

मैदम ग्यों (Madame Guyon) ने भी मीरा की ही तरह अपने घायल हृदय की व्यथा में अपनी बड़ी मीठी अनुभूति को व्यक्त किया है—

'After thou hadst wounded me so deeply, thou didst begin, oh my God, to withdraw thyself from me; and the pain of thy absence was the more bitter to me because thy presence had been so sweet to me, thy love so strong in me.'

प्रेमी के आवाहन एवं संकेत-भरे आमंत्रण पर प्रेमिका 'अभिसार' करती है और इस कृष्णाभिसार में ही प्रियतम के मधुर चुम्बन, आलिंगन एवं परिरम्भण का रसास्वादन उसके शरीर, मन, प्राण को जुड़ा देता है। परन्तु मिलन का यह अवहनीय सुख कुछ ही देर ठहरता है, और फिर प्रियतम न जाने कहाँ छिप जाता है। रास के प्रसंग में यह रहस्य बड़े मीठे ढंग से सांकेतिक शैली में खुला है। गोपियों की जो स्थिति हुई—'श्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्'—तुम्हें

1. He is no farther off than the door of the heart. There He stands and waits and waits until He finds thee ready to open and let Him in. Thou needst not call Him from a distance; to wait until thou openest is harder for Him than for thee. He needs thee a thousand times more than thou canst need Him. The opening and His entering are but one moment.

—Meister Eckhart

देखे बिना एक क्षण युग के समान बीत रहा है—ठीक यही स्थिति प्रेम-पथ के प्रायः प्रत्येक साधक की होती है। मन निराधार होकर मारा-मारा फिरता है। कहीं किसी का संग-साथ सुहाता ही नहीं। मानो वह व्यक्ति अघर में लटका दिया गया हो जो न पृथ्वी पर पैर ही टिका सकता है और न आकाश को ही पकड़ पाता है। प्यास से उसके प्राण जल रहे हैं, परन्तु पानी तक पहुँचने की उसमें शक्ति नहीं। यह ऐसी प्यास है जो एक क्षण के लिए भी सही नहीं जाती, परन्तु संसार की कोई चीज इसे बुझा भी नहीं सकती क्योंकि वह तो प्यारे के प्रेम का प्यासा है। उसकी तो एक मात्र यही पुकार है कि ऐ मेरे प्राणसखा, भुझे अपने अघरों का अमृत पिलाओ।^१

प्यारे दरसन दीज्यो धाय
तुम बिन रह्यो न जाय ।
जल बिन कमल चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल ध्याकुल फिरूँ रैन दिन,
बिरह कलेजो छाय ॥
दिवस न भूख नौद नहि रैना
मुख से कहत न आवै बैना,
कहा कहूँ कछु कहत न आवै,
मिल कर तपन बुझाय ॥
क्यूँ तरसावो अन्तरजामी,
धाय मिलो किरपा कर स्वामी ।
भीरा दासी जनम-जनम की,
पड़ी तुम्हारे पाय ॥

यह स्मरण रखने की बात है कि यह 'राग' 'इतरराग विस्मारण' है—अर्थात् भगवदासक्ति से संसार की अन्य सारी आसक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं; सारी ममताओं का केन्द्रबिन्दु हो जाता है परम प्रियतम भगवान्—जो वस्तुतः सब का 'प्रियतम' है, प्राणाधार है।

१. सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।

इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥

भा० १०. ३१. १४.

गोपियाँ कहती हैं—हे वीर ! जो काम सुख को बढ़ाने वाला, शोक को दूर करने वाला, बजती हुई बाँसुरी से चुम्बित और मनुष्यों की अन्य आसक्तियों को मुला देनेवाला है, वह अपना मधुर अधरामृत हमें पिलाइये ।

एक बार मिलन का आनन्द पा चुकने के बाद प्रेमास्पद की आँखों से ओभल हो जाने के कारण साधक का हृदय विरह की आग में भुलसने लगता है और विरह की 'छमासी रैन' का अन्त नहीं मिलता। एक गम्भीर विषाद में वह डूब जाता है। पय नहीं सूझता कि बाहर निकले। परम प्रियतम की प्रेम-प्राप्ति के लिए फिर वह क्या-क्या नहीं करता? जीवन में मृत्यु का अनुभव करता है और एक ऐसे अन्धकार से घिरा रहता है जिसमें प्रकाश के लिए कोई मार्ग ही नहीं है। साधक अपने-आप पूछता है—“इस अन्धकार में तुम कहाँ जा छिपे हो, ऐ मेरे स्वामी?” अन्तर से आवाज आती है, “तुम्हारे हृदय की गुफा में।”

एकाएक प्रकाश का दिव्य पुंज देखकर जिस प्रकार हमारी आँखें भँप जाती हैं, जिस प्रकार प्रखर रश्मियों को हम खुली आँखों नहीं देख पाते, उसी प्रकार साधक की आंतरिक आँखें भी भगवान् के दिव्य तेजपुंज से चौंधिया जाती हैं और इस विरह की स्थिति में साधक सर्वथा अपने को परित्यक्त, आश्रयहीन, निराधार, निरबलम्ब समझ लेता है। उसकी चेतना इतनी जड़ हो जाती है कि वह भगवान् के स्पर्श का अनुभव नहीं कर पाता। एक विचित्र उदासी, अकथनीय गम्भीरता, एक घना निविड़ विषाद का कुहरा छा जाता है जब वह साधक स्पष्ट देखता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।¹

इस गम्भीर विषाद में, इस अथाह मौन में ही भगवान् के दिव्य आशवासन के शब्द सुन पड़ते हैं। बाहर का सारा संसार जब घोर तमिस्रा से भर जाता है तभी हृदय के आकाश में प्राणनाथ की मधुर, शीतल, कोमल अंग से छिटकती हुई किरणों के दर्शन और स्पर्श प्राप्त होता है। अन्तस्तल में प्रकाश सदा सदैव प्रकाशित है, परन्तु उसकी अनुभूति चारों ओर से अन्धकार से घिर जाने पर ही होती है। जब जगत् का सारा कोलाहल, सारी इच्छाएँ-वासनाएँ मिट जाती हैं तभी प्राणप्यारे की वंशी की मधुर ध्वनि सुन पड़ती है। प्रत्येक साधक के पथ में वह विषाद की अभावस्या आती ही है जिसे 'Dark Night of the Soul' कहते हैं और जिसके गर्भ में आनन्द का उत्स है। साधक विषाद की इस घोर निविड़ अभावस्या में, जगत् के विलास की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेता है और इस गहरी उदासी की अवस्था में उसे यह अनुभव होता है कि मैं और जो कुछ भी मेरा है तुच्छ है, अकारण है। और इसी क्षण उसकी

1. Desolation and loneliness abandonment by God and by man, a tendency of everything to go wrong, a profusion of unsought trials and grief—all are here. —Underhill.

हृदयगुफा में से कोई बोल उठता है—“खोलो, द्वार खोलो, मैं मिलने के लिए युग-युग से खड़ा हूँ।” उसी ‘आवाज’ को सुनकर मीरा ने गाया है—

सुनी री मैंने हरि आवन की आवाज ।

महल चढ़ चढ़ि जोड़ें मेरी सजनी कब आवें महाराज ॥

बादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।

उमंग्यो इंदु चहैं दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज ॥

धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज ।

मीरा के प्रभु हरि अविनासी वेग मिलो महाराज ॥

आँख-मिचौनी

‘विषाद की अभावस्था’ (The Dark Night of the Soul) को पार कर प्रेमी भक्त एक ऐसी स्थिति में आता है जिसे ‘आँख-मिचौनी’ कह सकते हैं। इसे आत्म-प्रकाश (Illumination) तथा आनन्द-संभोग (Ecstatic Union) की स्थिति भी कह सकते हैं जिसमें भक्त और भगवान् का मधुर प्रेमालाप होता है—भक्त अपनी सुनाता है, भगवान् अपनी। यह परम आत्मीयता की स्थिति है जिसमें भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में अपना रूप निहार-निहारकर मग्न होते हैं और हृदय की भाषा में एक-दूसरे से मीन प्रेमालाप करते हैं। यह अस्फुट प्रेमालाप उन्हीं के शब्दों में सुनने लायक है। अस्तु।

इस लुका-छिपी में, इस घूप-छाँह में ओ मायावी ! ओ चतुर खिलाड़ी ! मेरे प्राणों के साथ कैसे-कैसे खेल खेला करते हो ! यह तुम्हारी ललित लीला, यह तुम्हारी मोहिनी माया मुझे एक क्षण भी विराम नहीं लेने देती। आते हो, अचानक, चुपचाप, नीरव निवीथ में पैरों की चाप छिपाये, पंजनी की रुनभुन दबाये, मुरली का स्वर और किकणी का क्वणन समेटे, आते हो; धीरे से, चुपके से मेरे प्राणों को छू देते हो। उस स्पर्श से मेरे रोम-रोम जग जाते हैं, अन्तर में सोई हुई चिरन्तन लालसा, अमर प्यास जग पड़ती है, हृदय का रेसा-रेसा उस कोमल मधुर आर्द्र शीतल अमृत-स्पर्श में सिहर उठता है—अतल प्राणों में तुम्हारे स्पर्श की लहर से उद्भूत एक विचित्र सुखानुभूति होने लगती है—ऐसा मानो मैं तुम्हें अपने आलिङ्गन में बाँधे हुई हूँ—तुम मुझे अपने आलिङ्गन में बाँधे हुए हो !! अहा ! वह सुख; वह स्पर्श, वह आनन्द !

आँखें खुलती हैं, रोम-रोम खुलते हैं, प्राण-प्राण खुलते हैं, हृदय का कपाट खुलता है, र्वास-श्वास के द्वार खुल पड़ते हैं अपने इस अनोखे अतिथि, प्राणेश्वर, प्राण-वल्लभ के स्वागत के लिए ! चिर अभिवांछित साध के कण-कण में ‘हरि ! हरि !’ का आवाहन सुनाई पड़ने लगता है। अथ क्या ! मेरे जन्म-जन्म की लालसा पूरी हुई; प्रभु ने स्वयं दया कर अपने दर्शन और स्पर्श से मुझे निहाल कर दिया। कितने अकारण दयालु हैं वे ! स्वयं इस अंधेरी अर्ध-रात्रि में घने वीहड़ वन और काँटों का पथ तय कर, इस सुनसान रजनी में मुझ दासी को अपनाने के लिए आए और आज पहले की भाँति आकर, एक

क्षणमात्र के लिए भलक दिखाकर चले नहीं गए अपितु मुझे अपने मधुर स्पर्श का सुख भी दिया !

ऐसे पियं जान न दीजं हो ।

चलो री सखी ! मिल राखिये, नैननि रस पीजं हो ।

स्याम सलोनी साँवरो मुख देखत जीजं हो ॥

जोड़ जोड़ भेषतो हरि मिलें सोड़ सोड़ कीजं हो ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बड़भागन रीजं हो ॥

हृदय हिलोरें ले रहा है, प्राण बेसुध-से हैं । मन माता-माता फिरता है । रोम-रोम नहा रहे हैं इस अमृतवर्षा में । इस जगती में तुम्हारे सिवा कुछ रहा ही नहीं । कण-कण में तुम्हारी छवि छलकती हुई इठला रही है । धरती धन्य हुई तुम्हारे कमल-कौमल चारु चरणों के परम पावन स्पर्श से ! आकाश धन्य हुआ अपने हृदय में तुम्हारी परछाई की श्यामल आभा पाकर ! वायु बन्ध हुआ तुम्हारी आरती उतारकर ! समुद्र धन्य हुआ तुम्हारे चरणों को पक्षारकर ! आज बसुन्धरा में एक अद्भुत उल्लास छा रहा है, सभी मानो तुम्हारे आगमन और दिव्य-स्पर्श के सुख से बेसँभार होकर, मतवाले-ले नाच रहे हैं । आनन्द हृदय में समा नहीं रहा है, इसे बाँटने की इच्छा होती है, पर वाणी स्वयं उस अमृत में छकी हुई है, कुछ कहना नहीं चाहती । समस्त चराचर अपने प्राणेश्वर को पाकर उसके मधु आलिङ्गन में डूबा हुआ है ! किसी से कोई क्या कहे, क्या सुने ?

रे मन ! रे प्राण ! हृदय ! नयन ! पीओ, पीओ, इस अमृत-सिन्धु में डूबो, डूब जाओ ऐ हृदय ! ऐ आँखें ! अपने स्वामी को देखो ! देखते-देखते ऐसा देख लो कि फिर कुछ देखने को रहे ही नहीं । जन्म-जन्म की साध ! आज अपना भाग्य सराहो, आज प्रभु के चरणतल में लोटो ! आज तुम धन्य हो गई, ओ मेरे प्राणों की चिरविकल प्यास ! तुम्हीं तो डूँड लाई हो इस अप-रूप रूप को, इस मधुर मनोहर श्यामसुन्दर को ! अहा ! प्रभु के चरणनल की विद्युत् छुति ने मेरे अन्तस् को आलोकित कर दिया है, जगमग कर दिया है ! यह प्रकाश ! यह शोभा ! ! यह आनन्द ! ! !

प्रभो ! मैं यह क्या देख रही हूँ ? क्या मैं यह स्वप्न देख रही हूँ ? क्या यह कल्पना का लोक है ? प्यारे, मेरे जीवनधन ! आज तो तुम संसार से भी अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहे हो । संसार तो मानो तुम्हारे आलोक में विस्मित, तुम्हारे रूप पर विमुग्ध, तुम्हारे चरणों के नीचे लोट रहा है । संसार के मस्तक पर चरण रखकर तुम आये हो, देव ! और, मुझे भी अपनी गोद में ऊपर उठा रहे हो । मुझे भी उठा लो मेरे प्राण ! अरे, इस संसार की क्या हस्ती कि मुझे छू भी सके ! मैं तो हरि की गोद में हूँ, हरि ने मुझे अपने हृदय में छिपा

रखा है। संसार की याद ही इस समय क्यों आए ? श्री हरिः शरणं मम !

अरे ! एक क्षण भी तो नहीं हुआ और ओ छलिया ! ओ कपटी ! फिर वही लुका-छिपी ! वही धूप-छाँह ! अभी भर श्रील देख ही कहाँ पाई थी, हरे ! पूरा एक क्षण भी नहीं बीतने पाया और तुम्हारी छवि भिलमिल-भिलमिल-सी होकर पता नहीं कहाँ किस अदृश्य में छिप गई ! प्रभो ! इतनी दया कर जब आये ही तो एक क्षण और ठहर जाने में क्या लगता ! मैं तो तुम्हारी ही बन्दिनी हूँ, जन्म-जन्म की बन्दिनी हूँ, अपनी इस चरणों की चेरी को इतना क्यों भरमा रहे हो ? अधिक नहीं, बस एक बार भर श्रील देख लेती, एक क्षण तुम्हारे रूप को निरख पाती, एक बार तुम्हारे परम पावन चरणों को अपने भूखे-प्यासे प्राणों से संस्पर्श कर पाती ! इन कमल-कोमल, परम शीतल, त्रिविध ज्वाला-हरण चरणों को अपने बक्षस्थल से लगाकर जी की ज्वाला शान्त कर पाती, अपने हृदय की इस अल्हड़ लालसा को पूरी कर पाती ! यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है, ओ मेरे जन्म-जन्म के प्यारे साथी !

और, तुम तो मेरे जन्म-जन्म के साथी हो, देव ! संसार में जब कोई भी 'अपना' नहीं होता तब भी तुम मेरा अपना, एकमात्र 'अपना' बनकर सदा-सदैव साथ बने रहते हो ! सब कोई मुझे छोड़ दे पर तुम मुझे कैसे छोड़ोगे ? कितने इस हृदय के आँगन में आये और चले गये; आज उनकी धूमिल छाया भी नहीं है। भूल से, मोह और आवक्ति से उन्हें ही अपने 'प्राणों का देवता' मानकर उनके चरणों में आत्मार्पण करना चाहा परन्तु हरि ! हरि ! तुम कितने उदार, कितने दयालु हो ! उसी समय, ठीक उस पागल बेला में—मेरे प्राणों में अपना प्रकाश फँककर, मेरे हृदय में अपनी ज्योति डालकर, मेरे अन्तस्तल में अपनी प्रीति बरसाकर और मेरी आँखों में अपनी छवि की माधुरी बिखेरकर मुझे जगा लिया—'ओ भोले प्राणी ! संसार में किस-किस के चरणों में अपने को निछावर करोगी ? किस-किस रूप पर अपने को लुटाओगी ? रूप की धूप में यों न जलो ! लावण्य की धार में यों न बहो ! अपने को सम्हालो और मेरी ओर देखो ! तुम्हारे प्राणों के भीतर जो हाहाकार है, जो श्रातुर उत्कंठा है, अमर लालसा है, अतृप्त वासना है, तुम्हारे रोम-रोम में रूप के प्रति जो रुझान है, सौन्दर्य के प्रति जो आकर्षण है, वही तुम्हारी निधि है ! तुम्हारे भीतर जो प्यास है, मुझे देखने, छूने, पाने और मुझमें समा जाने की जो सलोनी साध है, वही तुम्हारे अन्तःपुर का रुचिर मणि-प्रकाश है। तुम्हारी स्थूल आँखों से ओभल तो मैं हो गया हूँ परन्तु अपना बरदान, अपना प्रीति-प्रतीक तुम्हारी हृदय-गुफा में छोड़कर आया हूँ इसलिए कि तुम मुझ छिपे हुए को खोजो, खोजती रहो और खोजते-खोजते स्वयं खोज में ही खो जाओ। यह 'खो जाना' ही साधना का चूड़ामणि है। इसे प्राप्त कर लेने पर

मेरी प्रीति प्राप्त करोगी और उस प्रीति के द्वारा ही तुम्हें मेरा दर्शन और स्पर्श—कभी न हटनेवाला दर्शन, कभी न मिटनेवाला स्पर्श प्राप्त होगा। उस स्पर्श के कारण ही तुम दिव्य हो जाओगी और फिर तो मैं तुम्हें अपने हृदय में छिपा लूँगा; मेरे हृदय में तुम होगी और तुम्हारे हृदय में मैं। मेरे चित्त में तुम्हारा चित्त प्रवेश कर जाएगा और मेरे प्राणों में तुम्हारा प्राण ! मेरे मन में तुम्हारा मन मिल जाएगा और मेरी इच्छा में तुम्हारी इच्छा। फिर शेष कुछ रह ही नहीं जाएगा जिसके द्वारा तुम मेरे सिवा अन्य किसी वस्तु को देखोगी ! मेरी दृष्टि में अपनी दृष्टि मिलाकर फिर संसार को देखो, फिर यह संसार ही मेरी गोद के रूप में तुम्हें प्राप्त होगा ! मैं तुम्हें देखता रहूँगा, तुम मुझे ! बीच में कुछ आवरण जैसी कोई वस्तु रहेगी ही नहीं ! वह सुख, वह शान्ति; वह प्रेम और वह आनन्द तुम्हें प्राप्त हो, इसीलिए तो मैंने तुम्हारे भीतर यह अवृत्त पिपासा की उदाम तीव्र ज्वाला भर दी है। यह तड़प ही, यह ज्वाला ही, यह विकलता ही मेरी 'प्रसादी' है। इसे बड़े जतन से प्राणों में जुगोये रखो, और, सावधान ! संसार में किसी पर भी हमारे-तुम्हारे मधुर सम्बन्ध की गोपनीय बात प्रकट न हो।

भीतर यह क्या सुन रही हूँ, प्रभो ! यह क्या तुम्हारी वाणी है ? क्या मैं अपने प्रियतम के ये मधुर आश्वासन के प्रीति-भरे वचन सुन रही हूँ ? क्या वह मेरी इतनी सुध रखता है ? क्या पग-पग पर वह मेरी सँभाल रखता है ? क्या उसके हृदय में मुझ नाचीज के लिए इतना स्नेह, इतनी प्रीति है ? क्या वस्तुतः वह मुझे सदा अपनी छाती में छिपाये हुए है ? क्या हर समय मैं अपने प्राणेश्वर हरि की गोद में खेल रही हूँ ? उसी की सिरजी हुई, उसी की भेजी हुई, उसी की विश्वगोद में मैं स्वच्छन्द, निश्चिन्त, निर्भय, निर्वन्द, अलमस्त विचर रही हूँ। फिर भी मन में इतनी बेचैनी क्यों है ? क्यों उससे रो-रोकर कातर प्राण बार-बार यही भीख माँग रहे हैं—

तनिक हरि चितवौ हमरी ओर !

हम चितवत तुम चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर ! !

भक्त और भगवान् के बीच इस प्रेमालाप के अनन्तर धीरे-धीरे भक्त की भाव-देह अपनी परम पवित्र स्थिति में पलटने लगती है और इस स्थिति को पार करता हुआ वह धीरे-धीरे भगवान् की एक-एक लीला में प्रवेश करने लगता है और भगवान् के साथ उसका नित्य लीला-विहार हुआ करता है। भक्त का भगवान् में और भगवान् का भक्त में यही 'रमण' है। भक्त और भगवान्—दूसरे शब्दों में प्रेमी और प्रियतम के बीच 'श्रांख-मिचौनी' की यह प्रणय लीला, यह कुतूहल कितना मधुर, कितना मादक, कितना आनन्दोल्लास-पूर्ण है !

लीला-विहार

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृजोति नान्यद्विजानाति सम्भूमाथ यत्रा-
न्यत्पश्यत्यन्यच्छृ जोन्यन्य द्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ
यदरूपं तन्मर्त्यम् ।
—छान्दोग्योपनिषद्, ७।२।१

जहाँ दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता वही 'भूमा' है। और दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे को जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मरा हुआ है। इसीलिए प्रेम सदा मधुर, अविनाशी, सनातन और सत्य है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन-विहार का जो प्रवाह चलाया उसमें भगवान् के नाम, रूप एवं लीलाओं का मधुर विन्यास होने के कारण, भक्तों का हृदय पूर्णतः रम गया। इसमें प्रेम एवं आनन्द की जो स्रोतस्विनी उमड़ी वह जयदेव और विद्यापति के काव्य-कण्ठ से और भी प्रखर हो चली। सम्भोग-शृंगार का जो सूक्ष्म निदर्शन जयदेव और विद्यापति में हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी 'चन्दनचर्चित नील कलेवर पीत वसन बनमाली' तथा 'रतिसुख सारे गतम-भिसारे मदन मनोहर वेश' को ही गा-गाकर वैष्णव सम्प्रदाय के महाभाववाले भावुक भक्त भावना में लीन हुआ करते हैं तथा अपने 'हृदयेश' का अनुसरण किया करते हैं। इस रूप से आँखें अघाती ही नहीं, न हृदय जुड़ाता ही है। विद्यापति ने कहा है—

जनम जनम हम रूप निहारनु,
नयन न तिरपित भेल ।
लाख लाख जुग हिया बिच राखनु,
तबू हिया जूड़ ना गैल ।
वचन अभिय अनुक्षण शूनर्लू,
श्रुतिपथ परस न भैल ।
कत मधुयामिनि रमसे गँवावल,
ना बुझल कैसन केलि ।

जन्म-जन्म से हम उसे देखते आ रहे हैं, फिर भी आँखें तृप्त नहीं हुईं। लाख-लाख युग से हमने उसे अपने हृदय के हृदय में रखा, तो भी हृदय जुड़ाया

नहीं। रात-दिन उसकी बातें सुनीं, फिर भी कानों ने अघाना न जाना। कितनी मधुर रातों उसके परिरंभण में बिताई परन्तु पता न चला कि कभी भी उसके साथ केलि की है। हृदय की यह प्यास कभी बुझना नहीं जानती।

भगवान् की यह माधुरी चार प्रकार की होती है—ऐश्वर्य-माधुरी, लीला-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। ऐश्वर्य-माधुरी में भगवान् का ऐश्वर्य मुख्य रूप रहता है; इसमें भगवान् के चमत्कारी महत्कार्य तथा लोकसृजन और लोक-संरक्षण की महिमा, जन-साधारण में भयमिश्रित श्रद्धा—जिसे अंग्रेजी में 'awe' कहते हैं, उत्पन्न करती है। क्रीड़ा-माधुरी में गोपबालकों के साथ खेलना, माँ से रात मचाना, सखाओं के साथ छेड़छाड़ तथा मान-मनौबल और सखियों के साथ 'दानलीला' सम्मिलित है। वेणु-माधुरी में भगवान् की वेणु की विमोहिनी शक्ति का वह जाड़ है—जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादि मोहित हो जाते हैं; जड़ चेतन और चेतन जड़ हो जाता है। विग्रह-माधुरी में भगवान् के त्रिभुवनमोहन परम मधुर, परम मनोहर रूप का रसपान है।

निपट बंकट छवि अटके,

भेरे नैना निपट बंकट छवि अटके ॥

देखत रूप भदनमोहन को पियत मयूखन मटके ।

बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके ॥

टेढ़ी कटि, टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ।

'मीरा' प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ॥

इस प्रकार टेढ़ी भौंहें, टेढ़ी कटि, टेढ़ी मुरली तथा टेढ़ी पाग वाले त्रिभंगी श्यामसुन्दर की ललित छवि टेढ़ी होकर मीरा के हृदय में अटकी है। सूरदास ने भी एक स्थान पर इसी प्रकार त्रिभंगी रूप का हृदय में अटकना देखकर कहा था कि यह टेढ़ी-सी चीज हृदय से भला निकले तो कैसे ?

गोपियों ने भी यही कहा था—हे कांत ! जब आप गौ चराते हुए ब्रज से बाहर जाते हैं तब आपके कमल-सदृश सुन्दर चरण कंकड़-पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े, तृण और अंकुरों से दुःख पाते हैं, ऐसा सोचकर हमारा हृदय व्यथित हो उठता है। हे वीर ! सायंकाल के समय काले घुँघराले केश से आवृत और गोधूलि से व्याप्त अतएव भ्रमरपंक्ति और पराग से आवृत कमल के समान अपने मुखारविन्द को हमें बार-बार दिखाते हुए आप हमारे मन में अपने संस्पर्श की इच्छा प्रदीप्त करते हैं। मीरा गाती है—

या मोहन के रूप लुभानी !

सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन भंद मुसकानी ।

जमना के नीरे तीरे घेनु चरावें बंसी में गावें मीठी बाणी ।

तन-मन-धन गिरधर पर बाहूँ चरण कमल मीरा लपटानी ॥

रूप की धूप में पड़ा हुआ मन कभी तो श्रीकृष्ण के धेनुचरावन में उलभता है और कभी वंशी की तान में। मीरा में लीला-विहार के हेतु वंशी तथा गोचारण ही मुख्यतः उद्दीपन रूप में आए हैं। गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ाएँ नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि मीरा की भवित परम भाव की थी और कोई भी पत्नी अपने पति का दूसरी किसी भी स्त्री के साथ रमण करने की अप्रिय भावना को अपने भीतर स्थान नहीं दे सकती। मीरा का भाव एक सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी या परकीया का नहीं। हाँ, विरह-वेदना में भ्रूलसे हुए हृदय ने दो-एक स्थलों पर स्त्रीभ-भरे उपालम्भ के वचन सुनाए हैं—

श्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो ।

औरन सूँ खेलै धमार, म्हासूँ मुखहूँ ना बोलै हो ॥

म्हारी गलियाँ ना फिरै, बाके झांगन डोलै हो ।

म्हारी अंगुली ना छुवै, बाका बँहियाँ मोरै हो ॥

म्हारो अँचरा ना छुवै, बाको घूँघट खोलै हो ।

मीरा के प्रभु साँवरो, रंग रसिया डोलै हो ॥

मीठे उपालम्भ के इस अमृत-रसभरे पद की व्याख्या करके इसका स्वारस्य नष्ट नहीं करना चाहता, अस्तु मीरा ने एक और स्थान पर इसी मीठे उपालम्भ में कहा है कि तुमने गोपियों के साथ क्या-क्या न किया और मेरे लिए 'ब्रह्मचारी' बनते हो—

म्हारो सगपण तोसूँ साँबलिया, जगसूँ नहीं विचारी ।

मीरा कहे गोपिन कों बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ॥

यहाँ इस 'ब्रह्मचारी' शब्द में कितना गूढ़ व्यंग्य है ! इसमें स्त्रीभ भी है और मनुहार भी। ऊपर के पद 'सगपण' का अर्थ है सगापन, परम आत्मीयता।

अपने प्रेम-पात्र का प्रेमी की ओर निटुराई और दूसरों के प्रति रुझान देखकर हृदय में गहरी टीस एवं कलक किलक उठती है जिसका भावपूर्ण चित्र ऊपर के पद में है। परन्तु सती-साध्वी स्त्री तो पति के इस 'अनाचार' को भी सहती ही है और धैर्य धारण कर अपने को सान्त्वना देती है—

मीरा के प्रभु गहर गंभीरा हृदय धरो जो धीरा ।

आधि रात प्रभु वरसण वैहँ प्रेम नदी के तीरा ।

लीला-विहार में मीरा ने ब्रजभूमि, भगवान् की बाललीला, वंशीवादन लीला, नाग लीला, चीरहरण लीला, मिलन लीला, पनघट लीला, फाग लीला, दधिवेचन लीला, मथुरा-नमन तथा उद्धव-संवाद को मुख्य रूप में स्मरण किया है। उसके पदों में रावरी, सुदामा, गणिका, गज और अजामिल का भी उल्लेख है, पर बहुत ही चलता हुआ और बस उल्लेखमात्र। इन प्रसंगों में

स्पष्ट ही मीरा का हृदय रमा नहीं है, केवल परम्परा के प्रवाह का निर्वाह होता गया है ऐसा समझना चाहिए। ब्रजभूमि का बहुत भावप्राही वर्णन मिलता है—

आली म्हांने लागे वृन्दावन नीको ।
 घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसन गोविंद जी को ।
 निरमल नीर बहत जमना को, भोजन दूध दही को ।
 रतन सिंघासन आप बिराजै मुगट धर्यो तुलसी को ।
 कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली को ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ।

इसमें सबसे मनोहर है वंशीध्वनि सुनकर कुंज-कुंज में राधा का हूँडते फिरना। बाललीला के पदों में भी मीरा का हृदय पूरा-पूरा रमा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऊपर कारण बतला आया है कि दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नहीं है, युवक-युवती की रति है। पत्नी अपने पति के बाल-रूप में नहीं रमा करती। इस सम्बन्ध का मीरा का वह पद अमर है। वृन्दावन की गलियों में नाचते हुए नन्दकिशोर के कुण्डलों की भ्रूभोर सामने आ जाती है—

सखी, म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।
 भोर मुगट पीताम्बर सोहै, कुंडल की शकशोर ।
 विद्रावन की कुंजगलिन में नाचत नंदकिशोर ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणकँवल चितचोर ॥

वंशी की मोहिनी मीरा के हृदय को नचा रही थी, उसके प्राणों में मिलन की उत्कट वासना उद्बुद्ध कर रही थी, पर मीरा का हृदय श्रीकृष्ण की विग्रह-माधुरी पर अत्यन्त आसक्त था, इसीलिए उसमें रूपमाधुरी के ही पद विशेष मिलते हैं। जिस वंशी को लेकर गोपियों ने अनेक प्रकार की व्यंग्योक्तियाँ की हैं, जिस मुरली के अधर रसपान पर गोपियों को ईर्ष्या और 'सौतिया डाह' हो आया है, उस वंशी पर मीरा का बस एक ही गीत है। इसका कारण, जैसा ऊपर कह आया है, मीरा की 'रूपासक्ति' ही है। वंशी-वादन का पद यों है—

भई हों बावरी सुन के बांसुरी
 हरि बिनु कछु न सुहावै ।
 खवन सुनत मेरी सुध बुध बिसरी
 लगी रहत तामें मन की गांसुरी ।
 नेम धरम कोन कोनो मुरलिया
 कौन तिहारे पासु री ॥

मीरा के प्रभु बस कर लीने

सप्त सुरन ताननि की फांसु री ॥

वंशी-वादन की तरह चीरहरण का भी बस एक ही पद मिलता है—'आज अनारी ले गयो सारी, बैठि कदम की डोरी' इत्यादि । पर इस पद में मीरा भागती हुई नजर आती है । जमकर उसने चीरहरण लीला का वर्णन नहीं किया है । स्त्री-सुलभ सुकुमारता और लज्जा उसे संकोच में डाल देती है ।

श्रीकृष्ण के साथ एकान्त मिलन या 'छेड़छाड़' के पद भी मीरा में नाम-मात्र के ही हैं । उसमें भी श्रीकृष्ण के रूप-रस का ही संकेत विशेष है, उनकी 'शरारत' का बहुत कम । इस लीला में भी मीरा का हृदय पूरी तरह रम न पाया । रमा हो भी तो उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई—

आवत मोरी गलियन में गिरधारी,

में तो छुप गई लाज की मारी

कुसुमल पाग केसरिया जामा,

ऊपर फूल हजारी

मुकुट ऊपर छत्र विराजे,

कुंडल की छवि न्यारी ॥

केसरी चीर दरियाई को लेंहगो

ऊपर अँगिया मारी ।

आवत देखी किसन मुरारी,

छुप गई राधा प्यारी ॥

मोर मुकुट मनोहर सोहे,

नयनी की छवि न्यारी ।

गल मोतिन की माल बिराजै,

चरण कमल बलिहारी ।

ऊमी राधा प्यारी अरज करत है

सुण जे किसन मुरारी ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर

चरण कमल पर बारी ।

तया

छांडो लंगर मोरी बँहिया गहो ना ।

में तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥

जो तुम बँहियाँ मोर गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना ।

बृन्दावन की कुंज गलिन में रीत छोड़ अनरीत करो ना ॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना ।

इस पद में 'नयन जोर मोरे प्राण हरो ना' की बेवसी-भरी मनुहार और आत्मदान के आन्तरिक माधुर्य पर सहृदय पाठकों का ध्यान सहज ही जाएगा। 'पनघट लीला' का एक बड़ा ही भावपूर्ण मधुर गीत 'काफी' राग में है जिसमें प्रेम का दिव्य उल्लास छलक पड़ा है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे ।

मन लागी कटारी प्रेमनी रे ॥

जल जमुना माँ भरवा गयाँ ता हती गागर माये हेमनी रे ।

काचे ते तातणे हरी जीए बाँधी जेम खींचे तेम तेमनी रे ॥

मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागर सामली सुरत सुम एमनी रे ॥

मीरा के लीला-विहार में भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का विस्तार कम मिलता है; उसमें या तो मिलन का आनन्दजन्य उल्लास है या विरहजन्य वेदना। श्रीकृष्ण का रूप ऐसा लुभावना और छवि ऐसी मोहक है कि उसने प्रेम के कच्चे घागे में हमारे हृदय को बाँध रखा है कि जैसा चाहता वैसा ही नाच नचाया करता है।

कहीं-कहीं प्रेम की 'खीभ' के बड़े ही सुन्दर भाव मीरा में मिलते हैं जहाँ वह अपने प्राणनाथ को औरों के साथ तो स्वच्छन्द लीला-विलास करते देखती है और अपनी ओर उसकी उदासीनता देखती है। उर्दू और फ़ारसी काव्य-साहित्य में बेवफ़ाई के, शिकवा के भावों का अच्छा विन्यास हुआ है जो उनकी अपनी विशेषता लिये हुए है। मीरा एक स्थान पर कहती है—

स्याम म्हांसू ऐं डो डोले हो ।

औरन सूं खेल धमार म्हांसू मुखहू न बोले हो ।

म्हांरी गलिया ना फिर वाके आंगण डोले हो ।

म्हांरी अंगुली ना छुवे वाकी बहियाँ मोरे हो ।

म्हांरो अचरा न छुवे, वाको धूँघट खोले हो ।

मीरा के प्रभु साँवरो, रंगरसिया डोले हो ॥

सात्विक ईर्ष्या की रसानुभूति में तड़पती हुई मीरा ने कहा कि 'बाहर घाय कछु नहिं दीसै रोम-रोम में पीर'। वह चारों ओर से देखती है कि प्रिय का पथ उसके लिए बन्द है, वह उससे मिले तो कैसे ?

गली तो चारों बन्द हुई मैं हरि सूं मिलूँ कैसे जाय !

और

पिया दूर पंथ म्हारो शीणो सुरत शकोला खाय ।

परन्तु 'पिय के पलंग पर पीढ़ने' की उत्कट कामना तीव्र होती जाती है और मीरा निश्चय कर लेती है—

धी गिरिधर आगे नाचूंगी ।

नाचि-नाचि पिय रसिक रिझाऊं प्रेमी जन को जाचूंगी ॥

लोक-लाज कुल की भरजादा या में एक न राखूंगी ॥

पिय के पलंगा जा पौडूंगी मीरा हरि रंग राचूंगी ॥

लोक-लाज और प्रेम 'एक म्यान में दो खड्ग' के समान साथ नहीं रह सकते, इसका प्रेमी साधकों को पुरा अनुभव है ।

अपने प्राणनाथ के प्रति सच्ची रहनेवाली सती-साध्वी को संसार का क्या भय, लोक-लाज का क्या बन्धन ?

में अपने सैयाँ संग साँची ।

अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाँची ।

दासी मीरा लाल गिरिधर मिटी जग-हाँसी ।

जिस जीवनधन के बिना संसार सूना है, जिस एक रस के बिना विश्व के विविध रस नीरस हैं, भला उसके साथ मिलने के लिए विलम्ब क्यों ? ऐंचातानी क्यों ?

में तो साँबरे के रंग राची ।

साजि सिगार बाँधि पग घुंघरू लोक-लाज तजि नाची ॥

उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची ॥

मीरा धी गिरिधरन लालसूँ भगति रसीली जाँची ॥

जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों में संभोग शृङ्गार का जो विशद वर्णन मिलता है वह मीरा में खोजे भी न मिलेगा । मीरा ने कुल की कानि तथा लोक की लाज छोड़ी थी, तो केवल अपने श्री गिरिधारी साल के चरणों में सर्वात्म-समर्पण के लिए ही; स्त्री-सुलभ आत्म-गोपन का भाव तो बना ही रहेगा । शृङ्गार के सुखद संभोग का वर्णन कौन कहे, मिलन के स्वाभाविक सुख का जहाँ कहीं संकेत है भी, उसमें आलिंगन, चुम्बन, परिरम्भन आदि का नाम तक नहीं है । मिलन के आनन्द को हृदय की प्रफुल्लता द्वारा ही मीरा ने प्रकट किया है । सात्विक लक्षणों का भी कम उल्लेख है । रोमांच, वैवर्ष्य, प्रकंप, प्रस्वेद आदि के बहुत ही हलके चित्र मिलते हैं, उनका विशद चित्रण करना मीरा के लजीले हृदय को स्वीकार न था । वैष्णव कवियों में गोपियों के विरहानल का वर्णन विशेष रूप में मिलता है और वे गोपियों की विरह-वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते हैं । गोपियों की स्थिति में रखकर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव एवं व्यक्त करने में उन्हें कुछ सुगमता हो जाती है । परन्तु मीरा का प्रेम मन-बहलाव का एक साधन मात्र नहीं रहा । उसमें किसी प्रकार के अधिरोप के लिए गुंजाइश ही नहीं थी । वह तो स्वयं उसी में घुल गई जैसे दूध में मिथी, जल में रंग । वह हमारे सम्मुख एक प्रेयसी के रूप

में, मुग्धा नायिका के रूप में नहीं आती, प्रत्युत् श्रीकृष्ण की एक सती-साध्वी भक्तिविह्वला प्रेम-परायणा सखी के रूप में ही आती है, जिसने अपनी सारी आकांक्षा, सारी अभिलाषा श्रीकृष्णार्पण कर दी है। इसी हेतु उसे गोपियों को अपने और हरि के बीच मध्यस्थ बनाने की आवश्यकता न पड़ी।¹

मीरा का मिलन राधा और कृष्ण का मिलन नहीं है, स्वतः मीरा और कृष्ण का मिलन है। ऐसे मिलन में मध्यस्थ की न कोई आवश्यकता ही है और न गुंजाइश ही। मीरा को तो अपने को राधा या गोपी के व्याज से तादात्म्य-भावना करनी थी नहीं, इसी हेतु 'गोपी-मोहन' 'राधा-वल्लभ', आदि-आदि भाव में स्मरण न करके मीरा ने श्यामसुन्दर तथा गिरधर गोपाल के रूप में ही कृष्ण को स्मरण किया है। इसी हेतु अपनी भावना को तीव्र करने के लिए वह अपनी निजी वेदना को ही उँडेलती है, न कि कृष्ण के विरह में गोपियों की वेदना को। कोई भी साध्वी पत्नी इस विचार को अपने मन में आने न देगी कि उसका पति किसी अन्य स्त्री से भी प्रेम करता है। इसी हेतु ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा का प्रेम एवं प्रेमजन्य वेदना उधार ली हुई या उखाड़ी हुई नहीं है। वह तो भक्ति-विह्वल आतुर हृदय की परम पावन पुकार है जिसमें संसार की ओर से आँख मूँदकर अपने प्राणाधार की सजीव मूर्ति में केलि कर रही है। मीरा का प्रेमोत्सर्गपूर्ण जीवन स्वतः समर्पण का एक अविच्छिन्न संगीत है, अविरल पीयूष-प्रवाह है। मीरा का प्रेम भक्ति और प्रीति का निखरा हुआ सुव्यवस्थित, सुविकसित स्वरूप है। मीरा की भक्ति हृदय की मूक वेदना है जो अपने 'पूरव जन्म के साथी' के लिए उसके हृदय के रेशे-रेशे को तर कर देती है।

दूँटने को तुम्हें ओ मेरे न मिलनेवाले
वह चली है जिसे अपना भी पता याद नहीं।

1. Mystic love is a total dedication of the will, the deep-seated desire and tendency of the soul towards its source.

उत्फुल्ल प्रेम

श्रीरूप गोस्वामी ने 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन यों किया है—

आदौ श्रद्धा, ततः संगस्ततोऽथ भजन-क्रिया ।
ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेभाम्युदञ्चति ।
साधकानामनयं प्रेम्णः प्रादुर्भवि भवेत् क्रमः ॥

श्रद्धा, संग, भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति का क्रम-विकास होते-होते 'भाव' का उदय होता है। यह 'भाव' ही, प्रेम-पात्र के प्रति हृदय की यह रुभान ही प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था है—'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव'। चारों ओर से हृदय सिमटकर प्रेम-पात्र में ढल जाता है। मीरा के उस परम प्रियतम की एक भाँकी तो लीजिए—

उस परम प्रियतम के सिर पर चन्द्रकलायुक्त मोर-मुकुट शोभा दे रहा है। अटपटी पाग टेढ़ी रखी है जिसमें मोतियों की लड़ियाँ लटक रही हैं। माथे पर केसर का तिलक है जिसकी दोनों ओर काली-काली टेढ़ी, बल खायी हुई पेंचदार अलकें झूम खा रही हैं। कानों में कुंडल झलक रहे हैं जिसकी झलमल ज्योति कपोलों पर पड़ रही है, नासिका अत्यन्त सुन्दर है और दाँतों की द्युति दाढ़िम के समान है। नेत्र रतनारे, मदभरे, लाल-लाल और विशाल हैं। उन पर टेढ़ी भवें विचित्र शोभा दे रही हैं। सुन्दर ग्रीवा पर तीन रेखाएँ पड़ी हैं। गले में वैजयन्ती-माला है। कटितट पर करघनी सुशोभित है और उसमें छोटी-छोटी घूँघरें लगी हैं। पैरों में नूपुर का रसीला शब्द मन को सहज ही मोह लेता है। पीताम्बर धारण किए हुए वह मोहिनी मूरत कालिन्दी के तट पर कदम्ब के नीचे अपने मधुर अघरों पर रखकर मन्द-मन्द मादक स्वर से मुरली बजा रही है। टेढ़ी चितवन और मन्द मुसकान प्राणों को हर लेने वाली हैं। और उसके रोम-रोम से छलकते हुए सौन्दर्य-मधु को पान करने के लिए मन-प्राण में अजीब बेबसी भर जाती है। प्रेम ही भगवान् की सत्ता है, प्रेम ही भगवान् का स्वरूप है, प्रेम ही उनका रंग है, प्रेम ही उनका रूप। प्रेम से ही वे पकड़े जाते हैं और उन्हें पकड़कर प्रेमी को एकमात्र प्रेम की ही जलन वरदान में प्राप्त होती है। वहीं भक्त और भगवान् का मन प्रेम में एकाकार हो जाता है। प्रेमी सारा संसार

ढूँढ आता है, उसे अपने परम प्रेमास्पद हरि के सिवा 'अपना' और कोई दीख ही नहीं पड़ता। इसी से वह कह सकता है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।

दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥

भगत देखि राजी भई जगत देखि रोई ।

असुवन-जल सींचि सींचि प्रेम-बेजि बोई ॥

अब तो बात फैलि पड़ी जाएँ सब कोई ।

मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई ॥

प्रेम-पात्र पर उत्सर्ग होकर संसार की ओर देखने के लिए क्या धरा है और फिर 'होनी होय सो होई' की क्या चिन्ता ? जो कुछ होगा, हो रहा है अथवा हुआ है, सभी श्रीकृष्णार्पण हो चुका। सूरदासजी कहते हैं—

अब हमरे जिय बँट्यो यह पद 'होनी होउ सो होऊ' ।

मिट गयो मान परेखो ऊषो हृदय हतो सो होऊ ॥

'होनी होय सो होई' कहकर संसार को ललकारने वाली अपने उपास्य देव में अनन्य निष्ठा धन्य है !

और प्रेम-साधक की इच्छा क्या है ?

म्हाने चाकर राखो जी ।

गिरधारीलाल चाकर राखो जी ॥

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसण पासूँ ।

वृन्दावन को कुंज गलिन में गोविन्दलीला गासूँ ॥

○ ○ ○

ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच-बिच राखूँ वारी ।

साँवरिया के दरसण पाऊँ पहिर कुसुमी सारी ॥^१

वस्तुतः 'साहचर्य' का मुख सबसे बड़ा मुख है और जिस किसी प्रकार सेवा करने और उस परम रूप की शोभा निरखते रहने का आनन्द ही

१. रवीन्द्र के 'Gardener' की भी कुछ ऐसी ही इच्छा है—

Servant—Make me the gardener of your flower garden.

Queen—What folly is this ?

Servant—I will give up my other work × × × ×

Do not send me to distant courts, do not bid me undertake new conquests, but make me the gardener of your flower-garden.

Queen—What will your duties be ?

सर्वोच्च परम आनन्द है। यह भाव प्रायः सभी सन्त-भक्त-प्रेमी कवियों ने प्रकट किया है। एक ग्रामीण नायिका के 'साहचर्य'-सुख का उल्लासपूर्ण वर्णन देखिये—

आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन्ह ।
पिय के हाथ घइलवा भरि - भरि दीन्ह ॥

तथा

टूट छाट घर टपकत खटियो टूट ।
पिय के हाथ उसिसवा सुख की लूट ॥

'म्हाने चाकर राखो जी' में 'चाकर' शब्द से पाठक यह न समझ बैठें कि मीरा की उपासना आरम्भ में दास्य-भाव की ही है। दास्य में संभ्रम और गौरव का भाव मुख्य होता है। दास्य रति में भगवान् का अनन्त ऐश्वर्य सामने होता है, मुक्ति सिद्धि उसकी दासी हैं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसके एक इशारे पर बनते और मिटते हैं, परन्तु मधुर रस की साधना में छोटे-बड़े का सवाल नहीं उठता, वहाँ मधुर भाव की इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। मीरा का यहाँ 'चाकरी में दरसन पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची' से यह स्पष्ट है कि वह दर्शन और स्मरण की भूखी-प्यासी है, वह इसी बहाने 'साहचर्य' की सुखाभिलाषिणी है। जैसे मधु-कोष में अमृतरूपी मधु संचित रहता है, उसी प्रकार प्रेम के हृदय में विरह का निवास है। विरह ही प्रेम का प्राण है। मीरा के प्रेम में प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में विरह-ही-विरह है। हृदय के भीतर बसनेवाली उस 'ना ना की मधुर मूरत' को मीरा स्पष्ट देख रही है, पर अंग से अंग लगा

Servant—The service of your idle days. I will keep fresh the grassy path where you walk in the morning. I will swing you in a swing among the branches of the 'Sapta Parna' when the early evening moon will struggle to kiss your skirt through the leaves. × × × × ×

Queen—What will you have for your reward ?

Servant—To be allowed to tinge the soles of your feet and kiss away the speck of dust that chance to linger there. To be allowed to hold your little fists like tender lotus buds and slip flower-chains over your wrists.

Queen—Your prayers are granted, my servant, you will be the gardener of my flower-garden.

कर, हृदय से हृदय मिलाकर मिल नहीं पाती—यही उसके दुःख का कारण है। विरह का रस पाकर ही प्रेम का पीघा उगता, पनपता और लहलहाता है।

सर्वात्मसमर्पण कर चुकने पर भी, हृदय को, अपने-आपको देवता के चरणों में अशेषतः चढ़ा चुकने पर भी, और हृदय उस 'निर्मोही' के चरणों में लोट-पोट होकर भी तृप्त नहीं हो पाता—

आली रे मोरे नैनन वान पड़ी ।

चित्त चड़ी मेरे माधुरी मूरत उर बीच आन अड़ी ॥

कैसे प्राण पिया बिन राखों जीवन मूल जड़ी ।

मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी ॥

लोग 'बिगड़ी' कहें या 'बनी'—प्रेम का गहरा नशा भीतर व्याप्त होता जा रहा है, सारी सुध-बुध खो गई है; अपने तन-मन का भी भान नहीं है। भक्तवर सूरदासजी अपनी 'विवशता' यों प्रकट करते हैं—

अब तो प्रकट भई जग जानी ।

वा मोहन सी प्रीति निरन्तर नाहि रहेगी छानी ।

कहाँ करों सुन्दर मूरत इन नैनन माँझ समानी ॥

निकसत नाहि बहुत पचि हारी रोम-रोम उरभानी ।

अब कैसे निरवार जात है मिले दूध ज्यों पानी ।

'सूरदास' प्रभु अन्तरजामी ग्वालिन मन की जानी ॥

इस प्रेम के फन्दे से निकलना असम्भव है। वह सुन्दर मूर्ति रोम-रोम में उलझ गई है, निकाले नहीं निकलती। प्रेम के कच्चे घागे में बाँधकर 'वह' अपनी मनमानी कर रहा है।

उधर भक्त प्रभु से मिलने की व्याकुलता में मग्न रहता है, इधर हृदय के सभी कल्मष धुलते जाते हैं। अपनी ओर जब कभी ध्यान जाता है, अपनी त्रुटियों का जब कभी स्मरण हो आता है तो हृदय ग्लानि से भर जाता है। यह 'आत्मग्लानि' ही भक्तों का भूषण है। 'मैं मैली पिउ उजरा, मिलणा कैसे होय' का भाव प्रायः सभी निर्गुण सन्तों एवं सगुण भक्तों में रहा है। कबीर, दादू, जायसी, सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त और निर्गुण सन्तों ने इस शुद्ध सात्विक आत्मग्लानि में हृदय को डुबाकर पवित्र किया है।

आत्म-निरीक्षण का यह पथ परम पावन है। मीराबाई में [ऐसे वचन के बस दो-एक ही पद हैं। मीरा को अपनी ओर, अपनी त्रुटियों अपराधों की ओर, सर्वात्म-श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, देखने का न अवकाश ही है और न आवश्यकता ही। प्रेमोन्माद के प्रखर प्रवाह में अपनी ओर देखने का समय ही कहाँ ? फिर भी—

यहि बिधि भक्ति कैसे होय,
मन की भैल हिये ते न झूटी, दिया तिलक सिर धोय ॥
काम कूकर लोम डोरी बाँधि मोहि चांडाल ।
शोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ॥

इस प्रकार, इस पद में 'भैरो मन हरिजू हठ न तजै', 'कौन जतन बिनती करिये' तथा 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' का भाव पूर्ण रूप से सन्निहित है ।

मीरा ने अपने प्रभु को विरद का एक बार स्मरण दिलाया है—

हरि ! तुम हरो जन की भीर ।
द्रौपदी की लाज राखी तुम बढ़ायी चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप शरीर ।
हरिनकस्यप मार लीन्हों धर्यो नाहिन धीर ॥
बूड़ते गजराज को कियो बाहर नीर ।
दासि मीरा लाल गिरधर दुख जहाँ तहें पीर ॥

इसी प्रकार शरण की याद एक बार दिलायी गई है—

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज ।
समरथ शरण तुम्हारी सड़याँ, सब सुधारण काज ॥
भवसागर संसार अपरबल, जामें तुम ही जहाज ।
निरघाराँ आधार जगत-गुरु, तुम विनु होय अकाज ॥
जुग-जुग मोर हरि भगतन की, दीनी मोक्ष समाज ।
मीरा शरण गही चरणन की, लाज राखो महाराज ॥

भक्त को अपनी दीनता और प्रभु की दीनवत्सलता को बार-बार स्मरण करने से सान्त्वना मिलती है । परन्तु प्रेमी को अपनी दीनता का ध्यान भी नहीं होता । क्यों हो ? प्रेम में तो दोनों को ही गरज है और, सच तो यह है कि प्रेम में भला कौन है प्रेमी और कौन है प्रेमास्पद, इसका निर्णय भी कैसे हो ? इसमें तो स्वयं भगवान् ही प्रेमी भी है और वही है प्रेमास्पद । एक सीमा के बाद यह प्रेमी और प्रेमास्पद का द्वैत विलीन हो जाता है और आनन्दोल्लास मात्र के लिए दो का एक में अथवा एक का दो में क्रीड़ाविलास हुआ करता है । और वह प्रेमिका जब प्राणाधिका मीरा के समान 'अंगीकृत' हो चुकी हो तो फिर अपनी ओर क्यों देखे ? पति-पत्नी के प्रेम-भरे मधुर सम्बन्ध में दैन्य के लिए स्थान ही कहाँ है ? हिन्दू नारी अपना सर्वस्व पति के चरणों में निवेदित कर पति के 'सर्वस्व' की अधिकारिणी हो जाती है । अब उसे दैन्य क्यों हो ? पति के चरणों की दासी वह है यह सच है, परन्तु पति के अधरामृत की भी तो अधिकारिणी है । और वह पति अपने प्रेम की प्यास, अपने

हृदय की तपन को बुझाने के लिए अपनी सहघर्मिणी के सामने एक दीन भिक्षुक की तरह जब खड़ा हो, 'देहि में पदपल्लवमुदारम्' की याचना कर रहा हो, तब उस पत्नी के हृदय में अपने प्रति दैन्य का भाव क्यों और कैसे आए ? प्रेम की रस-पूति में दोनों ही समानतः साभी हैं, एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इसी मनोविश्लेषण के आधार पर देखने से पता चल जाता है कि मीरा में दैन्य के पद कम क्यों हैं। कम क्या हैं, हैं ही नहीं। मीरा और कृष्ण का मिलन प्रति पल, प्रति क्षण हो रहा है। संसार की प्रत्येक वस्तु में, जगत् के सभी व्यापारों में दोनों का महामिलन हो रहा है। एक दूसरे के बिना व्याकुल है। जिस प्रकार पति का प्रेम, उसका सौन्दर्य तथा उसका आनन्द पत्नी को ही पाकर निखरता है, उसी प्रकार पत्नी का रूप-लावण्य भी पति को ही पाकर खिलता है। पति पत्नी के बिना और पत्नी पति के बिना अपूर्ण हैं। इधर से 'इयमधिक मनोज्ञा बल्कलेनापि तन्वी' है तो उधर से 'प्रियेसु सौभाग्य-फला हि चास्ता' है। मिलन की, मिलकर मिल जाने की व्याकुलता दोनों के ही हृदयों में समान है।

कसमसाहट, छटपटी दोनों ही ओर है। परस्पर की इस मधुर व्याकुलता को रामकृष्ण परमहंस ने तीन प्रकार से व्यक्त किया है—(१) गाय और बछड़े का सम्बन्ध, (२) बन्दरिया और उसके बच्चे का सम्बन्ध और (३) बिल्ली और उसके बच्चे का सम्बन्ध।

(१) स्तन-पान करने की जितनी तीव्र लालसा बछड़े के हृदय में होती है, उतनी ही गाय के हृदय में पिलाने की भी। बछड़ा पिये बिना नहीं रह सकता, गाय पिलाये बिना। कहा तो यों जाता है कि अपने प्यारे बत्स को अपने स्तन से सटाते ही माता का हृदय दूध बनकर तरलित हो जाता है।

(२) बन्दरिया चाहती है कि उसका बच्चा कण्ठों में न पड़े, इस हेतु वह बच्चे को अपने पेट में सटाकर ढोने के लिए भी तैयार है यदि बच्चा उसके पेट में सट जाए, अपनी ओर से तनिक भी शरणोन्मुख हो जाए।

(३) बिल्ली अपने बच्चे को कण्ठ की सम्भावना-मात्र से ही अपने दाँतों को उसकी गर्दन में चुभाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आती है। बच्चा अपनी ओर से प्रयास करे या न करे इसकी ओर वह नहीं देखती।

इसमें पहले में ब्रह्म और आत्मा की पारस्परिक उत्कण्ठा, दूसरे में आत्मा की प्रथम चेष्टा तथा तीसरे में ब्रह्म की एकमात्र चेष्टा व्यंग्य है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्गुण सन्तों ने पहली भावना तथा सगुण भक्तों ने दूसरी तथा तीसरी भावना को अपने भीतर प्रतिष्ठापित किया है। मीरा की भावना तीसरे प्रकार की थी—अर्थात् उसका दृढ़ विश्वास था कि उसकी सारी सार-भँभार 'भगत बल्ल गोपाल' पर है और उसे 'वह' 'भीर'

में रहने नहीं दे सकता ।

हरि तुम हरो जन की भीर !

द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ।

इसी को भक्तवर सूरदासजी यों व्यक्त करते हैं—

लज्जा मेरी राखो श्याम हरी ।

कीनी कठिन दुःशासन मोसे गहि केशों पकरी ॥

आगे सभा दुष्ट दुर्योधन चाहत नगन करी ।

पाँचों पाण्डव सब बल हारे तिन सो कुछ ना सरी ॥

भीष्म द्रोण विदुर भये विस्मय तिन सब मौन धरी ।

अब नहि मात पिता सुत बाँधब, एक टेक तुम्हरी ॥

यह दृढ़ विश्वास ही भक्तों का सहारा है । इसी विश्वास पर वे अपनी 'पाथर बोभी नाव' तूफान होते हुए भी 'मँझधार' में डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं । जब पतवार प्रभु के हाथों में है तो तूफान और लहरों का क्या भय ?

और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनों लोक भँझार ।

आप बिना मोहि कुछ न सोहावँ निरख्यो सब संसार ॥

प्रेम में डूबा हुआ हृदय संसार में चारों ओर दृष्टि दौड़ा आता है, परन्तु अपने प्रेम-पात्र-जैसाउसे कहीं कुछ भी दीखता ही नहीं ।

प्रेमी भगवान् के हाथ बिक जाता है और वह सर्वथा उसी का होकर जीता है—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।

गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ॥

रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।

रैण दिना वाके संग खेलूँ, ज्युँ त्युँ बाहि रिझाऊँ ॥

जो पहिरावँ सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ।

मेरी उण की प्रीत पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ॥

जित बैठावे तितही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ ॥

उसी परम प्रियतम के रंग में रची हुई निरन्तर उन्हीं के गुण गा-गाकर मस्त हो रही है और उनकी 'रसीली भगति' का रस पीकर छकी हुई है—

मैं तो साँवरे के रंग राची ।

साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक-लाज तजि नाची ।

उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची ।

मीरा श्री गिरिधरन सालसूँ भगति रसीली जाँची ॥

इस 'रसीली भगति' का मुख्य लक्षण है अखण्ड स्मरण—

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो कहँरी ।

तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरँरी ॥

जहँ जहँ पाँव धरँ धरती पर, तहँ तहँ निरत कहँरी ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणाँ लिपट पहरँरी ॥

'अनहद', 'सुन्न महल', 'साहब', 'सुरत' का प्रभाव भी मीरा पर पड़े बिना न रहा। 'नाथ पंथ' का प्रभाव संयुक्त प्रान्त से एक प्रकार से लोप हो चला था, परन्तु राजस्थान में वह खूब फैला। उधर उत्तर-पश्चिम से सिन्धु प्रान्त से जो सूफी हवा आ रही थी उसमें हठयोग के स्थूल रूप भी प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। कबीर-पंथ में तो आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसंधान, कुंडलिनी-जागरण, षट्कर्म आदि हठयोग की क्रियाएँ पीछे एक प्रकार से आघारभूत होकर चलीं। सगुण भक्तों को उस ओर देखने की आवश्यकता न पड़ी। उनका 'सुन्न महल' सदैव प्रीतम की प्रेम-मूर्ति से भरा था। सूफियों ने भी इसे गौण रूप में ही अपनाया। पर उसमें रसायन का अजीबोगरीब सम्मिश्रण देखकर विस्मय होता है। मीरा में 'नाथ-पंथ' की, जो राजस्थान में खूब फैला था, एक हलकी लहर मिलती है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ ।

इन नैनन मोरा साहब बसता डरती पलक न लाऊँ री ।

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ॥

सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री ॥

एक ओर स्थान पर मीरा के ऐसे ही भाव मिलते हैं—

बिन करताल पखावज बाजँ अनहद की अनकार रे ।

बिनु सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रंग सार रे ॥

उड़त गुलाल लाल भये बादल बरसत रंग अपार रे ।

उपर्युक्त दोनों पद निर्गुण राग में हैं और 'मीरा की शब्दावली' में संगृहीत हैं। पता नहीं कहाँ तक ये मीरा के स्वरचित हैं। यदि इन्हें मीरा का मान भी लिया जाए तो यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें मीरा का प्रेम-प्रवण हृदय प्रतिध्वनित नहीं होता, इसमें युग-प्रवाह की एक हलकी लहर है जो सिन्धु से राजस्थान में सीधे प्रवाहित हो रही थी। मीरा के यहाँ सब प्रकार के साधुओं और फकीरों का सीधा प्रवेश था। कहीं किसी के लिए कुक्ष भी रोक-टोक थी ही नहीं। मीरा सबकी सुनती थी, पर उसका हृदय, उसका रोम-रोम प्राणाघार श्रीकृष्ण के रूप-रंग में डूबा हुआ था। निर्गुणियों में

'नाम' की साधना थी ही और योगियों के 'करिश्मे' जनसाधारण को चक्कर में डालने के लिए काफ़ी थे। इन पदों से यही पता चलता है कि मीरा ने अनहद आदि की बातें सुन ली थीं और उसके 'त्रिकुटी महल' में जो 'भरोखा' था वहाँ से भी वह श्यामसुन्दर की ही भाँकी लगा रही थी ; उसी रूप-रस का गान कर रही थी और इसी से वह कहती है—

इन नैनन मेरा साजन बसता डरती पलक न लाऊँ री।

विरह-वेदना

रवीन्द्र ने एक स्थान पर कहा है—'केवल अतीत या वर्तमान में ही नहीं, प्रत्येक मनुष्य के बीच में अतल-स्पर्श विरह है। हम लोग जिससे मिलना चाहते हैं वह अपने मानस-सरोवर के अग्रगम्य तीर पर निवास कर रहा है। वहाँ केवल कल्पना पहुँच सकती है। सशरीर वहाँ उपस्थित होने का कोई मार्ग ही नहीं है। तुम कहाँ और हम कहाँ? बीच में जो अनन्त विद्यमान है उसे कौन पार कर सकता है? अनन्त के केन्द्र में वर्तमान उस प्रियतम अविनश्वर मनुष्य का कौन साक्षात्कार कर सकता है? आज केवल भाषाभाव में, आभास-इंगित में, भूल-भ्रान्ति में, आलोक-अन्धकार में, देह-मन में और जन्म-मृत्यु के द्रुतगामी धारावेग में उसकी कुछ-कुछ वायु स्पंदित होती है। यदि तुम्हारे निकट से दक्षिण पवन मेरे पास पहुँचे तो वही मेरे लिए बड़ा भारी सौभाग्य है। इससे अधिक इस विरह-लोक में और क्या आशा की जा सकती है?'

मिलन और विरह के बीच प्रेम का पहाड़ी सोता स्वच्छन्द गति से बहता चला जाता है। मिलन का रस हल्का और विरह का गाढ़ा होता है। मिलन में प्रेम का प्रवाह कुछ मन्द पड़ जाता है, परन्तु विरह में वही तीव्र हो जाता है। मिलन का सुख क्षणिक एवं अस्थिर है, विरह का दुःख (इसे 'दुःख' ही कहा जाय?) स्थायी एवं स्थिर होता है। मिलन हमारे जीवन की सतह को छूता है, परन्तु विरह हमारे अन्तस् के सभी तारों को भङ्कृत कर देता है।

मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।

विरह प्रेम की जागृति गति है और सुषुप्ति मिलन है ॥

वस्तुतः सुख की अपेक्षा दुःख का प्रभाव हमारे हृदय पर अधिक काल तक रहता है। सुख में हम उतराते और दुःख में डूब जाते हैं; सुख में हम अपने से बाहर परन्तु दुःख में अपने भीतर चले जाते हैं। सुख हमें हलका और दुःख गम्भीर बना देता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी किसी कविता में कहा है कि मेरे भीतर कोई विरहिणी नारी है जो अपने दुःख का, विरह-वेदना का, गीत सुनाया करती है। प्रत्येक सच्चे कलाकार के भीतर एक तड़पता हुआ विरह-विह्वल नारी-हृदय होता है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है। अघरों पर की क्षणिक मुसकान के भीतर से वेदना भाँक रही है, एक क्षण के लिए मिलकर जो हम अनन्त काल के लिए विरहाग्नि में भुलसने के लिए छोड़ दिये गए हैं,

सुख की इस अस्थिर छाया के भीतर दुःख का जो बड़वानल अंगड़ाइयाँ ले रहा है वही जीवन का सच्चा रूप-रस है, कला का मूल प्राण है। इसी विरह-विदग्ध जीवन का रेखा-चित्र काव्य की परमोत्कृष्ट व्यंजना है। यहीं शोक 'श्लोक' बन जाता है।

चण्डीदास की राधा का यह क्रन्दन जीव-जीव के हृदय का क्रन्दन है—

सुखेर लागियाए घर बाँधिनु

अनले पुड़िया गेल

अमिय सागरे सिनान करिते

सकलि गरल भेल

हिन्दी-साहित्य में विरह के दो सर्वोत्कृष्ट कवि हुए—जायसी और घनानन्द। जायसी समस्त चराचर को उस परम प्रेम में व्याकुल देखते हैं—

उन बानन्ह अस को जो न मरा

बेधि रहा सगरो संसारा

और उनका सबसे बड़ा रोना भी यही है—

पिउ हिरदय महँ भँट न होई।

को रे मिलाव कहाँ केहि रोई ॥

राम के विरह में सीता का कलपना तथा कृष्ण के लिए गोपियों का तड़पना अवश्य ही मर्मस्पर्शी और हृदय के तन्तुओं को आन्दोलित कर देने वाला है। सीता के विरह में वेदना का जो उभार है वह गोपियों के विरह से अधिक संयत एवं लोकमर्यादा के अन्दर है। 'कोमल चित्त कृपालु रघुराई सो केहि हेतु घरी निठुराई' में कितनी मर्मस्पर्शनी भाव-व्यंजना है! यहाँ, इस चौपाई में, एक ओर तो 'कोमल चित्त', दूसरी ओर 'निठुराई', अतएव कवि ने एक गम्भीर व्यंग्य द्वारा सीता के मर्महित प्राणों की विकलता का संकेत मात्र कर दिया है। सूर की गोपियाँ तो प्रकृति के हास-विलास में अपने विरह का ही चित्र देखती हैं। हरे-भरे मधुवन पर सात्विक 'स्त्रीभ' की उनकी कौसी सुन्दर उक्ति है—

मधुवन तुम कत रहत हरे ?

विरह-वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

सूर का विरह-वर्णन गोस्वामीजी के विरह-वर्णन से अधिक व्यापक है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर है जायसी का विरह-वर्णन। इन विरह-वर्णनों में इन कवियों ने अपने हृदय में अनुभव किये हुए दिव्य विरह का थोड़ा-बहुत संकेत किया है। 'कथाच्छलेन' अपनी विरह-कहानी कही है। परन्तु विरह के ऊपर कहानी की चादर पड़ी हुई है। जायसी की चादर औरों की अपेक्षा बहुत ही भीनी है, जिसके भीतर से विरह में तड़पते हुए प्रेमोन्मादपूर्ण भावुक कवि के

विरह-विधुर हृदय की घड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है।

मीरा का विरह-वर्णन, विरह-वर्णन के लिए नहीं है। 'प्रेम लपेटे अटपटे' छन्दों में अलहड़ प्रेम-योगिनी मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेम में घायल और घुलते हुए साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का एक उधार लिया हुआ दुःख नहीं है। मीरा अपने ही विरह को, अपने भोले-भाले गीले शब्दों में सुना रही है, उसके हाथ में न गोपियाँ हैं, न सीता, न शकुन्तला, न दमयन्ती, न पद्मावती और न नागमती। मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस मुग्धा स्त्री के विरह के समान है जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिलकर, अधरों पर चुम्बन का दाग छोड़कर सदा के लिए कभी भी न लौटने के लिए परदेश चला गया हो तथा जिसे अपनी प्रियतमा की सुघ लेने की भी सुघ नहीं है। जब-जब मेघ घिर आते हैं और रिमझिम बूँदें बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुघ हरी हो आती है, ताजी हो आती है और हृदय डार्राडोल हो उठता है। फागुन में जब-जब सखियाँ घमाचौकड़ी मचाने लगती हैं, रंगरलियाँ करने लगती हैं, और प्रीतम से मिलने की तैयारी करने लगती हैं, उस समय मीरा के हृदय में अपने 'परदेशी' के लिए एक गहरी व्यथा उभर आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है; उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट जीवन्त उदाहरण है। शब्दों में उस दुःख को नापा नहीं जा सकता, वह केवल अनुभवगम्य है। मीरा के अधिकांश गीत विरह-वेदनात्मक ही हैं। मीरा के विरह-पदों में उसका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

मीरा की विरह-दशा की उद्दीप्ति तीन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुई है। स्वप्न में एक क्षण के लिए मिलकर 'वह' सदा के लिए चला गया और कभी लौटने की कौन कहे, सुघ लेने की भी उसने कृपा न की। मीरा के विरह का प्रधान स्वरूप यही है। सावन-भादों के महीने प्रीति-पतिकाश्रों के लिए बड़े ही दाहक तथा विरहोत्तेजक होते हैं। मेघों का गरजना, लरजना, बिजली का कौंधना हृदय को कँपा देता है। मिलन की लालसा उस समय अत्यन्त तीव्र हो जाती है, 'हहरि हहरि अधिको हिय कौंपे !' उस समय का एकान्त बहुत ही खलता है और प्राणों की विकटतम पीड़ा को बुरी तरह छेड़कर, उकसाकर, कुरेदकर वह विरहिणी को बेबस और लाचार कर देता है।

मधुमास में—माघ-फागुन के महीने में पति का परदेस रहना तो और भी दुःखादायी होता है, विशेषतः जब मलयानिल के झंकार हृदय के तार-तार को

रेखे-रेखे को झकझोर रहे हों और पास की सखियाँ केलि-क्रीड़ा में मदमस्त हों। दूसरों का उल्लास हमारे विषाद को अत्यधिक तीव्र कर देता है। इन्हीं तीन अवस्थाओं में मीरा की विरह-व्यंजना हुई है।

विरहिणी को पति का प्रवास इसलिए अधिक खलता है कि उसकी हम-जोली सखियाँ अपने-अपने पति के साथ रास-रंग में मस्त हैं और वह इस प्रकार अकेले करवट बदलकर, तड़प-तड़पकर रात काट रही है। दिन में तो मन ज्यों-त्यों बहल भी जाता है परन्तु रात तो बस कयामत की होती है, काटे नहीं कटती—

मैं विरहिण बँठी जानूँ जगत सब सोवै री आली ।

विरहिन बँठी रंगमहल में मोलियन की लड़ पोवै ॥

इक विरहिन हम ऐसी देखी अंसुवन की माला पोवै ।

तारा गिण गिण रँण बिहानी सुल्ल की घड़ी कब आवै ॥

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलिके विछुड़ न पावै ॥

मीरा को ऐसा अनुभव हो रहा है कि वह परम प्रियतम 'नेह' लगाकर, हृदय में प्रेम की बाती जलाकर ठीक मिलन-बेला में विरह-समुद्र में छोड़ गया है—

प्रभुजी थे कहा गयो नेहड़ी लगाय ।

छोड़ गया विस्वास संघाती प्रेम की बाती बराय ॥

विरह-समुंद्र में छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय ।

मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम बिन रह्यो न जाय ॥

आम की डाल पर, इस विरह की अवस्था में एक कोयल बोलती है और मीरा की सारी वेदना उमड़ आती है—

आँवा की डार कोयल इक बोले,

मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी ।

क्षण-भर के लिए उससे मिलकर मीरा सदा के लिए उससे विछुड़ गई है। उस मिलन के क्षण में भी वह न भर आँख देख सकी, न उससे जी खोलकर बातें ही कर सकी—

पाट न खोल्या मुखी न बोल्या, साँस भई परनात ।

अबोलणां जुग बीतण लागो, तो काहे की कुसलात ॥

और अब उसके बिना 'तरस तरस तन जाइ', निस-दिन उसकी बाट जोहती रहती है, दिन में चैन नहीं, रात में नींद नहीं। रात उसके बिना सूनी सेज पर सिसकते-सिसकते बीतती है, काटे नहीं कटती—

खिण मंदिर खिण आंगणे रे खिण खिण ठाड़ी होइ ।

घायल ज्यूँ धूमूँ सदा री म्हारी बिथा न बूझी कोइ ॥

पर यह भूल न जाना चाहिए कि प्रेम की यह 'पीर' आनन्दमूलक है एवं आनन्द-विधायक भी है। प्रेमी इसमें से निकलना नहीं चाहता। अश्रुधारा की तह में आनन्द की रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं। विरह में आनन्द लुप्त नहीं हो जाता, केवल 'आवृत' रहता है। मिलन की जो उत्सुकता है, जो मंगलाशा है वह आनन्दमय है और स्वयं प्रेम का बहुत ही निखरा हुआ भाव है।

हृदय की विकलता बढ़ जाती है, 'प्रतीक्षा' तीव्र हो उठती है—

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री ।

तलफत तलफत कल ना परत है विरह बान उर लागी री ॥

निस दिन पंथ निहाळूँ पीव को पलक न पल भर लागी री ।

पीव पीव में रदूँ रात-दिन दूजी सुधि बुधि भागी री ॥

विरह भुवंग मेरो अस्थो है कलेजा लहरि हलाहल जागी री ।

मेरी आरति भेटि गोसाईं आइ मिली मोहि सागी री ।

'मीरा' व्याकुल अति अकुलाणी पिया की उमंग अति लागी री ।

'विरह भुवंगम' से उसे हुए हृदय की 'कामना' भी तो देखिए। वह जो बस एक बार अपने 'प्राणरमण' को भर आँख देखना ही चाहता है—

पिया म्हारे नैना आगे रह्यो जी ।

नैना आगे रह्यो जी म्हाने भूल मत जाख्यो जी ।

मीरा 'परदेशी प्रीतम' को पाती लिखने बैठती है पर लिख नहीं पाती—

पतियाँ में कैसे लिखूँ लिखही न जाई ।

कलम घरत मेरो तन-मन काँपत, हिरदो रहो घराई ।

बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झराई ।

किस बिधि चरण कँवल हौं गहिहौं सबही अंग घराई ॥

शरीर काँपने लगता है, हृदय धवराने लगता है, बात कहना चाहती है पर कह नहीं पाती। प्रियतम मिलेंगे भी तो वह उनके चरण-कमलों को कैसे गहेगी यह सोच-सोचकर उसके सारे अंग धरधरा उठते हैं।

सबसे बड़ी विपद् तो यह है कि पिय का 'देस' भी जाना हुआ नहीं है— न वहाँ पहुँचने का रास्ता ही मालूम है—यदि आगे बढ़ने को जी चाहता भी है तो फिसलन और निविड़ अंधकार—

गली तो चारों बन्द हुई हरि सँ मिलूँ कैसे जाय !

ऊँची नीची राह रपटीजी पाव नहीं ठहराय ।

सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाय ।

और प्रेमी की इस बेवसी का हाल कोई क्या जाने, कैसे समझे ? धायख की मति कोई धायल ही जानता है अथवा वह जिसने तीर मारा हो। इह

‘ददंये इरक’ की दवा भी तो बस दीदार ही है। कलेजे की करक को दूसरा मला कैसे समझेगा ?

हे री मैं तो प्रेम-दिवानी मेरा वरद न जाणें कोय ।
 सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय ।
 घायल की गति घायल जाणें की जिन लाई होय ।
 वरद की मारी बन बन डोलूं बंद मिल्या नहिं कोय ॥
 मीरा के प्रनू पीर भिटेंगी जब बंद साँवलिया होय ॥

भावों को तीव्र करने के लिए तथा अपनी साधना को अटल करने के लिए भक्त लोग भिन्न-भिन्न भावनाओं एवं सम्बन्धों को सामने ला-लाकर भाव-मग्न हुआ करते हैं। मीरा ने अपने विरह की तीव्रता को मीन, चातक, चकोर, पपीहा द्वारा व्यक्त किया है। मछली का जीवन-आधार जल ही है, वह उसके बिना जी ही नहीं सकती—‘जैसे जल के सोखे मीन क्या जीवें विचारें।’ यही गति पपीहे और चकोर की भी है। उन्हें अपने प्राणघन के अतिरिक्त संसार की कोई भी वस्तु सुख पहुँचा नहीं सकती, तृप्त कर नहीं सकती। मछली, पपीहा और चकोर का प्रेम अनन्य और एकांगी है। जल को मछली के जीने-मरने का खयाल नहीं है। चन्द्रमा को क्या पता कि उसके विरह में चकोर पर कैसी बीत रही है। स्वाति को पपीहे के सुख-दुःख की सुघ कहाँ है ? उसी प्रकार उस निर्मोही साँवरे को मीरा की क्या खबर ?

जायसी की भावुकता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बहुत ही गहरी एवं व्यापक है और उसके लिए प्रकृति के नाना रूप एवं विलास दंपण मात्र हैं। ‘बारहमासे’ और ‘षड्भृतु’ के वर्णन में प्रकृति के साथ कवि का कितना तादात्म्य झलकता है, अपने अन्तस् के प्रतिबिम्ब को प्रकृति में निरखकर जायसी ने कितनी सुन्दर भाव-व्यंजना की है—

आवा पवन विछोह कर पात परा बेकरार ।
 तरिवर तजा जो चूरि कं लागै केहि के डार ॥

तथा

पहल पहल तन रुई झाँपै, हहरि हहरि अधिकी हि ये काँपै ।

सूरदासजी का विरह-वर्णन जायसी के समान गम्भीर भले ही न हो परन्तु व्यापक कम नहीं है। पपीहे आदि को गोपियों ने खूब सुनाया है—

हैं तो मोहन के विरह जरी रे ! तू कत जारत ?

रे पापी तू पंखि पपीहा ! पिउ पिउ पिउ अचि रात पुकारत ।

नागमती का रोना सुनकर तो घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई है—

तू फिर फिर दाहै सब पांखी,
केहि दुख रैन न लावसि आंखी ।

मीरा पपीहे को उपालम्भ देती है—

रे पपड़आ प्यारे कब को बँर चितारयो
मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो ।
दध्या ऊपर लूण लगायो हियड़े करवत सारयो ।

विरह से तो हृदय यों ही जला हुआ है उस पर पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ' से जले पर और नमक छिड़क रहा है । विरह की अग्नि में जलते हुए हृदय की 'खीभ' देखिए—

पपड़या रे पिव की बाणी न बोल ।

सुणि पावे जो बिरहिणि रे थारो राखे ली पांख मरोड़ ।

चोंच कटाउं पपड़या रे ऊपरि ताकर लूण ॥

वही पपीहा 'मिलन' में सुखद हो जाता है, उसकी बोली मीठी लगती

है—

थारा सबद सुहावणा रे जो पिव मेला आज ।

चोंच मड़ाउं थारी सोघनी रे तू सिरताज ॥

भक्तवर सूरदासजी ने भी तो 'बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारे' द्वारा, मिलन के सुखद समय में प्रतिकूल का अनुकूल हो जाना माना है और पपीहे को हृदय से आशीर्वाद दिया है । अस्तु—

साजन के बिना एक पल भी जीना कठिन ही नहीं, असम्भव है—

सजन सुध ज्यों जानै त्यों लीजै ।

तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरो कीजै ॥

दिवस न भूख रैन नाहि निदिया यों तनु पल-पल छीजै ।

पल-पल भीतर पंथ निहारूँ दरसण म्हांनि दीजै ।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुरन नाहि दीजै ॥

कबीरदास भी अपनी विरह-वेदना कुछ ऐसे ही व्यक्त करते हैं—

तलफँ बिन बालम मोर जिया ।

दिन नाहि चैन रात नाहि निदिया तड़प-तड़प के मोर किया ।

तन मन मोर रहट अस डौलै सूनि सेज पर जनम छिया ॥

नैन थकित भये पंथ न सूभे साईं बेदरदी सुध न लिया ।

कहत कबीर सुनो मई साधो हरो पीर दुःख जोर किया ॥

तुलसी ने गाया है—

व्याकुल विरह विद्वानो, झड़ै नित नैनन पानी ।

हरदम पीर बिल की छटकै सुधि बुधि बदन हिरानी ॥

नाड़ी बंद बिथा नहि जाने, क्यों श्रौलव दे आनी ।

हिय में दाग जिगर के अन्दर क्या कहि दरद बखानी ॥

तुलसी रोग रोगिया बूझै, जिसको पीर पिरानी ॥

दादू ने किस उल्लास के साथ अपनी सूनी सेज पर साजन का आवाहन किया है !—

बल्हा सेज हमारी रे तूं आव, हौं वारी रे, दासी तुम्हारी रे ।

तेरा पंथ निहाळूँ रे, सुन्दर सेज सँवाळूँ रे, जियरा तुम पर बाळूँ रे ॥

तेरा अंगना पेखौँ रे, तेरा मुखड़ा देखौँ रे, तब जीवन लेखौँ रे ।

मिलि सुखड़ा बीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखै जीजे रे ।

तेरे प्रेम का भाती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दादू बारणे जाती रे ॥

प्रकृति का जो अनुपम उल्लासपूर्ण शृंगार है वह 'प्रीतम' के आगमन की तैयारी में है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।

बाबुर भोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।

उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसे दामिणि छोड़ी लाज ॥

घरती रूप नवा नवा धरिया इन्दु मिलण कै काज ॥

सावन-भादों की रात विरहिणियों के लिए मरणान्तक होती है—सूरदास जी ने भी 'पिया विनु साँपनि कारी रात' द्वारा वेदना की तीव्रता दिखाई है । रिमभिम बूदें बरस रही हैं, इधर मीरा रो रही है—

बादल देख झरी हो स्याम में बादल देख झरी ।

जित जाऊँ तित पानिह पानी हुई सब भोम हरी ।

जा का पिव परदेस बसत है भीजँ बार खरी ।

यह मुहावना सावन पिया के बिना आग की वर्षा करता दीखता है—

मतवारो बादल आयो रे हरि के संदेसो कछ नहि लायो रे

फूँके काली नाग विरह की जारी मीरा हरि मन भायो रे

इन्हीं बूदों से मिलने के समय मीरा धीरे-धीरे बरसने का निहोरा करती है—

मेहा बरसबी करे आज तो रमियो मेरे घरे रे ।

नान्हीं नान्हीं बूँदें मेघ घन बरसे सुखे सरवर भरे रे ॥

बहुत दिना पर प्रीतम पाए बिछुरन को मोहि डर रे ।

मीरा कहे अति नेह जुड़ायो मैं लियो पुरबलो वर रे ॥

'पुरबलो वर' के विषय में पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि मीरा पूर्व-जन्म में श्रीकृष्ण की सखी है ।

सावन-भादों में मिलन की उत्सुक वासना होती है, उससे कहीं बढ़कर फागुन में होती है। सारी वसुन्धरा वसन्ती साड़ी पहनकर अपूर्व साज सजाती है और सर्वत्र मिलन का एक अपूर्व वातावरण फैला रहता है। जित्त 'किसी' से मिलने के लिए उत्क्षिप्त हो जाता है, रोम-रोम में मिलन की लालसा जग-कर अंगड़ाई लेने लगती है और बेचारे हृदय की अजीब हालत हो जाती है। ऐसे मधुमय समय में जब सभी सखियाँ सोलहों शृंगार सजाकर अपने 'प्रीतम' से मिल रही हैं मीरा का घायल हृदय छटपटा उठता है, उसे 'तालाबेली' लग रही है—

किण संग खेलूं होरी पिया तजि गये हूँ अकेली ।
 बहुत दिन बीते अजहूँ नहिं आये लग रही तालाबेली ।
 स्याम बिना जिवड़ो मुरझावँ जैसे जल बिन बेली ॥

तथा

होली पिया बिनु मोहि न भावँ घर अंगणा न सुहावँ ।
 दीपक जोय कहा करूँ हेली पिय परदेस रहावँ ।
 सूनी सेज जहर ज्यूँ लागँ सुसक सुसक जिय जावँ ॥

इस प्रकार सावन और फागुन में प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के उद्दीपन में मीरा का प्रेम-विह्वल हृदय विरह के अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है और उसके हृदय में भिनी हुई 'हूक' विराट बड़वानल का रूप धारण कर लेती है।

अपने प्राणरमण श्री गिरधारीलाल के बिना मीरा का हृदय रो रहा है। उसका जीवन-धारण ही उसके लिए असह्य हो जाता है। प्रतीक्षा में बैठी मीरा पह आस लगाये हुए है कि अब कोई आकर कह जाए कि तुम्हारे प्राणेश्वर आ रहे हैं—

कोई कहियो रे प्रभु आवन की ।

आवन की मन भावन की ॥

आप न आबँ लिख नहिं भेजँ, बाण पड़ी ललचावन की ।

ए बोड नैन कह्यो नहिं मानँ, नदिया बहै जैसे सावन की ॥

कहा करूँ कछु नहिं बस मेरो पाँख नहिं उड़ि जावन की ।

मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ॥

कवियों का दुःख बहुधा उधार लिया हुआ होता है। फिर भी वे उसमें अपने हृदय का रस धोलकर उसको अपना बना लेते हैं और पाठकों को रुला बक देते हैं। वे उस परिस्थिति में, जिसमें निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला तथा तिरस्कृता पार्वती, विरह-विधुरा पद्मावती एवं नागमती रहती हैं, डालकर अपने को तन्मय, तल्लीन कर देते हैं और इसी हेतु पाठकों पर भी प्रभाव

डालने में सफल होते हैं। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में मनुष्य को कौन कहे, 'अपि श्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'—पत्थर की शिला भी रोने लगती है, वज्र का हृदय टूक-टूक हो जाता है। हाँ, इसमें कवि की सफलता अवश्य समझी जानी चाहिए और वस्तुतः कवि-कर्म है भी यही। मीरा के हाथ में न गोपियाँ ही थीं, न नागमती; न सीता ही थी, न पार्वती ही। मीरा की बात ही दूसरी है। उसका विरही हृदय अपने प्राणनाथ के साक्षात्कार के लिए व्याकुल होकर तड़प रहा है। उसे दुनिया की ओर देखने की न आवश्यकता ही है और न अवकाश ही। हिन्दी साहित्य क्या, विश्व के किसी भी साहित्य में सर्वस्व आत्मसमर्पण का वह दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य, जो मीरा के गीतों में व्यक्त हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। गीतों में उसके हृदय की षड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। उसका 'दर्द-दिवाना दिल' उसके भीतर से स्पष्टतः उन गीतों में लिपटा हुआ प्रतिबिम्बित हो रहा है। मीरा गाती है, क्योंकि वह विरह से बेचैन है। मीरा का दुःख कवि का दुःख नहीं है, वह एक सच्चे प्रेमी का निजी दुःख है। कवि का दुःख प्रायः उधार लिया हुआ होता है, प्रेमी का दुःख सर्वथा अपना होता है, स्वसंवेद्य।

रहस्योन्मुख भावना

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति

श्रुति के इस बचन के अनुसार परमात्मा रस-रूप हैं और उसी को प्राप्त कर मनुष्य सुखी हो सकता है। इसका एक और भी अर्थ है और वह यह कि परमात्मा रसस्वरूप होते हुए भी रस का पिपासु है और उसे यह रस जहाँ मिलता है वह प्रसन्न होता है। उस आनन्दस्वरूप परमात्मा से ही यह समस्त चर-अचर निकला है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाता है—‘आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दे प्रयन्त्यभिसंविशन्ति’। अतएव यह सब-कुछ उसी ‘एक’ का ‘चिद्विलास’ है। वह अकेले अपने-आप में ‘रमण’ नहीं कर सकता था, इसी से उस ‘एक’ से यह ‘अनेक’ हुआ; कहना तो यों चाहिए कि उसी एक में यह अनेक हुआ—

आत्मैवेदमग्र आसीत्.....स वै नैव रेमे ।

तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री पुनांसौ सम्परिष्वक्तौ स इमवात्मानं द्विधापाययत् ।

परमात्मा की प्राप्ति के लिए हमारे हृदय की जो सहज उत्कण्ठा है वह अकारण नहीं है। उसका मूल कारण यह है कि हम जिसमें से निकले हैं उसी में पुनः समा जाना चाहते हैं, अपने मूल स्रोत में लीन होकर एकाकार हो जाना चाहते हैं। परमात्मा और आत्मा का यह अमृतोपम द्वैत केवल आनन्द-विलास के लिए था और इसकी ‘समरसता’ का आस्वादन सख्य और मधुर दोनों भावों द्वारा किया जा सकता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोमम् ।

मित्रयोरिव दम्पत्योर्जावात्मपरमात्मनः ॥

परन्तु सख्य भाव में वह समरसता पूरी-पूरी नहीं ही पाई, द्वैत पूरा-पूरा अद्वैत नहीं हो पाया, दूरी कुछ-न-कुछ बनी ही रही, चाहे वह मुहूर्द हो, चाहे सखा या प्रिय नरम सखा। इसीलिए हृदय की भूख-प्यास पूरी तरह बुझ सके (या और अधिकाधिक घघक जाए ?) इसीलिए दाम्पत्य रति का मधुर या उज्ज्वल रस ही सर्वोपरि माना गया, जिसमें आत्मा-परमात्मा की ‘प्रणयिनी’ होकर अन्तर और बाहर की सारी संज्ञाओं से शून्य होकर सर्वांगता तल्लीन हो जाए। इसीलिए श्रुति कहती है—

‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः
प्रज्ञानेनात्माना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् (बृ० ४-३-२६) उप-
मन्त्रयते स हिकारो क्षपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते ।

यही है आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्ममिथुन, आत्मानन्द । आत्मा और
परमात्मा के इस मधुर सम्बन्ध की जहाँ भी संकेततः विवृति होती है उसी को
‘रहस्यवाद’ कहा जाता है ।

मीरा का प्रेम, जैसा हम पहले कह आये हैं, ‘माधुर्य भाव’ का है, जिसमें
भगवान् की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है । भक्ति प्रेम में लय हो
जाती है और भक्त परमात्मा को अपना पति मानकर उसके चरणों में अपने को
निछावर कर देता है । पत्नी पति की इच्छा में अपनी इच्छा, पति के सुख में
अपना सुख और पति के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है । क्षणमात्र
के विस्मरण से वह परम व्याकुल हो जाती है—‘तदपिताखिलाचारता तद्वि-
स्मरणे परम व्याकुलता’ । हिन्दी में इस रहस्यवाद का पूर्ण विकास सूफ़ी कवियों
में ही हुआ, जहाँ भगवान् की प्रियतमा के रूप में उपासना की जाती है । कबीर
में भी यत्र-तत्र जो उत्कृष्ट रहस्यवाद मिलता है वह माधुर्य भाव से ओतप्रोत
है । मूफ़ी सन्तों ने अपने परम भावुक हृदय के विस्तार में ‘परम रूप’ की
‘परछाँही’ समस्त चर-अचर में, अणु-अणु में, देखी और उसमें अपनी निजी सत्ता
को खो दिया ।

देखेउँ परम हंस परिछाँही,
नयन जोति सो बिछुरत नाँही ।

सूफ़ियों ने समस्त चराचर में बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता को उसी परम रूप
में संबद्ध देखा और सभी ‘बुत’ में ‘जल्बए खुदा’ का साक्षात्कार किया ।
उनका समाज मूर्तिपूजा अथवा किसी भी प्रतीकोपासना के विरुद्ध था । फिर
भी, एकेश्वरवाद के उस सुहृद् बन्धन के भीतर से विशुद्ध अद्वैतवाद बहुत
ही निखरे हुए रूप में प्रकट हुआ और हल्लाज मंसूर ‘हक हक अनल हक,
हक हक अनल हक’ कहते-कहते फ़ाँसी पर लटक गया ।^१ सूफ़ियों के अद्वैतवाद
और शंकर के मायावाद में मूलतः भेद यह है कि सूफ़ियों की भावना प्रेम-
मूलक, अनुभूति-प्रसूत थी और वे अपनी निजी सत्ता को उस परम सत्ता में, जो
समस्त चराचर को वेधती हुई चली गई है, लय कर देते थे । वेदान्त का अद्वैत
ज्ञान-मूलक अथच चिन्तन-प्रसूत है, सूफ़ियों का अद्वैत प्रेम मूलक अतएव भावना-
प्रसूत है ।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कबीर की दृष्टि जायसी की
भाँति व्यापक न थी और न इतनी रसग्राहिणी ही थी । ‘हरि मोर पिउ मैं

१. देखिये निकल्सन का ‘Mystics of Islam’, पृ० १३६ ।

हरि की बहुरिया' में बहुत ही सुन्दर भाव-व्यंजना है, पर कबीर व्यक्त उपासना के परम विरोधी थे और निर्गुण सन्तों ने अवतार का घोर विरोध भी किया। इस हेतु यद्यपि इनमें परम भाव की झलक, व्यक्त और अव्यक्त रूप में, सर्वदा विद्यमान है, फिर भी आश्रय एवं आवलम्बन की ठीक-ठीक व्यवस्था न होने के कारण भक्ति-रस की पूर्णतः निष्पत्ति न हो पाई। कबीर का लक्ष्य हृदय वेधने का न रहा। वे मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति जगाकर हमें 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का संदेशमात्र देकर सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने भक्तभोरकर हमें जगा ही दिया।

'सुधार' का मर्ज उन्हें बुरी तरह लगा रहा। सचमुच समाज उस समय इतना जर्जर और पाषण्डोपासक हो भी गया था कि अवश्य ही कबीरा जैसे भाङ्ग-फटकार वाले निर्भय 'सुधारक' की आवश्यकता थी। परन्तु नारियल की तरह, इस कठोरता के अन्दर कबीर का हृदय रस से लबालब भरा था। मस्तिष्क में ज्ञान का प्रखर प्रकाश, हृदय में भक्ति और प्रेम का अमृत सरोवर—यह है कबीर का सही रूप। जो लोग 'भाङ्ग-फटकार' से ही भाग खड़े हुए उन्हें कबीर के हृदय का अमृत रस नसीब नहीं हुआ—

भीजें चुनरिया प्रेमरस बूँदन ।

भारत साज के चली हैं सुहागिन पिय अपने को डूँदन ।

मीरा अपने हृदय के अन्दर बसने वाले 'पिया' के प्रेम में इतनी पगी हुई है कि वह 'उन' के साथ 'फिरमिट' खेलने जाती है और वहाँ 'वह' उसकी 'गाँती' खोलकर उसे हृदय से लगा लेता है। यदि 'वह' कहीं परवेश हो तो पाती भी भेजी जाए पर जो हृदय के हृदय में बस रहा है, उसे क्या लिखना? उसके पास क्या आना क्या जाना? मीरा की यह सर्वथा एकान्त प्रणयरति है, प्राणों का प्राणेश्वर के साथ रमण है (आत्मा-परमात्मा की चर्चा से यहाँ रसमग्न हो जाएगा; यह जैसा है उसे उसी रूप में ग्रहण कीजिए)। भगवान् के साथ भक्त के इस एकान्त प्रणय-सम्बन्ध में कहीं किसी प्रकार का छिपाव नहीं रहता, कोई वस्तु अदेय नहीं रह जाती। भागवद्विषयक राग में किसी प्रकार की सीमा या बन्धन है ही नहीं।

मीरा न तो कबीर की भाँति ज्ञानी ही थी, न जायसी की तरह कवि ही। वह एकमात्र प्रेम की पुजारिन थी। मीरा की प्रेमानुभूति जायसी की भाँति व्यापक भले ही न हो, परन्तु गहरी कम न थी। सावन के रिमझिम में जब मेघ घिर आते हैं, आँगन में पानी-ही-पानी हो जाता है, बिजली कड़कने लगती है और फुहियाँ बरसने लगती हैं; उस समय उस 'न मिलनेवाले' के लिए, उस 'ना, ना की मधुर मूर्ति' के लिए हृदय में बेकली का भयंकर दावानल धार्य-धार्य करने लगता है। नू से तपी हुई पृथ्वी पर बूँदें बरसाकर 'बस' ने

आर्द्रता एवं शीलता का संचार कर दिया है। हरियाली उग आई है परन्तु विरहिणी के अन्तस् का ताप, हृदय की व्यथा ज्यों-की-त्यों है, बल्कि धीर भी उभर आई है—

बादल देख शरी हो स्याम में बादल देख शरी ।

काली पीली घटा ऊमड़ी, बरसी एक घरी ॥

जित जाऊँ तित पाणी पाणी हुई भोम हरी ।

जाका पिव परदेस बसत है भीजूँ बाहर खरी ॥

दादुर, मोर, पपीहे की बोली उद्दीपन विभाव है और हृदय में इस कारण कसक उठती है; ऐसा भान होने लगता है कि स्वयं 'महाराज' ही आ रहे हैं। मीरा अपने महल पर चढ़कर 'उन' के आगमन की तीव्र प्रतीक्षा करने लगती है। मोर और पपीहे की बोली से हृदय में जो 'उत्सुकता' जग उठी है उसमें पिया के आने की आवाज स्पष्टतः सुन पड़ती है—

सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज ।

मूँलाँ चढ़ चढ़ जोऊँ मेरी सजनी कब आवें महाराज ॥

सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज सजा रही है। इस महामिलन के मंगल-सूचक कोयल, मोर और पपीहा अपनी तान छोड़े हुए हैं। चारों ओर रिमरिम बूँदें बरस रही हैं; दामिनी भी अपनी लज्जा छोड़कर अपने प्राणेश धनव्याम से मिल रही है। अपने पति से मिलने के लिए पृथ्वी ने भी नई हरी साड़ी पहन ली है। ऐसे समय जब सारा चराचर मिलन के रस में सराबोर हो रहा है मीरा को प्राणवल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। उसे यह आशा दृढ़ हो जाती है कि हृदयधन के अब दर्शन हुए ही चाहते हैं—प्रेम की इसी वर्षा में कबीर भी भीग रहे हैं—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ ।

अंतरि भींगी आतमा, हरी भरी बनराइ ॥

उस 'निष्ठुर' के लिए सारी रात 'जगकर विहान' किया, फिर भी 'बह' न खोटा—

सखी मेरी नाँव नसानी हो ।

पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण विहानी हो ।

बिन देख्या कल नाहि परत जिय, ऐसी ठानी हो ॥

अंगि-अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो ।

अन्तर-वेदन बिरह की बह पीड़ न जानी हो ॥

ज्यों चातक धन कूँ रटं मछरी जिमि पानी हो ।

'मीरा' व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसरानी हो ॥

उस विरहिणी मीरा की 'प्रतीक्षा' और भी तीव्र हो जाती है। 'उस' की

स्मृति में वेदना का आनन्द घुला है । प्रसाद के शब्दों में—

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुःख दोनों ही ऐसे,
चंद्रिका अंधेरी मिलती
मालती कुंज में जैसे

मधुमास में जबकि सर्वत्र आनन्द लहलहा रहा है, लतावल्लरियाँ फूलों के भार से झुक गई हैं, अमराश्यों में से मंजरी की मँह-मँह आकर हृदय की कली को खिला जाती है और मलयानिल के भोंके से सर्वत्र उन्माद उमड़ा फिरता है, एक अनिर्वचनीय आनन्द चर-अचर के प्राण-प्राण में भर जाता है, मानो 'किसी' के साथ मिलने की, किसी का अंग-संग प्राप्त करने की आकांक्षा से समस्त चित्र उत्क्षिप्त हो उठता है । प्रेमिका की चित्त-कलियाँ 'किसी' के संकेत से विकसित हो उठती हैं, 'कोई' मानो उसका बिलकुल अपना-सा है जिसे पाने के लिए चित्त उन्मत्त-सा हो उठता है, ऐसे समय में मीरा के हृदय का 'सूनापन' और भी बढ़ जाता है ।

'सूनो गाँव देश सब सूनो सूनी सेज अटारी ।

सूनी बिरहिन पिव बिन डोले तज गई पिव पियारी ॥

देस बिदेस संदेस न पहुँचें हो अदेसा भारी ।

गिणता गिणता बिस गई रेखा अंगरिया की सारी ॥

बुल्ला साहब ने भी इसी प्रकार गाया है—

देखो पिया काली मो पै भारी ।

सुनि सेज भयावन लागी मरौ बिरह की जारी ॥

प्रेम प्रीति वह रीति चरण लंगु पल छिन नहि बिसारी ।

चितवत पंथ अंत नहि पायो, जन बुल्ला बलिहारी ॥

ऐसा जान पड़ता है कि मानो एक क्षण के लिए मिलकर मीरा सदा के लिए अपने प्राणाधार से विछुड़ गई है । एक बार, बस एक बार, कभी मीरा के हृदय ने उस 'निर्मोही' के आलिगन का, अघरों ने उसके चुम्बन का रस पाया है, उस 'एक क्षण' की स्मृति ही मीरा की वेदना को उत्तप्त और उसके बिरह को उद्दीप्त किए रखती है । मिलन तो दूर रहा, अब तो क्षणमात्र दर्शन भी दुर्लभ है—

गली तो चारों बन्द हुई मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ।

ऊँची-नीची राह रपटीली, पावें नहीं ठहराय ॥

ऊँचा-नीचा महल पिया का मो पै चढ़या न जाय ।

पिया दूर पंथ म्हारो शीणो सुरत झकोला खाय ॥

एक बार प्रेम का आस्वादन कराकर 'वह' चला गया और हृदय को

बिरह की आँच में भस्म होते देखकर भी उसे दया नहीं आती ?

मीन जल के बिछुरे तन, तलफि के मरि जाय ।

प्रेमी की स्थिति का अवलम्ब, जीवन का एकमात्र आधार उसका प्रेम ही है, उसके बिना मीरा का जीवन ही असम्भव है, मछली पानी के बाहर कैसे जी सकती है ? कबीर कहते हैं—

झाड़ न सकौं तुझ पँ, सकूँ न तोहि बुलाइ ।

जियरा यौं ही लेहूँगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥

तथा

आठ पहर का दासना मो पँ सह्या न जाय ।

बिरह का यह दुःख (इसे 'दुःख' भी तो नहीं कह सकते) दुनिया नहीं समझ पाती— 'घायल की गति घायल जानै, या जिहि पीर लगाई हो ।' कबीर भी यही अनुभव करते हैं—

चोट सताणी बिरह की सब तन जर-जर होय ।

मारणहारा जाणि है, कि जिहि लागी होय ॥

जायसी की भाँति मीरा में भी बारहमासे का एक वर्णन मिलता है परन्तु उसमें न तो जायसी की भाँति व्यापकता ही है, न हृदय की उतनी निगूँड़ अनुभूतिमूलक भावना ही । वह वर्णन बहुत ही चलता हो गया है । प्रकृति के इस अनुपम साज-शृंगार के भीतर मीरा के दिन 'काग उड़ते कब तक बीतेगे' इसी का बार-बार संकेत है । मीरा की दृष्टि प्रकृति की सुषमाओं पर बहुत ही कम गई है, जो गई भी वह केवल हृदय की वेदना को उभारने वाली वस्तुओं एवं दृश्यों पर ही । स्त्रियों का हृदय, अब भी गाँवों में देखा जाता है, अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सभी लीलाओं में पूर्णतः रम जाता है । परन्तु यह रमना कवियों का रमना न होकर प्रेमिकाओं का अपने प्रोषित पति के आगमन एवं मिलन के उद्दीपन रूप में मिलना होता है । पति के नाते ही सब-कुछ सुहावना लगता है । जाँत के गीतों में अब भी वही सहज आनन्द छलका पड़ता है ।

मीरा के गीतों में, जैसा हम दिखाते आए हैं, स्थान-स्थान पर योगियों की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है । सगुण भक्ति के साध योग का यह वेमेल मिश्रण विचित्र और अटपटा-सा लगता है । ऐसा लगता है कि ध्यान की प्रगाढ़ावस्था में मीरा ने उस आनन्दपूर्ण अवस्था का अवश्य ही अनुभव किया था जिसे योगी लोग लय या 'उन्मनी' अवस्था कहते हैं । यही 'फना' की भी अवस्था है । यह सच है कि योग की कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही मीरा ने ये गीत लिखे होंगे, क्योंकि उसमें योगियों की सम्पूर्ण साधना-पद्धति का सुव्यवस्थित रूप नहीं मिलता और न इसमें मूलाधार,

स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—इन छः चक्रों के भेदन द्वारा उद्बुद्ध कुंडलिनी शक्ति के प्रवाह को ब्रह्मरंध्र या सहस्रार में प्रवेश करने की रहस्यमयी कृच्छ्र साधना का कुछ भी ज्ञान भलकता है। हाँ, अलबत, उस परम आनन्दमयी अवस्था का वर्णन मिलता है जिसे योगी सहजावस्था या सहज समाधि की अवस्था कहते हैं।

मीरा का वह 'अगम देश' बहुत ही मोहक है, जहाँ 'भरा प्रेम का हीब हंसा केलि करै'। उस 'सुन्न महल' की, जहाँ 'प्रीतम की अटारी' बिछी हुई है, एक भाँकी लीजिये—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुन सेज बिछी ।
पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ॥
बाजूबंद कडूला सोहै माँग सिंदूर भरी ।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक मली ।
सेज सुखमणां मीरा सोबै सुभ है आज घड़ी ॥

तथा

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ रो ।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ रो ॥

इस 'सुन्न महल' में साजन की सेज पर पीढ़ने के लिए मीरा पाँवों में धूँधरू बाँधकर, माँग में सिंदूर लगाकर, आँखों में अंजन सार कर तथा हाथ में आरती का थाल लेकर नव-वधू के वेश में प्रवेश करती है—

या तन का दिवना करौं मनसा करौं बाती हो ।

तेल भरावौं प्रेम का बारों सारी राती हो ॥

रोम-रोम में मिलन की उत्कण्ठा जग रही है—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की शनकार रे ।

बिन सुर राग छतीसूँ गावे रोम-रोम रंग सार रे ॥

फिर तो सभी कुछ, सारे कर्म, सभी व्यापार श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, साधना का अविच्छिन्न, अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहता है—

जहँ जहँ पावै धरूँ धरणी पर तहँ-तहँ निरत करूँ रो ।

कबोर की 'सहज समाधि' से इसे मिलाइए—

जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा ।

जब सोवो तब करों दंडवत पूजों और न देवा ॥

कहों सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव पियों सो पूजा ।

गिरह उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा ॥

आँख न मूँदों, कान न रूँधों तनिक कष्ट नहि धारों ।

बले नैन पहचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारों ॥

इसमें स्वामी शंकराचार्य की 'मानस-पूजा' का वह श्लोक सहज ही समया हुआ है—

आत्मा त्व गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारपदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिराः,
यत् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥
कहीं-कहीं अद्वैत की बहुत सुन्दर व्यंजना है—

तुम बिच हम बिच अन्तर नाही जैसे सुरज घामा ।

यह भूल न जाना चाहिए कि यह भावाद्वैत की आनन्दावस्था है जिसमें भक्त और भगवान् का पूर्ण मिलन है। उपनिषदों के 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' आदि वचनों का भी कुछ आभास उपर्युक्त पद से मिलता है, साथ ही-साथ रैदासजी का 'प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग-अंग वास समानी'—वाला पद भी स्मरण हो आता है। 'जित देखूँ तित पानीहि पानी' से तो कबीर के निम्नलिखित पद का भाव बहुत मिलता-जुलता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन में गई मैं भी हो गई लाल ॥

तथा

नयनन की कर कोठरी,
पुतरी पलंग बिछाय ।
पलकन की विक डारिके,
पिय को लीन्ह रिजाय ॥

'इच्छा' भी तो केवल भर-आँख देखने की ही है—

म्हाने चाकर राखो जी ।

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ ।

'साहचर्य' की इस उत्कट इच्छा के साथ दृढ़ 'विश्वास' भी है—

नीरा के प्रभु गहिर गभीरा हृदय धरो जो धीरा ।

आधी रात प्रभु दरसन देहैं प्रेम नदी के तीरा ॥

जो रात-दिन हमारे भीतर बस रहा है 'उसे' खोजने बाहर क्यों जाएँ ?

जाका पिव परदेस बसत है लिख-लिख भेजत पाती ।

मेरा पीय मेरे हीय बसत है ना कहूँ आती न जाती ॥^१

१. कबीन्द्र रवीन्द्र की 'साधना' में कितना अधिक नाव-साम्य है—

'Where can I meet Thee unless in this my home made
Thine. Where can I join Thee unless in this my work trans-

कबीर के शब्दों में—

प्रीतम को पतिया लिखूं जो कहूं होय बिदेस ।

तन में मन में नैन में ताकौ कहा सन्देश ॥

मीरा का प्रेम व्यापक (extensive) न होकर तीव्र (intensive) ही है; उसके प्रेम का मिलन और विरह पति के लिए पत्नी के हृदय का प्रेममय मिलन और विरह है । इस मधुर दाम्पत्य रति में मीरा डूब गई ।

formed into Thy work. If I leave my home, I shall not reach Thine. If I cease my work, can never join thee in Thy work. For thou dwellest in me and I in Thee. Thou without me or I without Thee are nothing.'

मीरा और अन्य प्रेमी कवि

मुक्तक और प्रबन्ध के प्रतिबन्ध को हटाकर काव्य की स्वच्छ, मधुर आत्मा के दर्शन करनेवाले रसज्ञ समालोचक 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द', 'रसात्मक वाक्य' आदि सभी काव्य-परिभाषाओं में अव्याप्ति-दोष पाते हैं। जो हमारे मनोरोगों को उत्तेजित एवं अनुरंजित कर भावयोग द्वारा हमारे हृदय को अपने रंग में रंग सके वही सच्चा काव्य है। काव्य हृदय के निर्भर से निकलकर हृदय के सागर में प्रवेश कर जाता है। यहाँ साधन और साध्य दोनों ही हृदय है। रस काव्य की आत्मा है—इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाए तो मीरा संसार के कुछ इने-गिने कवियों में आ जाती है और उन सभी में मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

जिस किसी कवि से मीरा की तुलना करना मीरा के दिव्य प्रेम-काव्य का अन्याय करना है। मीरा का काव्य हृदय की निगूढ़ वेदना से प्रसूत है। मीरा बिरह की गायिका है और इसमें रंचमात्र भी शंका के लिए स्थान नहीं है कि अपने क्षेत्र में, उस क्षेत्र को आज के समालोचक बहुत ही सीमित या संकुचित क्यों न कहें, मीरा सर्वश्रेष्ठ है।

हिन्दी-कवियों में मीरा के सबसे निकट आने वाले बस दो-तीन ही हैं—वे हैं जायसी, घनानन्द और महादेवी। जायसी और मीरा की 'परम भावना' सर्वथा एक ही है। सूफियों का 'मार्फत', वैष्णवों का 'आत्म-निवेदन' एक ही है। सूफियों में भी, यदि इस्लाम के पर्दे को हटाकर देखा जाय तो, प्रतीकोपासना, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही सही, विद्यमान थी। उन्होंने भी परमात्मा को प्रियतम माना और वैष्णव धर्म के माधुर्य भाव में भी परमात्मा को पति माना गया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि नौ विभेद सूफियों में भी शरीरगत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि भिन्न नामों से विद्यमान हैं। दोनों में अन्तःकरण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही प्रधानता दी जाती है। दोनों ने परमात्मा की सत्ता का सार प्रेम ही माना है। उनका 'हलूल' और हमारा 'वासुदेवः सर्वमिति' एक ही है। आत्म-समर्पण को ही दोनों ने स्वीकार किया है। 'खुदा के नूर को हुस्ने बुता के परदे में' देखने वाले 'सर्वभूतमयं हरि' तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' से सिद्धान्ततः कोई अन्तर

नहीं। जायसी कहते हैं—

पिउ से कहेउ सँदेसड़ा हे नीरा हे काग ।
सो घनि विरहे जरि मुई तेहिक धुआँ ह्य लाग ॥

मीरा कहती है—

काटि कलेजा में घरूँ रे कौआ तू ले जाय ।
ज्याँ देसाँ म्हारो पीव बसत रे वे देखत तू खाय ॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान सम्पत्ति है, जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त हो नहीं सकता और न उसके हृदय की आँखें ही खुल सकती हैं। जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा का आभास अनेक रूपों में मिलने लगता है। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। यह भाव प्रेममार्गी सूफी कवियों में, सब के सब में, समान रूप से पाया जाता है। जायसी अपने समय के एक सिद्ध फकीर थे और इनका 'पद्मावत' प्रेम-गाथा की परम्परा में सबसे प्रसिद्ध, प्रौढ़ और सरस कृति है।

जायसी और मीरा दोनों के काव्य का विषय है 'प्रेम की पीर'। पर मीरा का प्रेम अपने ही भीतर घुलने वाला है, जायसी का प्रेम विश्व को अपने रंभ में घुलानेवाला। जिस पथ से 'प्रीतम' का आगमन होगा उसे मीरा और जायसी दोनों ने पलकों से बुहारा है। जायसी और मीरा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है; मीरा में प्रेम-पान का मनोहारी रूप और उसकी रसासक्ति कुछ विशेष परिलक्षित हो रही है, जायसी में अत्यन्त सूक्ष्म।

अन्य प्रेममार्गी सूफी कवियों की तरह जायसी ने भी अपनी पूरी कथा कह लेने के बाद उसे अन्योक्ति या रूपक द्वारा साधक की कठिनाइयों, साधना-पथ के विवरण और अन्त में मिलन-सिद्धि का संकेत कर दिया है—

तन चितउर मन राजा कोन्हा, हिय सिधल बुद्धि पवमिनि चीन्हा ।

गुरु सूझा जेह पंथ देखावा बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥

नागमती यह दुनिया घन्धा बाँधा सोइ न एहि चित बंधा ।

राघव दूत सोई संतानू माया अलाउदीं सुलतानू ॥

पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को लोकोत्तर सौन्दर्य और आनन्द की भावना में मग्न करने वाला है—

सरवर तीर पदुमिनी आई, खोंपा छोर केस मुकलाइ ।

ससिमुख अंग मलयगिरि बासा, नागिनि शौंपि लीन्ह चहुँ पासा ॥

ओनइ घटा परो जग छाँहा, ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ ।

मूलि चकोर दीठि मुख लावा, मेघ घटा मेंह चंद देखावा ॥

पद्मिनी का रूप वर्णन करते समय कवि उसकी वरुणी के वाण से सारे संसार को बिधा देख रहा है और उसी की विरह-वेदना में सारी सृष्टि व्याकुल तड़प रही है—'बेधि रहा सगरी संसारा'। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा और जायसी विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम—वह सर्वथा अन्तर्मुखी है, अपने ही भीतर घुलने-घुलाने वाला है। 'बारहमासे' में मीरा की दृष्टि विरह में जलते-तपते बाह्य पदार्थों पर गई है अवश्य, पर उन पर दृष्टि ठहरी नहीं, वह पुनः अपने अन्दर लौट आती है। मीरा के काव्य में प्राकृतिक वर्णन नहीं हैं, मानव-प्रकृति के नाना रूप और विलास की अभिव्यञ्जना उसमें नहीं मिलती—मीरा का सारा काव्य एक 'क्षण' की एक घटना के प्रभाव में डूब गया है—और वह घटना है मिलकर, क्षण-भर के लिए मिलकर, चिरकाल के लिए बिछुड़ जाने की। जायसी अपने विरह में समस्त प्रकृति को रंग डालते हैं, परन्तु मीरा को अपने से बाहर देखने का अवकाश ही कहाँ है?—मीरा का काव्य एक 'भक्तभोगी' की विरह-व्यथा से ओत-प्रोत है। जायसी में कथा-विस्तार के अन्दर विरह की धारा प्रवाहित होती चलती है; समतल पर गंगा की धारा की तरह। पर मीरा में तो विरह का प्रखर प्रवाह गोमुख से फूट पड़ने वाली गंगा की अजस्र-प्रखरतम धारा की भाँति उदाम वेग से बहती और बहाती चल रही है। मीरा में लोकाचार, पता नहीं कहाँ स्वतः बह गया। जायसी तथा मीरा—इन दोनों के ही काव्य में भगवान् के विरह में जीवात्मा की तड़पन का बड़ा ही सजीव वर्णन है। मीरा का भावविन्यास पूर्णतः 'आत्मगत' है जायसी का लोक-व्याप्त। परन्तु दोनों की ही प्रेम-साधना लोक-बाह्य थी, उसमें लोकशास्त्र का विचार न था; प्रेम के प्रखर प्रवाह में लोक और वेद बह गए, लोकलाज और कुलकानि विसर गई, पथ-अपथ का डर छूट गया। अनन्य प्रेम और अवधिहीन विरह है मीरा और जायसी के काव्य का प्राण।

मधुर भाव की उपासना में, आत्मगत विरह-वेदना की निश्चल विवृति में कवीर मीरा के बहुत ही निकट आते हैं। कवीर और मीरा—इन दोनों के काव्य का आधार है—इनका सर्वथा निजी अनुभव। प्रेम के क्षेत्र में साकार और निराकार का बखेड़ा खड़ा नहीं हो सकता। प्रेम के सामने साकार इतना व्यापक हो जाता है कि वह प्रायः निराकार ही हो जाता है और निराकार इतना प्रगाढ़ और मूर्तिमान हो उठता है कि वह साकार हो जाता है। सर इकबाल ने इस विषय पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में अपने 'हृदय की बात' कही है—

कमी ऐ हकीकते मुन्तजर

नजर आ लिबासे मजाज में ।

कि हजारों सिज्दे तड़प रहे हैं
 मेरी जबीने नयाज में ॥
 मैं जो सर बसिज्दा हुआ कभी
 तो हरम से आने लगी सदा ।
 तेरा दिल तो है सनम आशाना
 तुझे क्या मिलेगा नमाज में ॥

हाँ, तो, कबीर के काव्य में नाथ-पंथ, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म का अपूर्व और विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है, पर मुख्यतः उनकी साधना वैष्णव धर्म की ही है। मीरा में भी, नाममात्र का ही सही, नाथ-पंथ और सूफी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि वह सब-का-सब वैष्णव धर्म की मधुर रति में सराबोर है। कबीर के काव्य पर से बाहर का कठोर छिलका छिछोह दिया जाए तो उसके भीतर से कबीर के कोमल एवं भावुक हृदय की घटकन स्पष्ट सुनी जा सकती है। अधिकांश व्यक्ति कबीर के काव्य की बाहरी रक्षता और ऊबड़-खाबड़ ढंग को देखकर भाग खड़े होते हैं और उन्हें नितान्त निराशा ही हाथ आती है। अस्तु, कबीर और मीरा दोनों का काव्य आत्मगत (Personal या Subjective) है। भगवान् के साथ मिलन का आनन्दोल्लास तथा भगवान् के विरह में तड़पने का जहाँ वर्णन है वहाँ मीरा और कबीर एक हैं, सर्वथा एक हैं। यह सच है कि मिलन की घड़ी में जहाँ कबीर का आनन्द छलक पड़ा है वहाँ मीरा की सजीली अभिव्यक्ति लज्जा की चादर ओढ़े हुए मूक-सी रह जाती है। कबीर के काव्य में पुरुष स्पष्ट है—मिलन में भी, विरह में भी। मीरा में वेदना की विवृति तो पूरी-पूरी मिलती है परन्तु मिलन के क्षण में मीरा एक सती-साध्वी पत्नी की तरह चुपचाप आनन्द के रस में छकी हुई है, अधरों पर मन्द-मन्द मुसकान, आँखों में आनन्दोल्लास की हल्की लहर, अंग-अंग में प्राणप्रिय से मिलन की सिहरन—पर यह सब अपने-आप में ही खोई-खोई, अपने में ही समायी हुई है।

'साई का प्रेम सेंट का सौदा नहीं है, वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता है'—इसे मीरा और कबीर दोनों स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि यहाँ वही प्रवेश कर सकता है जो सिर उतारकर धरती पर रख दे। कायर की दाल यहाँ नहीं गलने की। बातूनी इस्कर बेकार है। पतिव्रता स्त्री ही भक्त की तुलना में आ सकती है। कबीर और मीरा इन दोनों का प्रेम एक सच्ची पतिव्रता का प्रेम है और दोनों की ही यह समान प्रार्थना है—

नैना अंतर धाव तू नैन झापि तोहि लेउं ।
 ना में देखी और को ना तोहि देखन देउं ॥

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।

तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मोर ॥

मेरे एक मित्र अन्तिम पद के 'क्या लागै है मोर' को 'मन हरखत है मोर' कहा करते हैं और कहते हैं कि 'क्या लागै है मोर' में थोड़ी-सी उदासीनता है ।

मीरा ने अपने को भगवान् की चेरी, जनम-जनम की दासी आदि कहा है । कबीर तो अपने को 'राम की कुतिया' कहते हैं, नाम 'मुतिया' है । गले में राम की जेवड़ी पहनी हुई है । 'वह' जिघर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाती है । भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, जो दे दे वही खा लेना उत्तम है । मीरा भी यही कहती है—

रण दिणा बाकै संग खेलूं ज्यूं-त्यूं बाहि रिझाऊं ।

जो पहिरावै सोई पहिरूं जो दे सोई खाऊं ।

जित बैठावै तितही बँठूं बेचै तो बिक जाऊं ।

आत्मसमर्पण का आनन्द और उसका निराला सौन्दर्य मीरा और कबीर के काव्य में श्रोतप्रोत है । प्रेम की विभिन्न दशाओं की गहरी अनुभूति इन दोनों को है । अपने-आप पर प्रेम की चोट खाकर, प्रेम के बाण से विधकर हृदय में उस तीर को छिपाये ये दोनों दीवाने पागल की तरह, घायल की तरह घूमते फिरे और इनकी व्यथा को कोई क्या बूझे ?

मन परतीति न प्रेमरस, ना इस तन में ढंग ।

ना जाणौं उस पीव सूँ कैंसी रहसी रंग ।

मीरा कहती है—मैं जाण्यों नहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री ।

आये मेरे सजना, फिर गये अंगना, मैं अनागण ही सोइ री ॥

मीरा और कबीर इसी अंशसे में हैं कि उनका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाए । ये साँई के प्रेम की चोट खाये हुए, भीतर-बाहर उसके रंग में रंगे हुए हैं । प्रेम की भूख से व्याकुल वह प्रियतम प्रेम-मिखारी साँई राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है । जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं, वे भोग इस रंग की लीला को अनूभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं । पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं । उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है जैसे प्रियतम ने एक छेड़खानी करके ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है । यह पुकार सारे शरीर को बेध डालती है । इसकी कोई औषध नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं—वेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया । एक बार चोट लगने पर अपने को सँभाल रखना कठिन है । साँई के इस रंग का चोट खाया हुआ मनुष्य घायल की हालत में पागल-सा घूमता फिरता है और उसकी व्यथा को

कि हजारों सिज्दे तड़प रहे हैं
 मेरी जबिने नयाज में ॥
 मैं जो सर बसिज्दा हुआ कभी
 तो हरम से आने लगी सदा ।
 तेरा दिल तो है सनम आशना
 तुझे क्या मिलेगा नमाज में ॥

हाँ, तो, कबीर के काव्य में नाथ-पंथ, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म का अपूर्व और विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है, पर मुख्यतः उनकी साधना वैष्णव धर्म की ही है। मीरा में भी, नाममात्र का ही सही, नाथ-पंथ और सूफी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि वह सब-का-सब वैष्णव धर्म की मधुर रति में सराबोर है। कबीर के काव्य पर से बाहर का कठोर छिलका छिछोह दिया जाए तो उसके भीतर से कबीर के कोमल एवं भावुक हृदय की घड़कन स्पष्ट सुनी जा सकती है। अधिकांश व्यक्ति कबीर के काव्य की बाहरी रक्तता और ऊबड़-खाबड़ ढंग को देखकर भाग खड़े होते हैं और उन्हें नितान्त निराशा ही हाथ आती है। अस्तु, कबीर और मीरा दोनों का काव्य आत्मगत (Personal या Subjective) है। भगवान् के साथ मिलन का आनन्दोत्साह तथा भगवान् के विरह में तड़पने का जहाँ वर्णन है वहाँ मीरा और कबीर एक हैं, सर्वथा एक हैं। यह सच है कि मिलन की घड़ी में जहाँ कबीर का आनन्द छलक पड़ा है वहाँ मीरा की सजीली अभिव्यक्ति लज्जा की चादर ओढ़े हुए मूक-सी रह जाती है। कबीर के काव्य में पुरुष स्पष्ट है—मिलन में भी, विरह में भी। मीरा में वेदना की विवृति तो पूरी-पूरी मिलती है परन्तु मिलन के क्षण में मीरा एक सती-साध्वी पत्नी की तरह चुपचाप आनन्द के रस में छकी हुई है, अघरों पर मन्द-मन्द मुसकान, आँखों में आनन्दोत्साह की हल्की लहर, अंग-अंग में प्राणप्रिय से मिलन की सिहरन—पर यह सब अपने-आप में ही खोई-खोई, अपने में ही समायी हुई है।

'साई का प्रेम सेंट का सौदा नहीं है, वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता है'—इसे मीरा और कबीर दोनों स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि यहाँ वही प्रवेश कर सकता है जो सिर उतारकर धरती पर रख दे। कायर की दाल यहाँ नहीं गलने की। बातूनी इस्क बेकार है। पतिव्रता स्त्री ही भक्त की तुलना में आ सकती है। कबीर और मीरा इन दोनों का प्रेम एक सच्ची पतिव्रता का प्रेम है और दोनों की ही यह समान प्रार्थना है—

नैना अंतर आव तू नैन झापि तोहि लेउं ।

ना मैं देखौं और को ना तोहि देखन देउं ॥

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।

तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मोर ॥

मेरे एक मित्र अन्तिम पद के 'क्या लागै है मोर' को 'मन हरखत है मोर' कहा करते हैं और कहते हैं कि 'क्या लागै है मोर' में थोड़ी-सी उदासीनता है ।

मीरा ने अपने को भगवान् की चेरी, जनम-जनम की दासी आदि कहा है । कबीर तो अपने को 'राम की कुतिया' कहते हैं, नाम 'मुतिया' है । गले में राम की जेवड़ी पड़ी हुई है । 'वह' जिघर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाती है । भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, जो दे दे वही खा लेना उत्तम है । मीरा भी यही कहती है—

रण दिना वाकै संग खेळूं ज्युं-त्युं वाहि रिझाऊं ।

जो पहिरावै सोई पहिहूँ जो दे सोई खाऊं ।

जित बैठावै तितही बँठूं बेचै तो बिक जाऊं ।

आत्मसमर्पण का आनन्द और उसका निराला सौन्दर्य मीरा और कबीर के काव्य में श्रोतप्रोत है । प्रेम की विभिन्न दशाओं की गहरी अनुभूति इन दोनों को है । अपने-आप पर प्रेम की चोट खाकर, प्रेम के बाण से विधकर हृदय में उस तीर को छिपाये ये दोनों दीवाने पागल की तरह, धायल की तरह घूमते फिरे और इनकी व्यथा को कोई क्या बूझे ?

मन परतीति न प्रेमरस, ना इस तन में ढंग ।

ना जाणौं उस पीव सूँ कँसी रहसो रंग ।

मीरा कहती है—मैं जाण्यों नहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री ।

आये मेरे सजना, फिर गये अंगना, मैं अनागण ही सोइ री ॥

मीरा और कबीर इसी अंशसे में हैं कि उनका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाए । ये साँई के प्रेम की चोट खाये हुए, भीतर-बाहर उसके रंग में रंगे हुए हैं । प्रेम की भूख से व्याकुल वह प्रियतम प्रेम-भिखारी साँई राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है । जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं, वे लोग इस रंग की लीला को अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं । पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं । उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है जैसे प्रियतम ने एक छेड़खानी करके ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है । यह पुकार सारे शरीर को वेध डालती है । इसकी कोई औपघ नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया । एक बार चोट लगने पर अपने को सँभाल रखना कठिन है । साँई के इस रंग का चोट खाया हुआ मनुष्य धायल की हालत में पागल-सा घूमता फिरता है और उसकी व्यथा को

कोई समझ नहीं सकता—विरह में बजती हुई प्राणों की बाँसुरी को या तो साँईं सुनता है या अपना चित्त—

सब रग ताँत रबाव तन बिरह बजावै चित्त ।

और न कोई सुनि सकै कै साँईं कै चित्त ॥

कबीर और मीरा दोनों को उस परम प्रियतम ने सोने में अपने मिलन का सुख देकर, उनके अतल प्राणों में अपने स्पर्श की गुदगुदी से उन्हें जगा दिया है—

सूतल रहलूँ मैं नाँद भरि हो, पिया दिहलें जगाय ।

चरन-कँवल के अंजन हो नैना लेलूँ लगाय ॥

दोनों ने अपने शरीर के दीपक में प्रेम की बाती जलाई है और उसी के प्रकाश में वे अपने प्रेमी प्रियतम का सुन्दर सलोना रूप देखते रहे हैं और निरख-निरखकर, प्रेम का प्याला पी-पीकर 'बीराय' गए हैं। प्रेम का प्याला पिनाकर वह प्रेमी विरह की अग्नि धधका देता है और फिर तन, मन, धन की बाजी लगती है। भक्त के तो दोनों हाथ लड्डू हैं।

हारी तो पिय की भई रे, जीती तो पिय मोर रे ।

हिन्दी-साहित्य में विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए घनानन्द। निश्चय ही विश्व-साहित्य में घनानन्द के समान विरह का कवि पाना कठिन है। घनानन्द का एक-एक शब्द विरह के रस से सराबोर है। कलापक्ष तो मीरा की अपेक्षा सुव्यवस्थित है ही, भावपक्ष भी मीरा से किसी भाँति घटकर नहीं है। घनानन्द प्रेम की चोट खाये हुए थे और वही चोट इनके जीवन में एक दिव्य परिवर्तन का कारण हुआ, मजाजी से हकीकी की ओर बहा ले जाने में समर्थ हुआ—यह सर्वविदित है। घनानन्द के काव्य में एक विलक्षण विवशता, निरुपायता, यहाँ से वहाँ तक मिलती है, ऐसा मानो किसी अल्हड़ मृगी को खूँटे में बाँधकर कोई उस पर तीर पर तीर चलाए जा रहा हो और वह चुपचाप सब-कुछ सह रही हो—

मेरोई जीव जो मारतु भोहि तो प्यारे कहा तुम सौं कहनौ है ।

आँखिन हूँ यहि बानि तजी, कछु ऐसोई भोगनि को लहनौ है ॥

आस तिहारिय ही घनआनन्द कैसे उदास भये रहनौ है ।

जानि के होत इते पै अजान जो, तो बिन पावक ही दहनौ है ॥

जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगी ।

तीरन मारिकं पीर न पावत एक सौं मानत रोइबो रागी ॥

ऐसी बनी 'घनआनन्द' आन जू आन न सूझत सो किन त्यागी ॥

आन मरंगे मरंगे बिधा पै, अमोही सो काहू को मोह न लागी ॥

मेघों से यह कातर प्रार्थना कि जरा मेरी पीर को तो परसो, मेरे आंसुओं को लेकर उस 'बिसासी' सुजान के आंगन में बरसो; पवन से यह याचना कि उस निर्मोही के पाँयन की नेक धूरि ला दे कि मैं उनका अपनी आँखों में अंजन कर लूँ—कितनी गहरी कसक और प्यार-भरी लालसा का द्योतक है! यह बिरह बाहर से प्रशान्त है, गम्भीर है, न उसमें करवटों बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछलकर भागना ही है। उनके वियोग में मूक वेदना की अत्यन्त आतुर परन्तु साथ ही परम गम्भीर पुकार है। एक बार अपनाकर, रस पिलाकर, आशा को बढ़ाकर अब यों भँभधार में छोड़ रहे हो—यह तुम्हारी कैसी रीति है ?

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिरि नेह को तोरिए जू ।
 निरधार अघार दे धार भँभार, बई गहि बह न बोरिए जू ॥
 घन आनन्द आपके चातक कों, गुन बाँधि कें मोह न छोरिए जू ।
 रस प्याय कें ज्याय बढ़ाय कें, आस बिसास में यों विव घोरिए जू ॥
 वह 'बैरिन बाँसुरिया', जो कभी बजी थी, आज भी उसका स्वर गूँज रहा है और बिना बजे भी वह बजा करती है और प्रेमी के प्राणों के साथ खेला करती है—

घन आनन्द तीखिये ताननि सों सरसे सुर साजिबोई-सी करै ।
 किततें यह बैरिनि बाँसुरिया विन बाजेई बाजिबोई-सी करै ॥
 मीरा के साथ महादेवी की तुलना आजकल बहुत प्रचलित है। परन्तु प्रायः अलोचक यह भूल जाते हैं कि मीरा मध्यकाल की एक भक्त है और महादेवी आधुनिक काल की एक कवि। महादेवी बिरह की पुजारिन हैं और बिरह में ही चिर हैं। उन्होंने उस प्रियतम को, जिसके बिरह में जलती हैं, देखा नहीं है; केवल उसकी पदध्वनि पहचानी हुई है—

मैंने देखा उसे नहीं, पदध्वनि है केवल पहचानी ।

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है ॥

'किसी' का 'सुकुमार सपना' पलकों में पाल रही है और आज उसकी मीठी-मीठी याद में नयन, जाने क्यों, भर-भर आते हैं। हरसिंघार के फूलों का करना और आँखों से आंसुओं का चुपचाप गिरना परस्पर कितना समान है!—

पुलक-पुलक कर सिहर-सिहर तन

आज नयन आते क्यों भर-भर ?

सकुच सलज खिलती शेकाली

अलस मौलथी डाली - डाली

बुनते नव प्रवाल कुंजों में

रजत श्याम तारों से जाली

शिथिल मधुपवन गिन गिन मधुकण
हरसिगार झरते हैं झर-झर
आज नयन आते क्यों भर-भर ?

यह 'अमर सुहाग भरी' और 'प्रिय के अनन्त अनुराग भरी' मिलन-मन्दिर
में प्रिय से मिलने और मिलकर मिल जाने की कितनी मधुर अभिजापा बिये
हुए है !—

मिलन मंदिर में उठा दूँ सुमुख सजल गुंठन,
में मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी में ।
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी में ॥

प्रिय के पथ में अभिसार के लिए रूप का शृङ्गार देखिए—

शृङ्गार कर ले री सजनि
तू स्वप्न सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले
अज्ञात पथ है, दूर प्रिय
जल, भींगती मधु की रजनि !

मन में वह 'निर्मम' छिपा हुआ है पर संसार उस 'घन्तवासी' से मिलने
वहीं देता, इधर-उधर भटकाता रहता है—

धूँधट पट से झाँक दिखाने
अरुणा के आरक्त कपोल,
जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की तुझ पर लाली घोल ।
ये मंथर सी लोल हिलोरें
फँला अपने अंचल-झोर
कह जाती 'उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर' ।
यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता है सारा संसार ।

मीरा की तरह ही महादेवी अपने में और उसमें कोई भेद नहीं मानती—

सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते बीचि-बिलास ?
धुद्र हैं मेरे बुदबुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि, तुम्हीं में नाश ।

तथा

तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ?
तेरा अघर-बिचुंबित प्याला
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला
तेरा मानस ही मधुशाला
फिर पूछूँ क्यों मेरे साक्री
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

उस प्यारे को पत्र भी लिखा जाए, संदेश भी भेजा जाए यदि वह कहीं परदेश में हो, परन्तु जो तन में, मन में, नयन में रम रहा है उसे क्या पत्र और कौन-सा संदेश ? मीरा में कई पद इस भाव के हैं । महादेवी कहती हैं—

अलि कहीं संदेश भेजूँ ?
मैं किसे संदेश भेजूँ ?
नयन पथ से स्वप्न में मिल
प्यास में घुल साध में खिल

प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूँ ?

यह सारा जीवन 'उस' के आगमन की आशा और प्रतीक्षा में, चिर जागरण, चिर विरह, फिर भी आशा के कारण चिर मिलन के मधु में मुग्ध है—

जो न प्रिय पहचान पाती

बौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत्-सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्ययामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती ?

चाँदनी के बादलों में स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस रात बिखेरते क्यों ?

सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती ?

कल्प-युग व्यापी विरह को एक सिहरन में संभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप वाले,
क्यों किसी के आगमन के
शकून स्पन्दन में मनाती ?

मेघपथ में चिह्न विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय पद
जो न उनकी चाप का मैं जानती संदेश उन्मद
किस लिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?
जो न प्रिय पहचान पाती ।

इतनी मीठी पहचान या 'चिन्हारी' के बाद फिर क्या पूजा और क्या
अर्चा ? अब तो सारा जीवन, एक-एक श्वास-प्रश्वास अर्चना में स्वयं लीन है—
क्या पूजा क्या अर्चन रे ।

उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे ॥
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे ॥
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन के जलकण रे ।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चंदन रे ॥
स्नेह भरा जलता है शिलमिल मेरा यह दीपक मन रे ।
मेरे हृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे ॥
धूम बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे ॥

मीरा की तरह महादेवी की भी शिकायत है—

पथ में बिखरा शूल बुला जाते क्यों दूर अकेले

परन्तु इस 'आँख-मिचौनी' के खेल में—खोजना, पाना और फिर खो देना,
फिर खोजना और खोजते ही रहना, इसमें क्या कम आनन्द है, कम माधुर्य है ?
यह 'दूरी' क्या कम मधुर है ? पर मन जो नहीं मानता !

रंगमय है देव दूरी, छू तुम्हें रह जायगी

यह चित्रमय शीड़ा अघूरी

दूर रह कर खेलना पर, मन न मेरा मानता है ।

हम-तुम मिल जाएँ तो फिर यह लीला कैसे चलेगी, यह चित्रमय हमारी-
तुम्हारी परस्पर की प्रणय-क्रीड़ा, यह आनन्द के लिए अघूरी ही रह जाएगी,
इसलिए यह 'दूरी' ही बनी रहे और अपने भीतर 'एकमेक' होने की साध
यह छिपाये रहे तभी तो दोनों की लालसा लहराती चलेगी—

चिरह का युग मिलन का पल

मधुर जैसे दो पलक चल

एकता इनका तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतबल !

इसीलिए चिर सुहागिनी मीरा की तरह महादेवी सोल्लास स्वीकार
करती हैं—

सखि ! मैं हूँ अमर सुहाग भरी !

प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

जीवन की एक झलक

'I go with a perpetual heartache;
None can see God or Goddess and live'

—Coventry Patmore.

चार सौ वर्ष से ऊपर हुए, प्रभु ने पृथ्वी पर प्रेम की एक पुतली भेजी थी। वह आई, प्रभु के प्रेम में छकी हुई, प्रभु के आलिंगन में डूबी हुई, प्रभु के रूप में भूली हुई वह आई। प्रभु के नूपुरों की रनभुन में अपने हृदय की गति मिलाकर, प्रभु की मुरली में अपने प्राण ढालकर, प्रभु के पीताम्बर पर अपने को निछावर कर, प्रभु की मन्द-मन्द मुसकान पर अपना सब-कुछ दे डालकर, प्रभु के चरणों के नीचे अपना हृदय बिछाकर वह अलहड़ योगिनी पैरों में धुंधरू और हाथ में करताल लेकर नाच उठी और प्रेम के आनन्द में विभोर होकर गा उठी —

सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज ।

मैंलाई चढ़-चढ़ जोऊं मेरी सजनी कब आवें महाराज ॥

इतने दिन हो गए, आज भी यह गीत स्पष्टतः भीतर गूँज रहा है, मानो अभी कल की बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखों ने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा है, इन कानों ने वह दिव्य मंगल-संगीत सुना है। सन्ध्या का समय है, भीरा आरती कर चुकी है। सामने श्रीगिरधरलालजी की दिव्य मूर्ति विराज रही है। कमरे के द्वार बन्द हैं और भीतर सारा स्थान तेज से जगमगा रहा है, दिव्य गन्ध से भर रहा है। भीरा अपने प्राणाधार के सामने नाच रही है। आँसुओं की धारा बह रही है—भीतर-बाहर सर्वत्र प्रभु का सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्श की मादक मधुर सिहरन रोम-रोम को प्रेम में डूबोए हुए है—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं गिरधर रँग राती ।

पचरंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती ।

झिरमिट माँही मिल्यो साँबरो खेल मिली तन गाती ।

'खोल मिली तन गाती !' निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधार से मिली, अपने प्राणों के प्राण, हृदय के सर्वस्व से मिली और मिलकर

उसी में मिल गई, एक हो गई, तल्लीन हो गई। यह बात तो पीछे जाकर खुली जब—

आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों प्रेम नदी के तीरा ।

The beloved took me to His arm.

And I laid my bosom bare and clasped Him tight,

Ah ! I clasped Him to my bosom.

संसार को इस मिलन और इस विरह का क्या पता ? यह तो कुछ पगलों के लिए—प्रभु-प्रेम के दीवानों के लिए ही है। ऐसे दीवाने कितने हुए ? संसार में चैतन्य और मीरा, मंसूर और ईसा कितने हुए ?

मीरा मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म सं० १५७३ में चौकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था। ये आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं। बचपन में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और इसलिए इनके पालन-पोषण का भार इनके दादा राव दूदाजी पर पड़ा। दूदाजी परम वैष्णव थे। मीरा के संस्कार बचपन से ही कृष्ण-प्रेम से ओत-प्रोत थे। बहुत बचपन में ही मीरा ठाकुरजी की पूजा के लिए पुष्प चुनती, माला बनाती और बड़े ही प्रेम से ठाकुरजी को पहनाती। भगवान् का शृङ्गार कर वह अपनी तुतली बोली में जाने क्या-क्या गुनगुनाती। प्रातःकाल नींद खुलते ही ठाकुरजी ! बस, ठाकुरजी के सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना। दादाजी जब भगवान् की षोडशोपचार पूजा करते तब मीरा एकटक देखा करती।

बचपन की ही एक घटना है—मीरा के घर एक साधु आये। उनकी पूजा में श्री गिरधरलालजी की मूर्ति थी। मीरा को वह मूर्ति ऐसी लगी, मानो वह उसके जन्म-जन्म का साथी हो। उसे पाने के लिए मीरा का हृदय मचला, पर वह साधु मूर्ति क्यों देने लगे ! मीरा को उस मूर्ति के बिना कल कैसे पड़ती ! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी। साधु ने स्वप्न में देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अलहड़ बालिका के पास पहुँचा आने का आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीरा को मूर्ति दे आया। अब मीरा की प्रसन्नता का क्या पूछना ! आनन्दोल्लास में वह फूली-फूली फिरती।

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है—मीरा के गाँव में एक बारात आई। सड़कियों को बचपन में अपने भावी पति को जानने की बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कण्ठा रहती है। मीरा ने बड़ी सरलता से अपनी माता से पूछा—“माँ ! मेरा विवाह किससे होगा ?” बच्ची के प्रश्न पर हँसती हुई माँ ने कहा—

“गिरधारीलालजी से” और सामने की मूर्ति की ओर संकेत किया। मीरा के मन में यह बात बैठ गई कि गिरधरलालजी ही वास्तव में हमारे पति हैं।

अठारह वर्ष की अवस्था में मीरा का विवाह मेवाड़ के इतिहास-प्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा सांगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजी के साथ हुआ। मीरा अपनी ससुराल में भी अपने इष्टदेव की मूर्ति लेती आई। मीरा का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही आनन्दपूर्ण था। ऐसी सती-साध्वी नारी अपने पतिदेव की सेवान करेगी, तो कौन करेगी? मीरा बड़े आदर और विनय के साथ पति की परिचर्या में रहती और साथ ही विनयपूर्वक प्रभु की उपासना भी किया करती। प्रभु जिसे अपनाते हैं उसके सारे अन्य बन्धनों और सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जब तक जीव संसार में किसी का भी आसरा-भरोसा रखता है तब तक वह प्रभु के आश्रय से वंचित ही रहता है। हम सर्वथा प्रभु के हो जाएँ, इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि संसार में भिन्न-भिन्न सम्बन्धों को लेकर जो हमारा अनुराग है वह सिमटकर प्रभु में केन्द्रीभूत हो जाए, धनीभूत हो जाए। जो प्रेम प्रभु के चरणों में निर्माल्य हो चुका है, उसमें साभीदार संसार का कोई भी प्राणी कैसे होगा? मीरा का दाम्पत्य जीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीरा की जीवन-धारा एकबारगी पनट गई। संसार के सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्त-भाव से श्रीगिरधरलाल जी की सेवा में रहने लगी।

लोक-लाज और कुल की मर्यादा को अलग कर मीरा अपने प्राणाराध्य की साधना में अर्हनिश लगी रहती। प्रेम की प्रखर अजन्म धारा में लोक-लाज कैसे टिक सकती? मीरा को तो कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। उसके यहाँ अब बराबर साधुओं की भीड़ लगी रहती। भगवत्-चर्चा के सिवा अब उसे करना ही क्या रह गया! श्रीगिरधर गोपालजी की मूर्ति के सामने मीरा नाचा करती और सन्तों की मण्डली जमी रहती। घरवालों को भला यह बात कैसे पसन्द आती! राणा सांगा की मृत्यु हो चुकी थी और इस समय मीरा के देवर विक्रमाजीत सिंहासन पर थे। उनसे मीरा की ये ‘हरकर्ते’ देखी न गईं। उन्होंने मीरा को मार डालने की कई तदवीरें सोचीं, परन्तु जिसकी रक्षा स्वयं परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है! विष का प्याला भेजा। मीरा उसे अपने प्राणप्यारे का ‘चरणामृत’ समझकर पी गई। विष भी अमृत हो गया! जिसके अनुकूल स्वयं प्रभु है, उसके लिए प्रतिकूल क्या हो? पिटारी में साँप भेजा गया। मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजी की मूर्ति है। मीरा ने उसे छाती से चिपका लिया—प्रेमाश्रुओं से नहला दिया!

सखी मेरो कानूड़ो कलेजे की कोर ।

मीर मुकुट पीताम्बर सोहै कुंडल की झकझोर ।

बृन्दावन की कुंज गलिन में नाचत नन्दकिसोर ॥

परीक्षा की इति यहीं तक नहीं थी। मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओं में रहने लगी और रात-दिन हरि-धर्चा तथा कीर्तन के सिवा उसे कुछ मुहाता ही न था। मीरा ने यह निश्चय कर लिया कि जितने क्षण शरीर में प्राण रहेंगे, उतने क्षण हरि-गुणगान में ही बीतेंगे। प्राण छूट जाएँ, भले ही छूट जाएँ, कीर्तन कैसे छूटता ! सास ने बहुत मना किया, बहुत समझाया-बुझाया; परन्तु यहाँ तो अन्दर-ही-अन्दर प्रेम की भट्ठी घबक रही थी।

मीरा की एक ननद थी ऊदा। उसने भी मीरा को 'राह पर लाने' की बहुत चेष्टा की, परन्तु मीरा का मन तो मोहन के चरणों में बिक चुका था। ऊदा से अपनी हार सही न गई। उसने एक पङ्क्ति रचा। विक्रमाजीत से जाकर उसने कहा कि मीरा आधी रात को द्वार बन्द कर और दीपक जलाकर किसी पुरुष से प्रेमालाप करती है। वह पुरुष नित्य मीरा के पास आधी रात को पैरों की चाप छिपाए धीरे-धीरे आता है। उसने राणा से यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो, तो स्वयं आकर देख ले। राणा के क्रोध का अब क्या ठिकाना ! चेहरा तमतमा उठा। बस, अभी मीरा का सिर घड़ से अलग करने के लिए वह तलवार लेकर दौड़े।

भादों के कृष्णपक्ष की आधी रात है। मेघ भ्रमाभ्रम बरस रहा है और बिजली कड़क रही है—परन्तु उस मेघ से भी अधिक बरस रही हैं वियोगिनी मीरा की दो करुणा-विगलित आँखें; उस बिजली से भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्दभरा दिल—साँवरे के विरह में तड़पता हुआ पागल विह्वल हृदय ! संसार सुख की नींद सो रहा है, परन्तु वियोगिनी की आँखों में नींद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ ! मीरा ने श्री गिरधरलालजी की मूर्ति के पास दीपक जला दिया है और अगर की सुगन्धि से सारा कमरा गमगमा रहा है। मीरा ने पहले हृदयेश्वर के मस्तक पर रोली लगाई और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखों से लगाया, उसी से अपनी माँग भर ली। आज वह नवबधू के रूप में सजी हुई है। वह एकटक अपने प्राणाधार को देख रही है। देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्ति में से उसके हृदयेश्वर निकलते हैं, मन्द-मन्द मुसकाते हुए, मीरा का आर्त्तिलगन करने के लिए आगे बढ़ते हैं—मीरा प्रेम के इस अवहनीय भार को कैसे सँभाल पाती ! मिलन की सुखधारा में बह चली। मीरा ने मिलने के लिए अपने मस्तक को आगे बढ़ाया; परन्तु संज्ञाहीन होकर वह गिर पड़ी, प्रभु के चरणों में गिर पड़ी। उसके संज्ञाहीन प्राणों ने अपने भीतर देवता के परम शीतल अथच मधुर-मधुर स्पर्श का अनुभव किया। वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श !! वह प्रगाढ़ मधुमय प्रणयार्त्तिलगन !

‘वह’ आया तो प्राण मिलन-मुख के भार को सह न सके और अब जब प्राणों में सजा लौट आई है तो उसका ही पता नहीं। आँखें खुलीं। मीरा के प्राण अब भी स्पर्श के आनन्द में बेसुध थे। आँसुओं में सनी हुई वेदना-विगलित बाणी कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट स्वयं निकल रही थी...आह! एक क्षण और ठहर जाते! कई जन्मों से तुम्हें ढूँढती आ रही हूँ। प्राणों का दीप जलाकर संसार का कोना-कोना छान आई। तुम्हारा पता किसी ने नहीं बताया। आज बड़ी दया की। ओह! वह छवि!

निपट बंकट छवि अटके

मेरे नेना निपट बंकट छवि अटके

देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके ।

बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके ॥

टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके ।

मीरा प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नट के ॥

आह! भर-आँसु अभी तो देख भी नहीं पाई थी। कहाँ छिप गए? कहाँ खिसक गए? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना...वे बड़ी-बड़ी पागल बनाने वाली आँखें, वह केसर-तिलक, लहराती हुई अलकावली और उस पर तिरछा-चाँका मोर-मुकुट! आह! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते! इस प्रकार तरसाकर प्राणों को तड़पाने की यह कौन-सी विधि सोच रखी है! जीवनघन! आओ, मैं तुम्हें प्राणों के भीतर छिपा लूँ—

मैं अपने सेयाँ संग साँची ।

अब काहे की लाज सजनी परगट हूँ नाँची ॥

प्रधानक दरवाजे फट पड़े और राणा विक्रमाजीत नंगी तलवार लिये, क्रोध में तमतमाए भीतर घुस आए। उन्होंने देखा कि श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति के सामने मीरा हाथ जोड़े अर्द्धमूर्च्छित दशा में बैठी हुई है और आँखों से आँसुओं की धारा चल रही है। उसने क्रोध में पागल होकर मीरा का हाथ खींचा और क्रोधस्फीत शब्दों में कहा—“कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातों जागा करती है? अभी मैं उसका सिर घड़ से अलग किए देता हूँ।” मीरा भावमग्न हो रही थी। उसने अँगुली से श्री गिरधरलालजी की मूर्ति की ओर संकेत किया। परन्तु राणा के लिए तो वह बस एक पत्थर की मूर्ति थी। क्रोध में मनुष्य शैतान हो जाता है। उसे उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता। विक्रमाजीत को मीरा की बातों का विश्वास नहीं हुआ। उसने फिर सिंह की तरह गजरते हुए कहा—“अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बात कर रही थी? नहीं तो आज तेरे ही रक्त से इस तलवार की प्यास बुझाऊँगा।” मीरा डरती क्यों? जिसे परमात्मा का बल प्राप्त है संसार उसका बाल भी

बोका नहीं कर सकता। मीरा ने हड़तापूर्वक कहा—“सच मानो, यही है मेरा चित्तचोर प्राणघन। इसी के चरणों में मैंने अपने को निछावर कर दिया है...अभी देखो, देखो, खड़े-खड़े मुसकरा रहा है। एक क्षण भी तो नहीं हुआ वह आया था। अहा! वह रूप! उसने मुझे अपने आलिंगनपाश में बाँधने के लिए ज्यों ही बाँहें बढ़ाई, त्यों ही मैं अभागिनी...उफ्!! मत पूछो! उस अपरूप रूप को देखते ही मेरी आँखें भ्रम गई—मैं संज्ञाहीन होकर गिर पड़ी। वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणों में गा रहा था। अहा! वह शीतल स्पर्श! वह जगत् का स्वामी अनादि काल से चित्त चुराता आया है और यही उसकी बान पट्ट गई है। उसने प्रेमस्वरूपा गोपियों का हृदय चुराया। इतने से ही उसका धी न भरा। वे जब स्नान कर रही थीं, उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये। मैं तो अपने प्राण उसके हाथों सौंप चुकी। वह भला इसे क्यों लौटाने लगा! देखो, देखो, वह अपनी शरारत पर स्वयं मुसकरा रहा है। देखो, देखो, वह सनोनी सांवरी सूरत देखो! प्राण, मेरे पागल प्राण! आओ, आओ, आवरण हटाकर आओ! संसार में मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन? आओ, प्राण! मुझे अपने में डूबा लो, एक कर लो!”—

श्री गिरधर आगे नाचूंगी।

नाच-नाच पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूंगी ॥

लोक-लाज कुल की मरजादा घामें एक न राखूंगी।

पिय के पलंगा जा पौडूंगी मीरा हरिरंग राचूंगी ॥

गाते-गाते मीरा मूच्छित हो गई। विक्रमाजीत किकर्तव्य विमूढ़ हो गए। ऊदा और अन्य सड़कियाँ जो कमरे में आई थीं, मीरा के इस दिव्य प्रेम को देखकर अवाक हो गईं। ऊदा मीरा के चरणों में गिरकर रोने लगी। अपने किए पर उसे बड़ी ग्लानि हुई।

मीरा की भक्ति-सुरभि दिग्-दिगन्तर में फैलने लगी और लोग उसके दर्शनों के लिए स्थान-स्थान से आने लगे। राजमहल में बराबर साधु-सन्तों की भीड़ देखकर विक्रमाजीत से सहा नहीं गया। मीरा को राजपाट और लोक-लाज से क्या करना था? वह सब-कुछ छोड़-छाड़कर वृन्दावन चली। वृन्दावन पहुँचकर मीरा का बस एक ही काम था—मन्दिरों में प्रभु की मूर्ति के सामने पैरों में घुँघरू बाँधकर और हाथ में करताल लेकर कीर्तन करना। प्रेम की इस पुतली को जो भी देखता, वही श्रद्धा और भक्ति से सिर झुका लेता। वृन्दावन में पहुँचकर मीरा को ऐसा लगा मानो वह अपने 'घर' आ गई है। वहाँ के एक-एक वृक्ष, लता, पत्ते से उसका पूर्व परिचय था। वृन्दावन तो उसके 'जन्म-जन्म के साथी' का देश था, ब्रज की माधुरी पर मुग्ध होकर मीरा ने अपने प्रेम-भरे उद्गार प्रकट किए—

या व्रज में कल्लु देखो री टोना ॥

ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना ।
बधि को नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना' ॥
वृन्दावन की कुंजगतिन में आँख लगाय गयो मनमोहना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुधर रस लोना ॥

वृन्दावन में मीरा के आनन्द का पारावार उमड़ आया । मीरा पुरों में घूँघरू बाँधे, हाथ में करताल ले और माँग में सिंदूर भरकर श्रीहरि की आरती के लिए चली । उस प्रेमदीवानी अल्हड़ तपस्विनी ने देखा, सामने प्रभु की त्रिभुवन-मोहिनी मूर्ति मुसकरा रही है, वही मोरमुकुट, वही मुरली और वही पीताम्बर ! मीरा ने आरती की थाली में से रोली उठाई और प्यारे के मस्तक पर लगाने ही जा रही थी कि आँखें प्रेम से मूंद गईं, उनमें प्रेमाश्रु भर आए । वह देखती है कि आँसुओं की गंगा-यमुना में भी प्राणेश्वर की मूर्ति केलि कर रही है । हाथ की रोली हाथ में ही लिये रही—बड़ी विचित्र दशा है । आँखें बन्द करती है तो हृदय के मन्दिर में हृदयघन विराज रहा है । आँखें खोलती है तो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाएँ—सर्वत्र गोपाल-ही-गोपाल है । जगी-ठगी-सी विमूढ़ खड़ी है, कुछ कहते नहीं बनता । कैसे आलिङ्गन करे, कैसे रोनी लगाये !

कपूर का दीपक लेकर वह आरती करने चलती है—कठिनाई से एक बार वह दीपक का थाल घुमा पाती है कि उसकी दृष्टि प्रभु के मोर-मुकुट पर अटक जाती है; दीपक का थाल लिये वह विमूढ़-सी खड़ी रहती है । प्रार्थना का दिव्य मधुर प्रवाह चल रहा है । वाणी गद्गद है, नेत्र अश्रुपूर्ण, हृदय हरि-मय, प्राण-प्राण में, रोम-रोम में श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण । समस्त विश्व केवल कृष्णरूप हो रहा है । कृष्ण के सिवा कुछ है ही नहीं—मीरा स्वयं कृष्ण हो रही है । उसे अपनी आँखों पर सहसा विश्वास नहीं होता । ऐसा भासता है मानो वह स्वप्नलोक में विचर रही है । प्रीतम के मिलन का जो आनन्द है वह शब्दों में लिखा नहीं जा सकता । कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे ?

आधी रात हो रही है और मीरा की आरती का उपक्रम समाप्त नहीं हुआ । कभी वह आँसुओं से प्रीतम के पाँव पखारती है, कभी श्रीगिरधरलाल जी की मूर्ति को छाती से लगाकर उनकी आँखों पर अपने अघरों को रख देती है । कभी उनके चरणों को जोर से अपने हृदय में बाँध लेती है और कभी उपात्म के मीठे ताने सुनाती है—

स्याम म्हांसो एँडो डोले हो ।

औरन सूँ खेले धमार म्हासों मुखहुँ न बोले हो ।

वह प्रेम क्या जो अधाना जाने; वह भक्ति क्या जो समस्त विश्व को अपने प्रभु में लय न कर दे; वह साधना क्या जो संसार के इस सधन पटल को हटाकर अपने प्राणेश्वर को प्रतिपल अखण्ड रूप से न देखे ! वह भक्त क्या, जो सर्वत्र और सर्वदा केवल अपने उपास्य देव को न देखे ? बीच का पर्दा हटा देने पर रह ही क्या जाता है ! संसार कहता है मैं बना रहूँगा; भक्त कहता है, 'मैं तुम्हें मिटाकर ही छोड़ूँगा,' और जीत भी भक्त की ही होती है । कितनी सुन्दरता से भक्त इस संसार को मिटाता है ! वह संसार से द्वन्द नहीं छेड़ता, वह जगत् से लड़ने नहीं जाता । वह तो अपने भीतर प्रवेश कर, अपने अन्तर का पट हटाकर अपने 'प्रीतम' की भाँकी पा लेता है । वह भाँकी उसकी अपनी आँखों में, उसके रोम-रोम में उतर आती है, अब वह इन आँखों से जो कुछ देखता है सब केवल कृष्ण-ही-कृष्ण होता है । यह संसार उसके सम्मुख 'संसार' नहीं रह जाता । यह तो प्रभु का मङ्गलमय परम मनोहर दिव्य विग्रह हो जाता है । जगत् जब सर्वत्र प्रभुमय हो गया, तो इसका अपना आकर्षण, अपना सम्मोहन कैसा ? इसीलिए कहा जाता है कि भक्त के सामने संसार का जादू नहीं चलता ।

आधी रात हो रही है और मीरा पूजा में संलग्न है । बाहर का द्वार बन्द है । दीपक जल रहा है । साँवरे की मूर्ति सामने बिहँस रही है । नव-वधू की भाँति मीरा ने लाल रेशमी साड़ी पहन ली है और माँग में सिंदूर भर लिया है । हाथों में करताल है और पैरों में घुँघरू । प्रेम-विभोर होकर मीरा नाच रही है—

मीरा नाची रे,

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे ।

मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गयी दासी रे ॥

संकीर्तन की इस धुन में समस्त विश्व लय हो रहा है । मीरा के घुँघरू और करताल माधव के नूपुर और मुरली में मिलकर एक अपूर्व मादक संगीत की सृष्टि कर रहे हैं । मीरा नाच रही है और इस पगली भक्तितन के साथ क्यामसुन्दर भी नाच रहे हैं । मीरा की बन्द आँखें हरि के रूप-रस का पान कर रही हैं, हृदय कृष्ण के चरणों में लोट रहा है । प्राणों की भंकार नूपुर की रनभुन में लय हो रही है । रोम-रोम से हरि-हरि !! इस समय संसार नहीं है । इस विराट रास में केवल कृष्ण-ही-कृष्ण हैं । फिर इसमें 'लोग कहें बिगड़ी' की क्या चिंता ? अपने प्राणाधार से क्या लज्जा, क्या दुराव, क्या पर्दा ? उससे क्या छिपाना जो हृदय का अधीश्वर है, प्राणों का पति है, जीवन का सर्वस्व है ? वहाँ तो सर्वशून्य होकर, निरावरण होकर हृदय का पुष्प सर्वतो-भावेन प्रभु के चरणों में समर्पित करना होता है । जो हृदय के भीतर बस रहा

है उससे क्या छिपाया जाए ! श्रीकृष्णार्पण इसी को कहते हैं । ढाई अक्षर प्रेम का यही है ।

प्रेम की चोट बड़ी करारी होती है । वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेम के वाणों से विधा हो । शब्दों में इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे ! आशा और प्रतीक्षा—प्रेमियों के हिस्से ये ही पड़ी हैं । मिलन की आशा और प्राणाधार की प्रतीक्षा ! कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णतया पकड़ में आ गया; परन्तु प्रेमास्पद की लुका-छिपी ! आह ! कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है ! श्यामसुन्दर पर मीरा की लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहि आय ।

रोम-रोम नख-सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय ॥

में ठाड़ी घर आपणे री मोहन निकसे आय ।

बदन चन्द परकासत हेली मन्द-मन्द मुसकाय ॥

मैं अपने आँगन में खड़ी थी । सामने से श्यामसुन्दर निकले । आँखें हठात् उन पर जा पड़ीं, रोम-रोम उन्हें निहारने लगा । वह छवि हृदय को कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है । हृदय में अमृत भरने लगा । उनके मुखचन्द की छुति और मन्द-मन्द मुस्कान हृदय में बरबस घर किये लेती हैं । मीरा अपने भीतर यह दृढ़तापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधरलालजी को पूरी तरह अपना लिया है, उन्हें मोल ले लिया है, वे अब मीरा के हृदय-देश में बन्दी हैं—

माई री में तो गोविन्दो लीनो मोल ।

कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजन्ता डोल ॥

मैंने डंके की चोट गोविन्द को मोल ले लिया । लोग चाहे जो कहें, मैंने तो उन्हें स्वरूप देख लिया, अपना लिया—अपने हृदय के अन्दर कैद कर लिया ! मीरा की आँखों में, हृदय में, प्राण में, रोम-रोम में उस त्रिभुवन सुन्दर की मोहिनी मूर्ति बसी हुई है ।

ऐसे प्रीतम को एक बार पाकर फिर कैसे छोड़ा जाए ? आओ, इन्हें बाँध रखें और नैनों से इनका रूप-रस पीते रहें । जितने क्षण प्राण रहें, श्यामसुन्दर को सामने देखते रहें । इन्हे देखकर ही हम जियें । यदि उन्हें आँखों से ओझल ही होना है, तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें । प्रीतम जिस वेश को धारण करने से मिले, वही करना उचित है । वही वास्तव में बड़भागिन है जिसका हृदय मनमोहन पर निछावर हो चुका है ।

In my eyes, in my heart —
 Thou art O Beloved
 So much Thou art and so always,
 That whatever I see looming in the distance
 I think it is Thou coming to me.

प्रभु को भक्त जितना ही अधिक पकड़ता जाता है, उतनी ही हड़ता उसमें आती जाती है और उतने ही अन्य भाव से वह प्रभु का और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदय की बहुत ऊँची अनन्यशरणागति ही मीरा से कहला रही है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।
 जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई ॥
 तात मात भ्रात बन्धु आपनो न कोई ॥

एक बार भी यदि वह मूर्ति हृदय में उतर आई और हृदय उसके रंग में रंग गया, तो फिर क्या कहना ! आँसुओं के जल से सींची हुई प्रेम की लता जब फैल उठी, तो उसमें फिर आनन्द के फल आने लगे। आनन्द के सिवा रह ही क्या गया ! अब तो एक क्षण के लिए भी 'उसे' छोड़ते नहीं बनता—

पिया म्हारे नेणां आगे रहज्यो जी ।
 नेणां आगे रहज्यो जी, म्हनि भूल मत जाज्यो जी ॥

विरह ही प्रेम का प्राण है। मिलन में प्रेम सो जाता है, विरह में जमा रहता है। विरह में सारी सृष्टि प्रेमपात्र की प्रतिमूर्ति बन जाती है। सब-कुछ उसी 'एक' का सन्देश लाने वाला बन जाता है। मीरा का विरह अपने ढंग का अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभ के लिए हृदय में अनुभव की हुई टीस को प्रेम-लपेटे-अटपटे छन्दों में गाकर अलहड़ प्रेमसाधिका मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हल्का किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेम-विह्वल साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का दुःख नहीं। इसी से पहले कह आया हूँ कि मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीरा का दुःख तो एक अथक कहानी है, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का एक दिव्य एवं मनोहारी संगीत है। शब्दों से उस दुःख को नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

में बिरहिण बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली ।
 बिरहिण बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै ॥
 एक बिरहिण हम ऐसी देखी असुवन की माला पोवै ।

तारा गिण गिण रंण बिहानी सुख की घड़ी कब आवे ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलके बिछुड़ न पावें ॥

अपनी दुर्बलता और प्रेम-पथ की कठिनाइयों की ओर जब ध्यान जाता है, तो कभी-कभी जी घबरा उठता है और निराशा-सी हो जाती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरो तूं मिलूं कैसे जाय ।

ऊँची-नीची राह रपटोली पाँव नहीं ठहराय ।

इस निराशा में तो बस, प्रभु की दया का ही एकमात्र भरोसा है । वही दया कर उबारे तो उबरने की कुछ आशा है, नहीं तो……!

सजन सुध ज्यों जानों त्यों लीजें ।

तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजें ।

दिवस न भूल रैन नहि निदिया यों तन पल-पल छोड़ें ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहीं दीजें ।

इन आँखों को भला कौन मनाए, हृदय को कौन समझाए ? एक क्षण भी श्यामसुन्दर के बिना जीवन धारण किए रहना असम्भव है । ये प्राण तो हाय-हाय कर प्राणरमण के लिए तड़प रहे हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी ।

चित्त चड़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी ।

कवकी ठाड़ी पंथ निहारूं, अपने भवन खड़ी ॥

कैसे प्राण पिया बिन राखूं, जीवन मूल जड़ी ।

मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी ॥

लोग बियड़ी कहें अथवा बनी, जो कुछ भी कहें, इससे मीरा का क्या बनता-बिगड़ता है ? वह तो गिरधर गोपाल के हाथों बेमोल बिक चुकी है । उसी की मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई है । कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसका यौवन, कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है । कृष्ण के सिवा उसके लिए लोक-परलोक कुछ है ही नहीं ।

विरह की इस तीव्र वेदना के साथ मिलन की उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी बनी हुई है । प्रेम में विरह और मिलन लिपटे सोते हैं । रात का समय है । पानी बरस रहा है । मेघों ने श्रीकृष्ण को मीरा के घर में रोक रखा है । वे अब बाहर जाते भी तो कैसे ? मीरा के घर में गिरधरलालजी बन्दी हैं । मीरा अपने 'प्राण' को पाकर परमानन्द में वेसुध है; वह भावावेश में गा उठती है—

नन्दनन्दन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई ।

इत घन लरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई ॥

उमड़धुमड़ चहें दिस से आया पवन चलै पुरवाई ॥
 दादुर मोर पपीहा बोले कोयल सबद सुणाई ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चित लाई ॥

वृन्दावन में बहुत समय तक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्री रणछोड़जी की मूर्ति के सामने कीर्तन किया करती । भक्तों की वही अपार भीड़ और मीरा का वही प्रेमोन्मत्त नृत्य और कीर्तन !! मीरा जब हाथ में करताल लेकर नाचने लगती, उस समय समस्त प्रकृति रास के आनन्द में उन्मत्त होकर थिरकने लगती । मीरा तो कृष्ण की प्राणप्रिया सखी थी, चिरसंगिनी सहेली थी—उसके प्रेमरस का पान करने के लिए वह प्रेम-भिलारी हरि स्वयं आते और मीरा के साथ-साथ समस्त भक्तमण्डली कृष्णमिलन के रस में, प्रभु के मधुर आलिंगन-रस में शराबोर हो जाती ।

आज मीरा का प्रयाण-दिवस है । आज प्रभु की यह प्रेम-पुतली अपनी आनन्द-लीला संवरण कर हरि में एकाकार होने वाली है । आखिर यह द्रव्य, यह अन्तर वह कब तक सहन करती ! आज रणछोड़जी का मन्दिर विशेष रूप से सजाया गया है । एक अपूर्व गम्भीरता का साम्राज्य है । मीरा प्रेमानन्द में बेसुध है । आज उसकी तपस्या पूरी होने वाली है । आज उसने पुनः नववधू का वेश धारण किया है । लाल रेशमी साड़ी पहन ली है । माँग में सिंदूर भर लिया है । पैरों में धुँधरू बाँध लिया है । आज मीरा की जो प्रेम-सेज सजी है, उसकी सुन्दरता का क्या कहना ! आज तो पिया की सेज पर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वर के साथ पौढ़ेगी ! प्रीतम की अटारी पर आज मीरा सुख से सोएगी—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुण सेज बिछी ।
 पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।
 बाजबन्द कडूला सोहै माँग सिंदूर भरी ।
 सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली ।
 सेज सुखमणा मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी ॥

आज रणछोड़जी के मन्दिर की एक अपूर्व छटा है । मीरा सज-धजकर आज महामिलन की तैयारी में आई । आज उसके स्वर में एक दिव्य मादकता है । आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपने को हरि में खोती जाती है । वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है और लोग उसके चरणों को चूमने लगते हैं । सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है । मीरा उठती है और रणछोड़जी की मूर्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने हृदय के अन्दर ले लेती है । मीरा माधव में मिलकर एक हो जाती है । भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टि से

यह सब देखती रह जाती है। मीरा सदा के लिए हमारी स्कूल छाँहों से ओझल होकर हमारे हृदय-देश की अधीश्वरी हो जाती है।

तस्वतः जो राधा है वही मीरा है। वह 'सनातन नारी' का प्रतीक है। इसीलिए अब भी अन्तर्देश की रानी (The queen of the dark chamber) का एक ही स्वर है—

सुरतवर्धनं शोकनाशनम्

स्वस्तिवेणना सुष्टुचुम्बितम् ।

इतरागविस्मरणं नृणां

वितर वीर ! नस्तेऽधरामृतम् ।

उपसंहार

हमने संक्षेप में देखा लिया कि भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रति में सबसे अधिक की परितुष्टि एवं संतृप्ति श्रीकृष्ण में ही विशेष रूप से होती है। मधुर रति, जो सर्वोपरि है, केवल श्रीकृष्ण में ही परितृप्त होती है। अन्य उपास्य देवों में शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य के उपकरण हैं, परन्तु श्रीकृष्ण में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—पाँचों पूर्णतः प्रस्फुटित हुए हैं। कृष्ण में सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, लावण्य एवं मोहकता के सम्पूर्ण उपादान प्रस्तुत हैं। भगवान् राम के लिए हमारे हृदय में दास्य से होता हुआ कठिनाई से सख्य-भाव प्रतिष्ठापित हो सकता है। परन्तु श्रीकृष्ण में हम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य से होते हुए मधुर भाव तक पहुँच जाते हैं और उन्हें अपना प्राण-वल्लभ 'पति' मानकर उनकी अनन्त भुवन-मोहिनी छवि पर पत्नी भाव से अपने को समर्पित कर सकते हैं। इसके लिए श्रीकृष्ण-भक्ति में क्षेत्र खुला हुआ है।

हम पहले ही सनत्कुमार तंत्र का वह दलोक उद्धृत कर चुके हैं जिसमें साधक सिद्धदेह या भावदेह से गोपी-भाव या ब्रज भाव में अपने को परम रूप-वती, यौवनसम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में भावना करता है। इस भावदेह में तनिक भी संभोग की वासना नहीं है। इसमें केवल सेवावासना है। जो शृङ्गार लोक में निन्दित माना जाता है वहीं भगवान् के साथ सम्बन्धित होने से परम दिव्य हो जाता है—वह स्वयं भगवान् का स्वरूप है, स्वयं आत्मा का धर्म है। वह इन्द्रियातीत है; धर्म-अर्थ-काम मोक्ष—इस चतुर्वर्ग से परे है, अतएव पंचम पुरुषार्थ है।

वृहदारण्यक उपनिषद् का 'स एकाकी न रमते, सद्वितीयमच्छत्...' यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्ते स इमवात्मानं द्विधापातयत्' से स्पष्ट है कि प्रेम की प्यास उषर ही थी और उसकी परितृप्ति के लिए, उसी प्रणय-लीला के लिए यह सारा पसारा हुआ। इसीलिए मैं ऊपर कह आया हूँ कि मधुर रति ही आत्मा का निज धर्म है, सहज स्थिति है। क्षेमराज ने एक बहुत प्राचीन उद्धरण इस सम्बन्ध का दिया है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।

भिन्नयोरिव दम्पत्योर्जावात्मपरमात्मनः ।

इस दाम्पत्य रति में भी स्वकीया की अपेक्षा परकीया का भाव श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि स्वकीया में तो मिलन में कोई कठिनाई या विघ्नबाधा नहीं होती। प्रेम बाधा पाकर ही खिलता है और तभी इसमें 'दुस्त्यज स्वजन-आर्यपथ' का परित्याग कर श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वात्म समर्पण का सौन्दर्य निखर आता है। स्मरण रहे यह प्रेम 'सर्वथा कामगंधहीन' होता है, काम की गन्ध भी इसमें नहीं होती।

वैष्णव-धर्म के कान्त भाव से भक्ति करनेवालों का मुख्य रूप से यही सिद्धान्त है। पूर्ण आनन्द-दायक आकर्षण सत्तायुक्त चिद्धनस्वरूप परम तत्त्व का नाम श्रीकृष्ण है। इस परम तत्त्व की ओर आकृष्ट चित्कण-स्वरूप जीव समुदाय की जो आकर्षण-क्रिया है उसीका नाम भक्ति है।^१ इसी भक्ति की परिभाषा श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-रसामृत सिंधु' में इस प्रकार दी है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् एक श्यामसुन्दर के अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एवं पार-लौकिक विषयों की अभिलाषा से शून्य होकर, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत रहकर श्रीकृष्ण के अनुकूल उसकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है। 'नारद-सूत्र' में भी इसी परम भक्ति का स्वरूप गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाली, अविच्छिन्न अत्यन्त सूक्ष्म, और अनुभवरूप बतलाया गया है। परम भक्ति की सीमा का छोर 'प्रेम' में विलय हो जाता है। सब-कुछ श्रीकृष्णमय, सर्व खल्विदं श्रीकृष्णः। उस स्थिति को प्राप्त कर भक्त की संज्ञा प्रेमी की हो जाती है और भक्ति की परिणति प्रेम में हो जाती है। उस समय प्रेमी सब-कुछ में श्रीकृष्ण को ही सुनता है, श्रीकृष्ण ही बोलता है और श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करता है। कृष्ण के अंग-अंग से छलकते हुए मधु को पीकर वह उन्मत्त हो उठता है। इस रस में रूप-माधुर्य के आधारभूत श्रीकृष्ण ही एकमात्र विषया-लम्बन हैं और ब्रजांगनाएँ आश्रयालम्बन हैं। इसमें वंशीध्वनि, वसन्त ऋतु, कोकिला-स्वर, नव जलधर और केकीकंठ इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभव हैं।

रसनिष्ठ साधक अपने ही अंदर सारी लीला देखते हैं; ब्रजमण्डल, वंशी-

१. कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानां इति यावत् स कृष्णः। गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षण वर्द्धमानं अविच्छिन्नं सूक्ष्म-तरं अनुभवरूपं। तत्प्राप्य तदेव शृणोति तदेव भावयति, तदेव चिन्तयति'—नारद-सूत्र।

बट, यमुनापुलिन, राधारानी, श्रीकृष्ण आदि अपने ही अन्दर वे देखते हैं—

हों ही ब्रज बृन्दावन मोही में बसत सदा
जमुना तरंग श्याम रंग अबलीन की ।
चहुँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजन अलीन की ॥
बंशोवट-तट नटनागर नटत मो में
रास के विलास की मधुर धुनि बोन की ।
भरि रही मनक बनक ताल तानन की ॥
तनक-तनक ता में खनक चुरीन की ॥

कान्त रति में पत्नी पति की सहचरी भी है, अनुचरी भी । सेज पर पति के परम प्रेम की रसास्वादिनी भी है, चरण चापनेवाली दासी भी । वह पति के अघरामृत की भी अधिकारिणी है और चरणामृत की भी । उसका समर्पण सर्वांगीण है । वह अपने को अपना सब-कुछ देकर परम प्रियतम को पूरा-पूरा पा लेती है— 'ये यथा मांप्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्हम् ।' उसमें वह किसी प्रकार के प्रयास का अनुभव नहीं करती । समुद्र की अथाह जल-राशि में जाकर, जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को लय कर देती हैं, अपने प्रवाह एवं लहर को अपने प्राणवल्लभ की अनन्त जल-राशि में डुबो देती हैं, उसी प्रकार पत्नी भी पति की प्रीति में अपनी प्रीति को लय कर देती है । पत्नी के सभी भावों की पूर्ण परितृप्ति पति में हो जाती है । सम्मान, अति आदर, प्रीति, विरह, तदीयता आदि के भाव पूर्णतः परितुष्ट होते हैं जिसे शांडिल्य ने अपने सूत्रों में विशद विवेचन के साथ प्रकट किया है^१ ।

इसी परम-भावनापूर्ण भक्ति को ही 'सा त्वस्मिन् (कस्मै) परम प्रेम रूपा' कहा है । शांडिल्य ने स्पष्टतः कहा है कि ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही 'प्रेम' है । इस बात को प्रकट करने की आवश्यकता न रह गई कि इस परम प्रेम-स्वरूपा भक्ति में कैवल्य मोक्ष आदि की ओर कभी ध्यान भी नहीं जाता । वह 'रात-दिन चोखे-चोखे, बसिया समाई देखें' अपने अन्तस् में 'उसके' पावन, मधुर, शीतल, सुखद विद्युत्-स्पर्श का अनुभव करता है । इस आत्म-समर्पण के आनन्द के सम्मुख मोक्ष का आकर्षण कैसा ?—

'यदि भवति म्कुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा

विलुठति चरणाग्रे मोक्ष-साम्राज्य लक्ष्मीः ।'

१. सम्मान, बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिमाश्याति तदर्थं प्राण स्थान तदीयता, सर्वत्र तद्भावाप्रातिकूल्यादीनि न स्मरणेभ्योः बाहुल्यात् । सा परानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्य सूत्र ।

परन्तु शाश्वत प्रेम की यह अनुभूति विरह में उद्दीप्त एवं जागृत रहती है। मिलन इसके आनन्द को हलका और सतही कर देता है। विरह के भीने पट से छन-छनकर आती हुई मिलन की सुपमा को हमारा हृदय प्रत्यक्ष अनुभव करता है। महामिलन की उत्सुकता और विरह की वेदना दोनों हमारे हृदय में लिपटे सोते हैं—बड़ी विचित्र स्थिति है—

बाहिरे विष ज्वाला हय, भितरे आनन्दमय

कृष्ण-प्रेमार अद्भुत चरितामृत ।

एर प्रेमार आस्वादन तप्त इक्षुवर्षण

मुख ज्वले ना पाय त्यजन ॥

एई प्रेमार मने, तार विक्रम सेई जाने

विषामृते एकत्र मिलन ।

बाहर तो विष की ज्वाला है और भीतर आनन्दमय है। यह आस्वादन तो गरम गन्ना चूसने की भाँति है। मुख जलता है परन्तु छोड़ने का जी नहीं चाहता। जिसके हृदय में यह प्रेम होता है वही उसका महत्त्व जानता है। इसमें विष और अमृत का अपूर्व मिलन है।

जायसी ने भी कहा है कि विरह की आग में जलते-तपते रहते भी बाहर आने को जी नहीं चाहता—

लागिऊ जरै, जरै जस भाह,

फिरि फिरि भूँजेसि तजिऊँ न बाह ।

वह मुझे विरह की आग में जला रहा है, फिर भी यह यंत्रणा इतनी सुखद है कि बार-बार इसी में हृदय लौट पड़ता है, विमुक्त होना नहीं चाहता। प्रेम की यह चिरजाग्रत ज्वाला जो विरह की धुँधुआती अग्नि से प्रकट होकर गगनचुम्बी लपटों में बल उठती है, भक्तों के प्रेमदीवाने हृदय का मुख्य आधार एवं अवलम्ब है। यह न जाग्रति ही है न सुषुप्ति ही, न सुख ही है न दुःख ही। अपनी एक निराली अवस्था है जिसका कोई नाम नहीं। स्वप्न में बस एक बार मीरा ने अपने अधरों पर 'उसके' चुम्बन का स्पर्श अनुभव किया था, फिर जब वह उस दिव्य स्पर्श-सुख से जगी तो 'वह' छलिया गायब।

सोवत ही पलका में मैं तो पलक लगी पल में पीव आए ।

मैं जो उठी प्रभु आदर दैण कूँ जाग परी पिव डूँड न पाए ।

और सखी पिव सोइ गमाये, मैं जूँ सखी पिव जागि गमाए ।

'प्रसाद' जी के शब्दों में मीरा की बस एक ही 'शिकायत' है—

दुख क्या था तुम को मेरा जो सुख लेकर क्यों भागे ।

सोते में चुंबन लेकर जब रोम तनिक-सा जागे ।'

प्रेमी अभी अपने प्राणवल्लभ से मिलने ही वाला था, स्वप्न में 'उस' के चुम्बन को प्रेमी ने अपने अधरों पर अनुभव भी कर लिया था, झालें खोलकर, एक बार, बस एक बार अपनी भुजलताओं में बाँधने ही चला था कि वह 'छलिया' खिसक गया और उस अलहड़ पागल प्रणय को जीवनपर्यन्त, अनन्त काल के लिए विरह के हाथ सौंपकर 'अदृश्य' में अन्तर्धान हो गया। यह अनन्त विरह ही, उस 'न मिलनेवाले' से मिलने की उत्सुकता ही, जीवन का यह सम्पूर्ण अनुराग ही, जो एकोन्मुख होकर प्राण-वल्लभ के लिए तड़प रहा है, घुट रहा है, मीरा के दर्दभरे आर्द्र गीतों का प्राण है। विरह की एक-एक सिहरन में, एक-एक आह में, जीवन की अतृप्त आकांक्षा, प्राणों की अघूरी लालसा अपने समर्पण की अन्तिम घड़ियों में निर्वाण पाती हुई भी एक विचित्र आभा, एक अपूर्व ज्योति का आलोक इस वसुन्धरा में छिटका जाती है। दीपक की लौ पर शलभ के जलते समय एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है। बंशी की तान पर मुग्ध मृग अपनी मृत्यु में भी अमरत्व प्राप्त कर लेता है। कमल में बंद भ्रमर के प्राण जब घुटने लगते हैं उस समय भी उसका प्रणय-संगीत छिड़ा रहता है, आनन्द-प्रवाह चलता रहता है। मृत्यु प्रेम के झोत को बाँध नहीं सकती, रोक नहीं सकती। प्रेम परमात्मा की भाँति अमर है।

काव्य और प्रेम दोनों नारी-हृदय की सम्पत्ति हैं। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुतः नारी का हृदय ही है। प्रेम एवं काव्य-संवेदन अनुभूति के अंगज हैं। नारी-हृदय संवेदनशील, भाव-प्रवण होता है। नारी पुरुष की अपेक्षा, स्वभावतः, जन्मतः विशेष कोमल-हृदय होती है। वह प्रेम की वेदना को पूरी तरह अनुभव कर सकती है। वह प्रेम में तिल-तिलकर जलना जानती है। पुरुष का चिन्तनशील ज्ञानाश्रित जीवन प्रेम एवं काव्य की तह में पूर्णतः प्रवेश नहीं कर पाता। पुरुष विजय का भूखा होता है, नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है, स्त्री में बलिदान। नारी-हृदय पुरुष से अधिक सुसंस्कृत, सम्य, कोमल, भाव-प्रवण, संवेदनशील एवं अनुभूतिशील होता है। इसी हेतु व्यक्ति का 'स्त्रीत्व' ही कविता और प्रेम का अधिकारी है। प्रत्येक पुरुष में स्त्री और प्रत्येक स्त्री में पुरुष रहता है। पुरुष का हृदय जब आर्द्र और भावुक होता है उस समय वह प्रेम एवं कविता का आस्वादन करता है और उस समय वह 'स्त्री' रहता है।

इस प्रकार मीरा का हृदय इस परम प्रेम की आनन्दानुभूति के लिए सर्वथा उपयुक्त था। वह नारी थी ही, साथ ही प्रेम की आराधना करनेवाली

भाव-प्रवण सनातन नारी; वह नारी जो युग-युग से, जन्म-जन्मान्तर से परम पुरुष के प्रेमालिङ्गन का सुख पा 'उसे' सर्वथा अर्पनाने के लिए व्याकुल जलती चली आ रही है। वह कभी भी पूरी तरह 'उसे' पा सकेगी, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यहाँ तो खोजना और खोजते ही जाना, खोज में ही खो जाना, इस पथ के पथिकों का एकमात्र पायेय है। संसार के सभी बन्धन स्वयं ही कट जाते हैं। वस्तुतः यह तो प्रवृत्ति का मार्ग है, सचमुच 'खाला का घर' है। इस प्रवृत्ति-पथ में 'सब जग सियाराममय' हो जाता है। सारे नाते 'सर्वभूतमय हरि' से ओतप्रोत हो जाते हैं। सब-कुछ 'प्रीतम' का संदेश-वाहक, सभी-कुछ 'पिय' का संकेत लिये हुए। वह पहचानी हुई 'पग-ध्वनि' बराबर सुनाई पड़ती है और साधक कह देता है—'चाहे तुम न मिलो पर तेरी आहट मिलती रहे सदा'। यहाँ सभी मनोराग श्रीकृष्णोन्मुख हो जाते हैं। इसीलिए यहाँ असाधन ही परम साधन है।

हाँ, तो मीरा के लिए, केवल मीरा के लिए ही इस 'परम भाव' का मार्ग राजपथ-सा खुला रहा; न कोई बाधा थी न व्यवधान। मीरा ने सच्चे हृदय से 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' कहा। 'तुम बिन मेरो और न कोई' कहकर मीरा अपने गिरधर गोपाल के चरणों में गिरी और उसके ही हृदय ने 'पिया बिना रह्योई न जाय' की तीव्र वेदना को पूरी तरह अनुभव किया। हृदय की इसी मूल प्रेरणा से ही 'साजि सिगार बाधि पग धुंधरू लोक-लाज तजि नाची'। फिर भी इस अल्हड़ प्रेम-तपस्विनी का रोना 'प्रिय बिना सूनो छै जी म्हारो देश' आजीवन बना ही रहा। इसीको 'मानव के हृदय पर परमात्मा का चुम्बन 'Divine kiss on human breast' कहते हैं। मीरा के गीत गीत के लिए नहीं हैं। वह गाती है क्योंकि गाये बिना उसे रहा नहीं जाता। इन गीतों में वेदना का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। इन गीतों में बहते हुए प्रेम के स्वच्छ सोते में एक बार अवगाहन कर लेने वाले प्रेम के अमृत का पान कर कुछ पागल-से हो जाते हैं। उस प्रेम के मधुर आकर्षण के सम्मुख कुल-कानि या लोक-लाज की क्या हस्ती ?

मीरा की तुलना किससे की जाए ? जायसी कथाच्छलेन, अपने रहस्योन्मुख प्रेम पर कहानी की एक भीनी चादर डालकर अपने 'प्रेम की पीर' को प्रकट कर रहे हैं। सूर के हाथ में गोपियाँ हैं। भवभूति के हाथ में सीता है, कालिदास के हाथ में शकुन्तला है, भग्नमनोरथा सती हैं। मीरा का किसी कवि से मिलान करना मीरा के परम प्रेम का अनादर करना है। मीरा कवि के रूप में, गायक के रूप में हमारे सम्मुख नहीं आती, श्रीकृष्ण की परम साध्वी अन्तरंगिनी सखी के रूप में, प्राणप्रिया हृदयेश्वरी के रूप में आती है।

मीरा की तुलना केवल राधा से ही की जा सकती है, केवल राधा से।

परन्तु राधा ने तो रास का रस पाया था। उसे तो श्यामसुन्दर का आलिंगन एवं परिभ्रमण का अमृत मिला था। राधा को तो नटनागर के चले जाने पर उद्वेग के भी दर्शन हुए। परन्तु मीरा ? इस परम तपस्विनी अल्हड़ साधिका के अधरों पर स्वप्न में उस 'निठुर' ने अपने एक चुम्बन की मधुघार ढाली थी। चुम्बन की उस अमर सिहरन और कसकीले दाग को ही मीरा ने परम विभूति मानकर, उसको पावन 'प्रसाद' मानकर अपने जीवन को प्रेम के पारावार में घुला दिया, लय कर दिया। स्वप्न के बाद जो जागृति आई उसमें अवधिहीन, अनन्त विरह की दारुण अथच मधुर ज्वाला हृदय में आमरण घघकती रही। उसमें मनुष्य की निर्वासित आत्मा का अपने प्रभु से मिलने के लिए आकुल उच्छ्वास एवं अनन्त विरह का दिव्य संकेत है।

ग्रीस देश में ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में सैफो (Sapho) नाम की ऐसी ही प्रेम-पुजारिन हुई। इसी प्रकार सेन्ट टेरेसा (St. Teresa) प्रसिद्ध ईसाई भक्तितन हो गई है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में गोदा भी प्रेम की एक मधुमाती गायिका हो गई है। मीरा, गोदा, टेरेसा, सैफो और रविया प्रेम-साधना के चिर-जागृत प्रदीप हैं, जिनकी प्रणय-ज्योति से भक्ति का पथ अब भी जगमगा रहा है।^१

भारतवर्ष का अणु-अणु राधा और मीरा की प्रीति से रससिक्त है। अब भी भक्ति और प्रेम में अनन्यता तथा सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण की जहाँ चर्चा होती है वहाँ बड़े ही उल्लास से मीरा का नाम लिया जाता है। मीरा प्रेमियों में शिरोमणि है। जीव-जीव के हृदय-वृन्दावन में पैरों में धुंधरू बांधे, हाथ में करताल लिये प्रेम-विह्वल नारी अनादि-काल से व्याकुल गाती आ रही है—

हे री ! मैं तो प्रेम-दिवानी मोरा दरद न जाने कोय ।

सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलणा होय ?

प्रेम-साधना में शायद 'प्राप्ति' का कोई अर्थ नहीं। विरह के आनन्द के सम्मुख प्राप्ति में कौन सा आनन्द ? पाकर हम क्या करेंगे ? कहा रखेंगे ? हमारे भीतर मिलन की उत्कण्ठा बनी रहे, प्रेम की पीर बनी रहे, हमारी खोज चलती चले—इसके आगे फिर और चाहिये क्या ?

The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts, and to be united with Him in His consoling and all absorbing embrace.

बनी रहे हिय मधुर वेदना
 बहते रहें अश्रु-निर्भर ।
 न्याकुल प्राण सदा तेरे—
 दर्शन हित बने रहें नटवर !
 सदा खोजता जाऊँ मैं
 पर तू अनन्त में मिलता जा ।
 आतुर श्रौंखों से ओझल हो
 भिलभिल सा तू हिलता जा ।

• • •
 यों छक कर इस खोज ढूँढ़ से
 करने लगे कूच जब प्राण ।
 बिना प्रयास भाव - वैभव से
 भूँज उठे हिय - तन्त्रो - तान !
 रैमभिम बजती पाँव पैजनी
 मुरली मधुर बजाते नाथ ।
 आ हिय श्रौंखन लगे नाचने
 हम भी नचै तुम्हारे साथ ॥

विनय

[१]

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ॥
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बन्धु अपना नहिं कोई ।
छोड़ बई कुल की कानि क्या करिहै कोई ॥
चुनरी के किये टूक ओढ़ लीन सोई ।
मोती भूंगे उतार बनमाला पोई ॥
अंसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई ।
अब तो बेल फल गई आनन्द फल होई ॥
दूध की मथनिया, बड़े प्रेम से बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ॥
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई ।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोहीं ॥

[२]

मेरे तो एक रामनाम दूसरो न कोई ।
दूसरो न कोई साधो सकल लोक जोई ॥
माई छोड़्या बन्धु छोड़्या छोड़्या सगा सोई ।
साध संग बँठ - बँठ लोकलाज खोई ॥

[१] इस पद में 'क्या करिहै कोई' तथा अगले पद में 'होनी हो सो होई' में मीरा ने कितनी निर्भीकता के साथ इस जगत् को ललकारा है। आंसुओं के जल से सींची हुई प्रेम-बेलि लहलहा उठी और उसकी सुगन्ध चारों ओर फैल गई है, अब इसे छिपाया भी जाए तो कैसे? इन पदों में मीरा की अपूर्व निष्ठा एवं एकान्त आश्रय स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

This love has affinity to honey which is sweet by itself makes other things sweet and flows of its own accord.

[२] प्रिय के नाम का आश्रय प्रेम-साधना का एक मुख्य आधार है। हाँ, इस नाम में कोई तर्क या मुक्तिलाभ आदि हेतु नहीं है। यह प्रिय का प्रेममय

भगत देख राजी हुइ जगत देख रोई ।
 भगत सदा सीस पर राम हृदय होई ॥
 रधि मधि घृत काढ़ि लियो डार बई छोई ।
 राणा विष का प्याला भेज्यो पीय मगन होई ॥
 अब तो बात फल पड़ी जाणे सब कोई ।
 भीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई ॥

[३]

भीरा को प्रभु सांची दासी बनाओ ।
 झूठे धन्वों से मेरा फन्दा छुड़ाओ ॥
 लूटे ही लेत विवेक का डेरा ।
 बुधि बल यदपि कळ बहुतेरा ।
 हाय - हाय कछु नाहि बस मेरा ।
 भरत हूँ दिवस प्रभु धाओ सबेरा ॥
 धर्म उपदेश नितप्रति सुनती हूँ ।
 मन कुचाल से भी डरती हूँ ॥
 सदा साधु - सेवा करती हूँ ।
 सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ ॥
 भक्ति मारग दासी को दिखलाओ ।
 भीरा को प्रभु सांची दासी बनाओ ॥

स्मरण है, इसमें किसी प्रकार का 'हठयोग' नहीं है, यहाँ तो सम्बन्ध-स्थापना के बाद प्रिय के रूप का ध्यान और उनके मधुर नाम की स्फूर्ति हृदय के अन्तःपुर में स्वतः हुआ करती है ।

[३] इस पद में खड़ी बोली का एक बहुत ही सुधरा रूप आता है । साधक जब प्रभु के पथ में चलता है तो उसे नाना प्रकार के विघ्नों और बटमारों का सामना करना पड़ता है और कई बार वह अब हारा तब हारा-सा हो जाता है । जगत् के प्रलोभन बहुत दूर तक चलते हैं और अपनी मोहिनी माया से साधक को पथभ्रष्ट कर देना चाहते हैं । ऐसी ही लाचारी के क्षण में साधक भगवान् को पुकार उठता है और उसे पुकारते ही भगवदीय शक्ति उसकी सहायता में लग जाती है ।

There must be a total and sincere surrender, there must be an exclusive self-opening to the Divine power, there must be a constant integral choice of the Truth that is descending & constant and integral rejection of the falsehood of the mental, vital and physical powers and appearances that still rule the earth-nature.

[४]

मन रे परसि हरि के चरण ॥
 सुभग शीतल कमल कोमल त्रिविध-ज्वाला हरण ।
 जिण चरण प्रह्लाद परसे इन्द्र पदवी धरण ॥
 जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हे, राखि अपनी सरण ।
 जिण चरण ब्रह्मांड भेंद्यों नख सिखाँ सीरी धरण ॥
 जिण चरण प्रभु परसि लीने तरी गौतम धरण ।
 जिण चरण कालीनाग नाथ्यो गोपीलीला करण ॥
 जिण चरण गोबर्द्धन धार्यो गर्व मधवा हरण ।
 वासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण ॥

[५]

सुण लीजो बिनती मीरी में सरण गही प्रभु तोरी ॥
 तुम (तो) पतित अनेक उधारे भवसागर से तारे ।
 मैं सबका तो नाम न जानूँ कोई कोई नाम उचारे ॥
 अंबरीष सुदामा नामा तुम पहुँचाये निज धामा ।

[4] "And God's love no virtue is uplifting no voice is degrading. The generic impulses and desire bind man outwardly in social life and relationships but it is these which at the same time quicken contemplation. Hence the passionate soul alone can be a true mystic and for him love, truth and beauty reveal themselves in man's daily relationships and concrete experiences with fellow-men.

—*Theory and Art of Mysticism*, 238

भक्त पहले भगवान् के चरणामृत का ही पान करता है और फिर अघरा-मृत का अधिकारी होता है। भक्त की दृष्टि पहले भगवान् के चरणों पर ही जाती है और वह वहाँ अपने मन-प्राण का शीतल मधुर आश्रय पाकर कृतकृत्य हो जाता है। मीरा के मन में श्रीष्कृण की मोहिनी मूर्ति उमंग आई है, मीरा ध्यान-नेत्रों से एकटक उन सुभग, शीतल, कमल-कोमल तथा त्रिविध तापों को मिटा देनेवाले प्यारे-प्यारे चरणों की शीतल-स्निग्ध आभा को देख रही है और मन से कह रही है कि रे मन ! हरि के इन चरणों का स्पर्श कर। सहज ही मीरा को गौतम-पत्नी अहल्या का स्मरण हो आता है—अभिशाप की ज्वाला में जलती हुई शिला प्रभु के चरणों का स्पर्श पाकर जी उठी। भगवान् के चरणों की महिमा इस पद में एक ही स्थान पर बड़े ही सजीले शब्दों में गायी गई है।

ध्रुव जी पाँच बरस को बालक तुम दरस दिये घनस्यामा ॥
 घना भगत का छत जमाया कबिरा का बैल चराया ।
 शबरी का झूठा फल खाया तुम काज किये मनभाया ॥
 सवना श्री सेना नाई की तुम कीन्हा अपनाई ।
 करमा कौ खिचड़ी खाई तुम गणिका पार लगाई ॥
 भीरा प्रभु तुमरे रंग राती या जानत सब दुनियाई ॥

[६]

मैं तो थारी सरण परी रे रामा ज्युं तारे त्यूं तार ।
 अइसठ तीरथ भ्रम भ्रम आया मन नहिं मानी हार ॥
 या जग में कोई नहिं अपना सुणियो श्रवण मुरार ।
 भीरा दासी राम भरोसे जन का फंदा निवार ।

[७]

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ॥
 मोहनि भूरति सावरी सूरति नैणा बने बिताल ।
 अचर मुषा रस मुरली राजति उर बैजंती माल ॥
 छुद्र घंटिका कटितट सोमित नूपुर सबव रसाल ।
 भीरा प्रभु संतन मुखदाई भक्त बड़ल गोपाल ॥

[८]

ये तो पलक उघाड़ो दीनानाथ
 मैं हाजिर नाजिर कदकी खड़ी ॥
 साजनियों दुसमण होय बैठपा
 सबने लगूँ कड़ी ।

[7] "Finding her delight and Strength in Him the soul gains the vigour and confidence which enable her easily to abandon all other affections. It was necessary in her struggle with the attractive force of her sensual desires, not only to have this love for the Bridegroom, but also to be filled with a burning fervour full of anguish".

—*St. John of the Cross.*

[8] "When God loves a man, He endows him with a bounty like that of the sea, a sympathy like that of the sun and a humility like that of the earth. No suffering can be too great, no devotion too high for the piercing insight and burning faith of a true love."

—*Bayazid Bastami.*

तुम बिन साजन कोई नहीं है ।
 डिगी नाव मेरी समद अड़ी ॥
 दिन नहीं चैन रैण नहीं निदरा
 सूखूँ खड़ी खड़ी ।
 बाण बिरह का लग्या हिये में
 भूखूँ न एक घड़ी ॥
 पत्थर की तो अहिल्या तारी
 बन के बीच पड़ी ।
 कहा बोन भीरा में कहिए
 सौ पर एक घड़ी ॥

[६]

हरि तुम हरो जन की भीर ॥
 द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥
 भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप सरीर ।
 हरणाकुस मारि लीन्हौ धर्यो नाहि न धीर ।
 बूड़तो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर ॥
 दासि मीरा लाल गिरधर चरण कँवल पै सीर ।^१

[१०]

अब मैं सरण तिहारी जी मोहि राखी कृपानिधान ।
 अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान ॥

[9] When our lamp is lit we find the house of our being has many chambers and there are corridors there leading into the hearts of others and windows which open into eternity and we can hardly tell where our own being ends and another begins or if there is any end to our being. If we brood with love upon this myriad unity to let our mind pervade the whole wide world with heart of love we come more and more to permeate or to be pervaded by lives of others.

—George Russel

१. पाठान्तर 'दुख जहाँ तहें पीर'—अर्थात् जब-जब भक्तों पर भीर पड़ती है तो भगवान् का हृदय पीड़ा से विकल हो जाता है और भक्त का दुःख भगवान् से देखा नहीं जाता। सूरदास का 'हौं भक्तन के भक्त हमारे' पद मिलाइये ।

जल डूबत गजराज उबारे गणिका चढ़ी विमान ।
 और अघम तारे बहुतेरे, भालत सन्त मुजान ॥
 कुबजा नीच भीलगी तारी, जाण सकल जहान ॥
 कहें लग कहें गिणत नहि आवैं थकि रहे धेद पुरान ।
 मीरा दासी सरण तिहारी, मुनिये दोनों कान ॥

[११]

प्रभु जी में अरज करूं घूं मेरो बेड़ो लगाव्यो पार ॥
 इण भव में मैं दुख बहु पायो संसा-सोग-निवार ।
 अष्ट करम की तलब लगी है दूर करो दुख भार ॥
 यों संसार सब बह्यो जात है लख चौरासी धार ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवागमन निवार ॥

[१२]

हरि बिन कूण गति मेरी ॥
 तुम मेरे प्रतिकूल कहिये मैं रावरी घेरी ।
 आदि अन्त निज नाँव तेरो हीया में फेरी ॥
 बेरि-बेरि पुकारि कहूं प्रभु आरति है तेरी ।
 यों संसार विकार-सागर बीच में घेरी ॥
 नाव फाटी प्रभु पालि बांधो बूड़त है बेरी ।
 विरहणि पिव की बाट जोवै राखि ल्यौ नेरी ।
 वासि मीरा राम रटन है मैं सरण हूँ तेरी ॥

[१३]

हमने सुणी छै हरि अघम उधारण ।
 अघम उधारण सब जग तारण, हमने सुणी छै० ॥

[१२] राखि ल्यौ नेरी—भगवान् की सन्निधि ही भक्त का परम आनन्द है ।

[१३] इस पद की अन्तिम दो पंक्तियों में 'बन्दी' शब्द का अर्थ बन्दिनी भी हो सकता है और बन्दा (भक्त, निजजन) का स्त्री-वाचक भी । मीरा अपने को प्रभु की 'बन्दिनी' मानती है, फिर भी दरसन में अबेर होते देख उसे सहसा गज, द्रौपदी, प्रह्लाद, अहल्या और सुदामा का स्मरण हो आता है जिनमें प्रभु की कृपा साक्षात् प्रकट हुई थी, फिर इनका नाम लेने के बाद मीरा अपने आप पूछती है—

मीरा के प्रभु मो बन्दी पर
 एती अबेर भई केहि कारण ?

गज की अरजि गरजि उठि धाम्नी ।
 संकट पड़्यो तब कष्ट निवारण ॥
 द्रुपदसुता को चीर बढ़ायो ।
 दूसासन को मान भव नारण ।
 प्रह्लाद की प्रतग्या राखी ,
 हरणाकस नख उन्न बिदारण ॥
 रिखि पतनी पर किरपा किन्हीं,
 बिप्र सुदामा की विपति बिदारण ।
 मीरा के प्रभु मो बंदी परि
 एती अबेरि भई किण कारण ॥

[१४]

हरि मोरे जीवन प्राण अघार ।
 और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनों लोक मँझार ॥
 आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरखी सब संसार ।
 मीरा कहै मैं दासि रावरी धोज्यौ मती बिसार ॥

[१५]

रावलो विड़व मोहिं रूठा लागे, पीड़ित पराये प्राण ।
 सगो स्नेही मेरी और न कोई, बेरी सकल जहान ॥
 प्राह गह्यो गजराज उबारयो बूड़ न दियो छे जान ।
 मीरा दासी अरज करत है नहिं जी सहारो आन ॥

[१६]

हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को ।
 मोर मुकुट माथे तिलक बिराजै कुण्डल अलकाकारी को ।
 अघर मधुर पर बंसी बजावै रीझ रिझावै राधा प्यारी को ।
 यह छवि देख मगन भई मीरा मोहन गिरवरधारी को ।

[14] Prayer in this wide sense is the very soul and essence of religion for religion is an intercourse, a relation entered into by a soul in distress with' the mysterious power which it feels itself to depend. This intercourse with God is realized by prayer. Prayer is religion in act; that is, prayer is real religion. Wherever this prayer rises and stirs the soul we have living religion.

The Varieties of Religion Experiences, 464.

[१६] 'रीझ रिझावै राधा प्यारी को'—आज सागर स्वयं नदी को रिझाने के लिए उमड़ पड़ा है। श्रीकृष्ण आज राधा के रूप पर मुग्ध होकर

[१७]

तनक हरि चितवौ हमरी ओर ।
हम चितवत तू न चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर ॥
मेरे आसा चितवनि तुनरो और न डूजी दोर ।
तुमसे हम कूँ एक हो जी हमसी लाल करोर ।
ऊनी ठाड़ी अरज करत हूँ अरज करत मयो भोर ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी देख्युँ प्राण अकोर ॥

[१८]

राम मोरी बाँहड़ली जी गहो ।
या भव सागर भँझधार में यें ही निभावण हो ।

उन्हें रिझा रहे हैं, मना रहे हैं । यह मनुहार-लीला भक्तों का प्राण है जिनमें स्वयं भगवान् अपनी सारी भगवत्ता छोड़कर भक्त के चरण में लौटते हैं और मनाते हैं । मालूम होता है, वृन्दावन आ जाने के बाद मीरा अपने को राधारानी से अलग न पा सकी, राधा-रूप हो गई, यह देख रही है कि प्यारे ने जो आज इतना सुन्दर शृंगार किया है वह केवल मुझे रिझाने के लिए ही, बलात् अपने प्यार का मधु पिलाने के लिए ही ।

[17] She feels an extraordinary loneliness, finds no among companionship in any earthly creature; nor could she I believe those who dwell in heaven, since they are not her Beloved. Meanwhile all company is torture to her. She is like a person suspended in mid-air who can neither touch the earth, nor mount to heaven. She burns with a consuming thirst and cannot reach the water. And this is a thirst which cannot be borne, one which nothing will quench nor would she have it quenched with any other water than the one that is denied her.

—*St. Teresa*

[१८] सभी अवगुण गुण नहि कोई ।

क्यों करि कंत मिलावा होई ॥

ना मैं रूप न बंके नैणा ।

ना कुछ डंग न मीठे वैणा ॥

सहज सिगार कामिनि करि आवै ।

ता सुहागिनि जा कंत भावै ॥

—नानक

मन परतीत न प्रेम रस ना इस तन में डंग ।

क्या जानूँ उस पीवसूँ कैसे रहसी रंग ॥

—कबीर

म्हां में औगण घणा छे ही प्रभुजी बें ही सहो तो सहो ।
भीरा के प्रभु हरि अविनासी लाज विरद की वहो ॥

[१६]

तुम सुणो दयाल म्हांरी अरजी ।
भवसागर में बही जात हूँ काढ़ो तो थारी मरजी ।
इण संसार सगो नहि कोई साँचा सगा रघुबर जी ॥
मात पिता और फुटुम कबीलो सब मतलब के भरजी ।
भीरा की प्रभु अरजी सुण लो चरण लगावो थारी मरजी ॥

[२०]

मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सों ।
भोर मुकुट पीताम्बर हो गल वैजन्ती माल ॥
गडवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल ।
कालिंदी के तीर हो कान्हा गडवाँ चराय ॥
सीतल कदम की छहियाँ हो मुरली बजाय ॥
जसुमति के दुवरवाँ हो भ्वालिन सब जाय ।
बरजहु आपन कुलरुवा हो हमसों अक्षाय ॥
वृन्दावन फीड़ा करै हो गोपिन के साथ ।
सुर नर मुनि मन मोहे हो ठाकुर जदुनाथ ।
इन्द्र कोप घन बरखो मूसल जलधार ॥
बूढ़त ब्रज को राखे हो मोरे प्राण अधार ॥
भीरा के प्रभु गिरधर हो मुनिये चित लाय ।
तुम्हरे वरस की भूखो हो मोहि कछु न सुहाय ॥

[२१]

अब तो निभायाँ सरैगी, बाँह गहे की लाज ।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज ॥
भवसागर संसार अवर बल जा में तुम हो जहाज ।
निरधाराँ आधार जगत गुरु तुम बिन होय अकाज ॥
जुग जुग भीर हरी भगतन की दीनी मोक्ष समाज ।
भीरा सरण गही चरणन की लाज राखो महाराज ॥

[२२]

म्हाने चाकर राखो जी ।
गिरधर लाल चाकर राखो जी ॥

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ ।
 बिद्राबन की कुँज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ ॥
 चाकरी में दरसन पाऊँ सुनिरन पाऊँ खरबी ।
 भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी ॥
 मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला ।
 बिद्राबन में धेनु चरावै, मोहन मुरली वाला ॥
 हरे-हरे नित बाग लगाऊँ, बिच-बिच राखूँ क्यारी ।^१
 साँवरिया के दरसन पाऊँ, पहर कसुम्भी सारी ॥
 जोगी आया जोग करण कूँ, तप करण संन्यासी ।
 हरी भजन कूँ साधू आया, बिद्राबन के वासी ॥
 मीरा के प्रभु गहरि गंभीरा^२ हृदे रहो घीरा ।
 आधी रात प्रभु दरसन देंहैं, ^३प्रेम-नदी के तीरा ॥

[२३]

प्यारे दरसन दीज्यो आया
 तुम बिन रह्योइ न जाय ॥

१. पाठान्तर—ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच-बिच राखूँ बारी ।

२. सदा ।

३. यमुनाजी ।

[२२] अपने जीवनधन के साहचर्य-सुख के लिए भीरा उनके बाग की मालिन बनने का अधिकार माँगती है जिसमें नित उठ दरसन का सुख मिला करे । यह दरसन ही उसकी मजूरी होगी, भगवान् का स्मरण उसकी खर्ची होगी और भाव भगति जागीर होगी । 'जोगी आया' आदि में योग और तप से भी बढ़कर भजन की महिमा बतायी गई है और साथ में वृन्दावनवास भी हो तो फिर क्या पूछना ?

अन्त में भीरा अपने हृदय को ढाढस देती हुई समझाती है, रे हृदय, धैर्य रख, अपने प्रेम की बाती जलाये रख, आधी रात में जब चारों ओर सन्नाटा हो जाएगा तब प्रेमरूपी यमुना के तट पर प्राणाधार श्रीकृष्ण तुम्हें मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे ।

[२३] 'क्यूँ तरसावो अन्तरजामी'—

"Think not that God will be always caressing. His children or shine upon their head or kindle their hearts as He does act the first. He does so only to lure us to Himself as the falconer lures the falcon with its gay hood..."

जल बिन कमल चंद बिन रजनी
 ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी ।
 आकुल ध्याकुल फिरँ रैन दिन
 विरह कलेजो लाय ॥
 दिवस न भूख नींद नहि रैना,
 सुख सूँ कहत न आवै बेना ।
 कहा कहँ कछु कहत न आवै
 मिलकार तपन बुझाय ॥
 पर्यँ तरसावो अन्तरजामी
 आय मिलो किरपा कर स्वामी ।
 मीरा दासी जनम जनम की
 पड़ी तुम्हारे पाय ॥

[२४]

पिया तेरे नाम लुभाणी हो ।
 नाम लेत तिरता सुण्या जैते पाहन पाणी हो ॥
 सुकिरत कोई ना कियौ, बहु करम कुसाणी हो ।
 गणिका कीर पड़ावताँ बँकुण्ठ बसाणी हो ॥
 अरध नाम कुंजर लियो बाको अबध घटानी हो ।
 गरुड़ छाँड़ि हरि धाइया पमुजून मिटाणी हो ॥
 अजामेल से ऊधरे जमत्रास नसानी हो ।
 पुत्र हेते पदवी दइ जग सारे जाणी हो ॥
 नाम महातम गुरु दियो परतीत पिछाणी हो ।
 मीरा दासी रावली अपणी कर जाणी हो ॥

[२५]

म्हारे नैणां आगे रहो जी, स्याम गोविन्द ॥
 दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव को छान छवंद
 दास घना को खेत निपजायो गज की टेर सुनंद ॥

[२४] "नाम महातम गुरु दियो" "जाणी हो" श्री गुरुमुख से प्राप्त 'नाम' के द्वारा ही साधक के हृदय में भगवान् के लिए 'प्रतीति' होती है और इस प्रतीति से ही 'प्रीति' होती है, 'बिन परतीति प्रीति नहीं होइ' । इस प्रीति के उदय होते ही साधक का भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वह भगवान् का तथा भगवान् उसके हो जाते हैं ।

श्रीलषी का घेर सुदामा का तन्दुल मर मुठड़ी बुकन्द ।
 करमा बाइ की खीचड़ अरोग्यो होइ परसण पावन्द ॥
 सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यो तारा बिच चन्द ।
 सब संतों का काज सुधारा मीरा सूँ दूर रहंद ॥

"In the emotional approaches to God the sense of a Divine presence is so strong that even the senses and desires are transmuted. The burden of sin is grievous; neither good deeds nor knowledge, neither yoga-meditation nor asceticism can avail against it. Only by the water of faith and love is the interior stain effaced."

—*Theory and Art of Mysticism*

रूप-राग

[२६]

या मोहन के मैं रूप लुभानी ।

सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मन्द मुसकानी ॥

जमुना के नीरे तीरे धेतु चरावै बंती में गावें मीठी बानी ।

तन मन धन गिरघर पर बाहूँ चरण कंदल मीरा लपटानी ॥

[२७]

निपट बंकट छवि अटके ॥

मेरे मंना निपट बंकट छवि अटके ।

देखत रूप मदन मोहन को पियत मयूखन अटके ॥

[२६] जिस रूप पर मीरा का हृदय लुभाया है वह जगत् को लुभाने-वाला है । इस सुन्दर रूप पर, इस बाँकी चितवन और मन्द-मन्द मुसकान पर कौन न लुट जाए ? और फिर यमुना के तीर पर गायों को चराते-चराते वह बंशी में मीठी बानी गाने लगता है—‘नामसमेतं कृतसंकेतं बादयते मृदुवेणुम्’ । कैसे न मीरा इस संकेतभरी मुरली के स्वर को सुनकर अपना तन, मन और प्राण उस गिरघर नागर पर न्योछावर करके उन्हीं के सुभग शीतल कमल कोमल त्रिविधज्वालाहरण चरणों से लिपट जाए ?

[26]-[40] ‘Ravishing’ says Rolle, as it is showed in two ways is to be understood. One manner, forsooth, in which a man is ravished out of fleshly feeling. Another manner of ravishing there is, that is lifting of mind into God by contemplation and this manner of ravishing is in all that are perfect lovers of God and in none of them but that love God.’

‘Oh Wonder of wonders’ cries Eckhart, when I think of the union the soul has with God ! He makes the enraptured soul to flee out of herself; for she is no more satisfied with any thing that can be named. The spring of Divine Love flows out of the soul and draws her out of herself into the unnamed Being into her first source which is God alone.

—Eckhart, ‘On the steps of the soul.’

वारिज भवां अलक टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ॥
मीरा प्रभु के रूप लुभानि गिरधर नागर नट के ॥

[२८]

जब से मोहि नंदनंदन दृष्टि पड़यो माई ।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई ॥
भोरन की चंद्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टौना ।
खंजन अह मधुप मीन भूले मृगछौना ॥
सुंदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेखा ॥
अधर बिब अरुन नैन मधुर मंद हांसी ।
बसन दमक दाड़िम बुति चमके चपला-सी ॥
छुद्रघंट किकनी अनूप धुनि सोहाई ।
गिरधर के अंग अंग मीरा बलि जाई ॥

[२९]

श्री गिरधर आगे नाचूंगी ।
नाचि नाचि पिव रसिक रिताऊं प्रेमी जनकू जाचूंगी ।
प्रेम प्रीति की बांधि घूंघरू सुरत की कछनी काढूंगी ।
लोक-लाज कुल की भरजादा या में एक न राखूंगी ।
पिव के पलंगा जा पौडूंगी मीरा हरि रंग राखूंगी ।

[३०]

नंगा लोमी रे बहुरि सके नहिं आइ ।
हूँम हूँम नख तिल सब निरखत ललकि रहे ललचाइ ।
मैं ठाढ़ी पिह आपणे री मोहन निकसे आइ ॥

[29] All things then I forgot,
My cheek on Him who for my coming came,
All ceased and I was not
Leaving my cares and shame
Among the lilies, and forgetting them.

—St. John of the cross

बदन चंद परकासत हेली मंद मंद घुसकाइ ।
 लोक कुटुंबी बरजि बरजि रहीं बतियाँ कहत बनाइ ॥
 चंचल निपट अटक नहि मानत परहय गये बिकाइ ।
 भली कहौ कोइ बुरी कहौ मैं, सब लई सीस चढ़ाइ ॥
 मीरा कहे प्रभु गिरधर के बिन पलभर रह्यो न जाइ ॥

[३१]

झाली री मेरे नेणाँ बाण पड़ी ।
 चित्त चड़ी मेरे भाघुरी मूरत उर बिच शान अड़ी ।
 कब की ठाड़ी पंथ निहाळें अपने भवन खड़ी ॥
 कैसे प्राण पिपा बिन राखूं जीवन मूर जड़ी ।
 मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहें बिगड़ी ॥

[३२]

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो कळेंरी ।
 तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण तेरो ही ध्यान धळेंरी ॥
 जहें जहें पाँव धळें धरणी पर तहें तहें निरत कळेंरी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणाँ लिपट पळेंरी ॥

[३१] एक बार, बस एक बार उस 'साजन' के दर्शन क्षण-भर के लिए हो पाए थे । वह 'भाघुरी मूरत' आँखों की खिड़की से हृदय के अन्तःपुर में झा घुसी; उसे देखते ही लोक-परलोक की सारी लाज और सारे सम्बन्ध पटा-पट टूट गए और मीरा उसके हाथ बिक गई, अपना लोक-परलोक सब-कुछ उसके चरणों में निछावर कर दिया और अब लोग उसे 'बिगड़ी' कहते हैं, कहते रहें । भारतीय नारी के लिए सोक-लाज की तिलांजलि देना बहुत कठिन है; आर्यपथ का त्याग 'दुस्त्यज' कहा गया है, इसीलिए नगवत्प्रेम के पथ में यह बहुत बड़ी बाधा, बहुत बड़े विघ्न के रूप में खड़ा रहता है ।

[32] In my heart Thou dwellest, else with blood, will
 drench it. In mine eye Thou glowest, else with tears
 I will quench it Only to be one with Thee my soul
 desireth—

Else from out my body, I will wrench it.

—Abu Said

'In the bridal chamber-of Unity God celebrated the mystical marriage of the soul.'

—The Mystics of Islam

Jesus has come to take up his abode in my heart. It is not so much a habitation, or an association as a sort of fusion. Oh

[३३]

अस पिया जाण न दीजें हो ।
 तन मन धन करि बारण हिरवे धरि लीजें हो ॥
 श्राव सखी मुख देखिये नैना रस पीजें हो ।
 जिह जिह बिधि रीझें हरि सोई विधि कीजें हो ।
 सुन्दर स्याम सुहावणा देख्यां जीजें हो ।
 भीरा के प्रभु राम जी बड़ भागण रीझें हो ॥

[३४]

मैं तो सांवरे के रंग रांची ।
 साजि सिंगार बांधि पग धुंधल लोक लाज तजि नाची ॥
 गई कुमति लई साधु की सङ्गति भगत रूप भई सांची ।
 गाय गाय हरि के गुन निस बिन काल ब्याल से बांची ॥
 उण बिन सब जग खारो लागत शौर बात सब कांची ।
 भीरा श्री गिरधरन लाल सूँ भगति रसीली जांची ॥

[३५]

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।
 गिरिधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ॥
 रेंण पड़े तबहीं उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ ।
 रेंण दिना वाके संग खेल्तूँ उयूँ तूँ वाहि रिशाऊँ ॥

new and blessed life, life which becomes each day more
 luminous. The wall before me darks few moments since, is
 splendid at this hour because the sun shines on it. Wherever its
 rays fall they light up a conflagration of glory, the smallest
 speck of glass sparkles, each grain of sand emits fire; even so
 there is a royal song of triumph in my heart because the
 Lord is there...

Formerly the day was dulled by the absence of the Lord.
 Today he is with me. I feel the pressure of his hand. I feel
 something else which fills me with a serene joy. Shall I dare to
 speak it out? Yes, for it is the true expression of what I
 experience. Thy Holy Spirit is not merely making me a visit, it
 is no more dazzling apparition which may from one inoment to
 another spread its wings and leave me in my night. It is a per-
 manent habitation. He can depart only if he takes me with him.

Quoted from the MS. 'of an old man' by Wilfred Monod.

जो पहिरावें सोई पहिळें जो वे सोई खाऊं ।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊं ॥
जित बँठावे तितही बँठूँ बेचें तो बिक जाऊं ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊं ॥

[३६]

मैं गिरधर रंग राती सैयाँ, मैं गिरधर रंग राती ॥
पच रंग चोला पहर सखी मैं जिरमिट खेलन जाती ॥
ओह जिरमिट माँ मिल्यो साँवरों खोल मिली तन गाँती ॥
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजै पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहूँ आती जाती ॥
चदा जायगा सूरज जायगा जायगी धरणि अकासी ।
पवन पाणी दोनों हि जायेंगे अटल रहै अविनाशी ॥
गुरत निरत का दिवलो सँजोले मनसा की करली बाती ।
अगम धाणि को तेल बनायो बाल रही दिन राती ॥
ओर सखी मद पी पी माती मैं बिन पीयाँ ही माती ।
प्रेम भटी को मैं मद पीयो छकी फिळें दिन राती ॥
जाऊँ न पीहर जाऊँ न सासर हरि सूँ सैन लगाती ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा चित लाती ॥

[३६] खोल मिली तन गाँती—आवरण हटाकर, निरावरण होकर प्राणवल्लभ हृदयरमण से मिली । 'मेरा पिया मेरे हीय बसत है' में कितनी निगूढ़ मधुर अनुभूति का संकेत है !

If the soul were stripped of all her sheaths, God would be discovered all naked to her view and would give Himself to her all her withholding nothing. As long as the soul has not thrown off veils, however thin she is unable to see God.

—Meister Eckhart

'Naked follow the naked Christ'.

'कुलशील लज्जा भय परिहरे समुदयः' ।

[36-37] With the sweet soul this soul of mine
Hath mixed as water doth with wine,
Who can the water and wine part
Or me and Thee when are combined ?
Thy love has pierced me through and through
Its thrill with bone and nerve entwine
I rest a flute laid on Thy lips.

[३७]

मैं अपने सैयाँ संग साँची ।
 अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची ॥
 दिवस झूल न चैन कबहूँ नींद निसि नासी ।
 बेधि वार पार ह्वैंगो ग्यान गुह गाँसी ॥
 कुल कुटुंबी आन बँडे मनहु मधुमासी ।
 दासि भीरा लाल गिरधर मिटी सब हाँसी ॥

[३८]

कोई कछु कहे मन लागा ।
 ऐसी प्रीत लगी मनमोहन ज्युँ सोझा में सोहागा ॥
 बनम जनम का सोया मनुष्य सद्गुरु शब्द सुण जागा ॥
 मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गयो ज्युँ तागा ।
 भीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा ॥

A lute, I on Thy breast recline,
 Breathe deep in me that I may sigh
 Yet strike my strings and tears shall shine.

—Jalalu'd Din, 'The festival of spring.'

[३७] जब साजन के साथ खुले रूप में नाचा ही तो अब सज्जा किस बात की, परवाह किसको ? हृदय में यह दृढ़ विश्वास है कि मैं अपने सैयाँ के संग साँची हूँ, तब फिर किसी व्यक्ति या वस्तु की अपेक्षा क्यों हो ?

[३८] 'ज्यों सोना में सोहागा'—

Thy spirit is mingled in my spirit even as wine is mingled
 with pure water.

When any thing touches Thee it touches me Lo, in every
 case Thou art I.

I am He whom I love, and He whom I love is I :

We are two spirits dwelling in one body.

If thou seest me, thou seest Him,

And if thou seest Him, thou seest us both.

—Mansur Hollaj

[३६]

माई री में तो लियो गोबिन्दो मोल ।
 कोई कहै छाने कोई कहै चुपके लियो री बजन्ता डोल ॥
 कोई कहै महेंगो कोई कहै सहेंगो लियो री तराजू तोल ।
 कोई कहै कारो कोई कहै गोरो लियो री अमोलक मोल ॥
 कोई कहै घर में कोई कहै बन में राधा के संग किलोल ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम के मोल ॥

[४०]

बड़े घर ताली लागी रे म्हारां मन री उणारथ भागी रे ।
 छीलरिये म्हारो चित्त नहीं रे डाबरिये कुण जाव ।
 गंगा जमना सूं काम नहीं रे में तो जाय मिलूं दरियाव ॥
 हाल्यां मोल्यां सूं काम नहीं रे सोख नहीं सिरदार ।
 कामदारां सूं काम नहीं रे में तो जाव कहुं दरबार ॥
 काव कथी सूं काम नहीं रे लोहा चढ़े सिर भार ।
 सोना रूपां सूं काम नहीं रे म्हारे हीनां रो बीपार ॥
 भाग हमारो जागियो रे भयो समंद सूं सीर ।
 इधित प्याला छाँड़ि के कुण पीपे कड़वो नीर ॥
 पीपा कूं प्रभु परचो दीन्हो दिया रे खजीना पूर ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर घणि मिल्या छै हजूर ॥

[३६] प्रेमी अपने प्रियतम को कितनी हृदता के साथ बाँध लेता है—
 इस भाव का इस पद में बड़ा ही भव्य एवं सुन्दर विन्यास हुआ है। 'लीन
 बजन्ता डोल' में कितनी मीठी गर्वोक्ति है !

Upon my flowery breast
 Wholly for Him and save Himself for none
 There did I give sweet rest
 To my Beloved One :
 The fanning of the cedars breathed thereon.
 All things I then forgot
 My cheek on Him who for my wooing came...
 All ceased and I was not
 Leaving my cares and shame
 Among the lilies and forgetting them.

—*St. John of the Cross*

[४०] उणारथ = लालसा, कामना, संकल्प-विकल्प ।

गुरुकृपा और प्रीतिदान

[४१]

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की ।
चरन बिना कछुर्व नहि भावै जग माया सब सपनन की ॥
भव सागर सब सूखि गयौ है फिकर नहीं मोहि तरनन की ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आस वही गुरु सरनन की ॥

[४२]

री मेरे पार निकस गया सतगुरु मार्या तीर ।
बिरह भाल लागी उर अंदर व्याकुल भया सरीर ॥
इत उत चित्त चलै नहि कबहूँ डारी प्रेम जंजीर ।
कै जाणँ मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणँ पीर ॥
कहा कळै मेरो बस नहि सजनी नैन झरत दोउ नीर ।
मीरा कहै प्रभु तुम मिल्यौ बिन प्राण धरत नहि धीर ॥

[४१-७०] जिस प्रकार पूर्ण योग का परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ वेद है, उसी प्रकार इसके परम-पथप्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगद्गुरु हैं जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से विराजमान हैं। वे ही अपने भास्वर ज्ञानदीप से हमारे तम का नाश करते हैं। उनका जो मुक्त आनन्दमय, प्रेममय, सर्वशक्तिमय अमृतस्वरूप है उसे वे क्रमशः हमारे अन्दर खोलकर दिखला देते हैं। साधक की प्रकृति के अन्दर जो ऊँची-से-ऊँची शक्तियाँ और गतियाँ हो सकती हैं उन्हें सहज भाव से सुव्यवस्थित करना ही उनकी विधि है। गुरु मौन रहकर भी शिष्य के अन्दर वही चीज डालता रहता है जो वह स्वयं है और जो उसके अधिकार में है। गुरु भगवदीय दायित्व के निर्वाह में केवल एकमात्र भाजन और प्रतिनिधि मात्र हैं। वे अपने भाइयों के सहायक एक मनुष्य हैं, बच्चों को ले चलने वाले एक बालक हैं, अन्य दीपों को प्रज्वलित करने वाले एक दीप-ज्योति हैं, आत्माओं को जगाने वाले एक आत्मा हैं—अधिक-से-अधिक भगवान् की अन्य शक्तियों को अपने पास बुलाने वाली एक शक्ति या सत्ता हैं।

[४३]

भर भारी रे बानाँ मेरे सतगुरु बिरह लगाय के ।
 पाँवन पंगा कानन बहिरा सूझत नाहिं न नैना ॥
 खड़ी खड़ी रे पंथ-निहाळें मरम न कोई जाना ।
 सतगुरु ओषध ऐसी दीन्हीं रम रम भई चंना ॥
 सतगुरु जस्या बंद न कोई पूछो बेद पुराना ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर अमर लोक में रहना ॥

[४४]

मैंने नाम रतन धन पायो ।
 बसत अमोलक दी मेरे सतगुरु करि किरपा अणायो ॥
 जनम जनम की पूंजी पाई जग में सब खोवायो ।
 खरचं नहिं कोई चीर न लेवें दिन-दिन बढ़त सवायो ॥
 सत्त की नाँव खेवटिया सतगुरु भवसागर तरि आयो ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरखि हरखि जस गायो ॥

[४५]

लगी मोहि राम खुमारी हो ।
 रमझम बरसँ मेहड़ा भीजँ तन सारी हो ।
 चहुँ दिस चमकँ दामणी गरजँ घन भारी हो ॥
 सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किवारी हो ।
 सब घट दीसँ आतमा सबहीं सूँ न्यारी हो ॥
 दीपय जोऊँ ग्यान का चढूँ अगम अटारी हो ।
 मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो ॥

[४४] श्री गुरुदेव के मुख से 'नाम' रत्न की प्राप्ति होती है और वही नाम का मणि-दीप अन्तस को तेजोदीप्त करके भगवान् का साक्षात्कार करा देता है। नाम का रस ऐसा है कि जितना पिया जाए उतना ही और पीते रहने की इच्छा बढ़ती है। वह इच्छा परम मंगलमयी है, अमृतमयी है। 'हरखि हरखि जस गायो' में कैसा दिव्य उल्लास है! 'स मोदते मोदनीयं हिलब्ध्वा'! यह 'राम-खुमारी' भी क्या गजब की है!

[४५] श्री गुरुदेव की कृपा और शिष्य की श्रद्धा—इन पवित्र धाराओं का संगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसमर्पण—एक की कृपा और दूसरे की श्रद्धा से ही सम्पन्न होता है। दान और क्षय,

[४६]

महारा सतगुरु बेगा आज्या जी महारे मुखरी सीर बुझाज्यो जी ।
 तुम विछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन माँही मुरझाऊँ जी ॥
 मैं कोइल ज्यूँ कुरजाऊँ जी कुछ बाहरि कहि न जणाऊँ जी ।
 मोहि बाघण बिरह सतावँ जी कोई कहियाँ पार न पावँ जी ॥
 ज्यूँ जल त्यागा भीना जी तुम दरसण बिन खीना जी ।
 ज्यूँ चकवी रँण न भावँ जी वा ऊगो भाण सुहावँ जी ॥
 ऊ दिन कबँ करोला जी महारे आंगण पाँव धरोला जी ।
 अरज करै भीरा दासी जी गुरु पव रज की मैं प्यासी जी ॥

यही दीक्षा का अर्थ है। ज्ञान, शक्ति और सिद्धि का दान एवं अज्ञान, पाप और दारिद्र्य का क्षय—इसी का नाम 'दीक्षा' है। सभी साधकों के लिए यह दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा से ही शरीर की समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देह-शुद्धि होने से देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है।

सामान्यतः दीक्षा के तीन भेद माने जाते हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। मान्त्री दीक्षा ही 'रुद्रयमल' आदि ग्रन्थों में आणवी के नाम से प्रसिद्ध है। शाक्ती दीक्षा में परम चेतना रूपा कुंडलिनी ही शक्ति मानी जाती है। उसको जागरित करके ब्रह्म नाड़ी में से होकर परम शिव में मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है। इस दीक्षा में श्रीगुरुदेव ही शिष्य की अन्तर्देह में प्रवेश करके कुंडलिनी शक्ति को जागरित करते हैं और अपनी शक्ति से ही उसको मिला देते हैं। इसमें शिष्य को अपनी ओर से कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती।

वायवीय संहिता में शाम्भवी दीक्षा का विवरण इस प्रकार मिलता है—
 'श्री गुरुदेव अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण में ही स्वरूप स्थित कर देते हैं। गुरु की दृष्टि मात्र से शिष्य का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ होकर कृतकृत्य हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा, मन्त्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदि साधना से होती है। इसमें गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते हैं। मान्त्री दीक्षा से शक्तिपात्र की पात्रता प्राप्त होती है और मन्त्रदेवतात्मक शक्ति से सिद्धि भी प्राप्त होती है।

इस मान्त्री अथवा आणवी दीक्षा के दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती, मानसी, यौगी, चाबुषी, स्पाशिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिका। स्मार्ती में गुरु शिष्य का स्मरण करता है और उसके त्रिविध पापों को भस्म कर देता है। और पुनः लययोग से उसे परम शिव में स्थित कर देता है। मानसी दीक्षा स्मार्ती के समान ही है। यौगी दीक्षा में गुरु शिष्य

[४७]

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी ।
 जब जब सूरत लगे वा घर को पल पल नैनन पानी ।
 क्यों हिये पीर तीर सम सालत कसक कसक कसकानी ॥
 रात दिवस मोहि नौद न आवत भावै अन्न न पानी ।
 ऐसी पीर बिरह तन भीतर जागत रैन बिहानी ॥
 ऐसा बंद मिलै कोइ भेदी देस बिदेस पिछानी ।
 तासों पीर कहैं तन केरी फिर नहि भरमों खानी ॥
 खोजत फिरौं भेद वा घर को कोई न करत बखानी ।
 रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहवानी ॥
 मैं मिली जाय पाय पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी ।
 मीरा स्याक खलक सिर डारी में अपना घर जानी ॥

के शरीर में प्रवेश कर उसकी आत्मा को अपने शरीर में लाकर एक कर लेता है। चाधुषी दीक्षा में श्री गुरुदेव करुणाद्रं दृष्टि से शिष्य की ओर देखते हैं और इतने से ही शिष्य के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। स्पर्शिकी में गुरुदेव शिष्य के सिर का स्पर्श करते हैं, उस स्पर्श मात्र से शिष्य का शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है। मान्त्रिकी में गुरुदेव अपने शरीर में से शिष्य के शरीर में मन्त्र का संक्रमण करते हैं। हौत्री में होत्र से ही दीक्षा सफल होती है। शास्त्री में शिष्य के योग्यतानुसार शास्त्रीय पदों के द्वारा दीक्षा दी जाती है। अभिषेचिका दीक्षा में गुरुदेव एक घट में शिव और शक्ति की पूजा करते हैं, फिर उसके जल से शिष्य का अभिषेक करते हैं।

[४६] मीरा उस दिन की प्रतीक्षा में है जब उसके प्राणाधार उसके आंगन में आकर अपने आलिंगन के पाश में उसे बाँध लेंगे। बुल्ला ने भी इसी प्रकार 'साजन' को गुहराया है—

देखो पिया काली मो पै भरी ।
 सुनि सेज भयावन लागी मरों विरह की जारी ॥
 प्रेम प्रीति यह रीति चरण लगु पल छिन नाहि विसारी ।
 चितवत पन्थ अन्त नहीं पायो जन बुल्ला बलिहारी ॥
 कबीर भी बड़ी उत्सुकता से इस दिन की प्रतीक्षा में हैं—
 वे दिन कव आवेंगे माइ ।
 जो कारणि हम देह घरी है मिलियों अंग लगाइ ॥

[४७] नाम का तीर जब हृदय को पूरी तरह बेध देता है तब हृदय में भगवान् के लिए बेकली हो उठती है। यह व्याकुलता ही प्रेम-साधना की प्राण

[४८]

मिलता जाज्यो हो गुद जानी थारी सूरत देख लुभानी ॥
मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो मैं हूँ बिरह दिवानी ।
रात दिवस कल नाहि परत है जैसे मीन बिन पानी ॥
बरस बिना मोहि कछु न सुहावै तलफ तलफ मर जानी ।
मीरा तो चरणन की चेरी सुन लीजै सुखदानी ॥

[४९]

सतगुरु म्हारी प्रीत निभाज्यो जी ।
ये छो म्हारा गुण रा सागर ओगण म्हारो मति जाज्यो जी ।
लोक न धीजै (म्हारो) मनना पतीजे मुखड़ा रा सबद सुणाज्यो जी ॥
म्हें तो दासी जनम जनम को म्हारे आंगण रमिता आज्यो जी ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी बेड़ो पार लगाज्यो जी ॥

है । राम की खुमारी भगवत्प्रेम का नशा जब चढ़ता है तब साधक की विचित्र दशा हो जाती है । आनन्द की रिमझिम-रिमझिम फुहियाँ बरसने लगती हैं और उसका समस्त शरीर-मन-प्राण उस फुहार में भीग जाता है । मेघ गरजने लगता है और चारों ओर से विद्युत् का प्रकाश होने लगता है । साधक इस प्रेम-वर्षा में आनन्द से भूमने लगता है । गुलाल साहब का एक पद इसी भाव का है—

आनन्द बरसत बूंद सुहावन ।
उमगि उमगि सतगुरु बर राजित समय सुहावन भावन ॥
चहुँ ओर धनघोर घटा आई सुन्न भवन मन भावन ।
तिलक तत बेदी पर भलकत जगमग जोति जगावन ॥
गुरु के चरण मन मगन भयो जब विमल विमल गुन गावन ।
कहै गुलाल प्रभु कृपा जाहि पर हरदम भादों सावन ॥

हृदय में प्रभु का नित्य ध्यान हो, मुख से उनका नाम-कीर्तन हो, कानों में सदा उनकी ही कथा गूँजती हो, प्रेमानन्द से उनकी पूजा हो, नेत्रों में हरि की मूर्ति विराज रही हो, चरणों से उनके ही पावन स्थानों की यात्रा ही, रसता में प्रभु के ही नाम का रस हो, भोजन हो तो वह प्रभु का प्रसाद हो, साष्टाङ्ग नमन हो उनके ही प्रति, आलिंगन हो आह्लाद से उनके ही भक्तों का और एक क्या आधा पल भी उनकी सेवा के बिना व्यर्थ न जाए । सब धर्मों में यह श्रेष्ठ धर्म है ।

[५०]

स्याम तेरी श्रारति लागी हो ।
 गुद परतापे पाइया तन दुरमति भागी हो ॥
 या तन को दियना करों मनसा करों बाती हो ।
 तेल भरावों प्रेम का वारों दिन राती हो ॥
 पाटी पारों ज्ञान की मति भाँग सँवारी हो ।
 तेरे कारन साँवरे धन जोवन वारों हो ॥
 या सेजिया बहु रंग की बहु फूल बिछाये हो ।
 पंथ में जोहों स्याम का अजहूँ नहिँ आये हो ॥
 सावन भादो ऊमड़ा बरखा रितु आई हो ।
 मौहूँ घटा घन घेरि के नैनन शरि लाई हो ॥
 मात पिता तुम को दियो तुम ही भल जागो हो ।
 तुम तजि और भतार को मन में नहीं आनो हो ॥
 तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो ।
 मीरा व्याकुल बिरहिनी अपनो कर लीजै हो ॥

[५१]

जोगिया जी निसिदिन जोऊँ थारी बाट ।
 पाँव न चालै पंथ दुहेलो आड़ा औघट घाट ॥
 नगर आड़ जोगी रम गया रे मो मन प्रीत न पाइ ।
 मैं भोली भोलापन कीन्हों राख्यो नहीं बिलमाइ ॥
 जोगिया कूँ जोवत भोत दिन बीता अजहूँ आयो नाहिँ ।
 बिरह बुझावण अन्तरि आगे तपन लगी तन माहिँ ॥

[५०] यह प्रेम अनुभवगम्य है, इन्द्रियग्राह्य नहीं । परन्तु प्रेम की विकलता इन्द्रियों की प्यास बढ़ा देती है, वे भी कुछ चाहती हैं । वे बादलों को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जातीं । वे उसकी वर्षा में अपने को भीगा हुआ पाया चाहती हैं । जिस रस की अनुभूति हृदय करता है अर्थात् उसके रूप को सामने देखना चाहती हैं । किन्तु वह असीम सामने कब आ सकता है ? इसलिए प्रेम के ऐसे गम्भीर पथिक के लिए एक सम्भ्रम, एक विस्मय, एक उलझन की बात सदा रहती है कि अन्तर में रहनेवाले से प्रवासी का-सा अन्तर क्यों बना हुआ है ? एक ही बास के बसने पर भी विदेश हो रहा है, मिले होने पर भी कोई अमिल कैसे रहता है ?

कै तो जोगी जग में नहीं कैर बिसारो मोय ।
काई करूँ कित जाऊँ री सजनी नैण गुमायो रोय ॥
आरति तेरे अंतर भरे आवो अपनी जाणि ।
मीरा व्याकुल बिरहिणी रे तुम बिन तलफत प्राणि ॥

[५२]

तेरो मरम नाहि पायो रे जोगी ।
आसण नारि गुफा में बँटो ध्यान हरी को लगायो ॥
गल विच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूत रमायो ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी भाग लिख्यो सोही पायो ॥

[५३]

कबहूँ मिलोगे मोहि आई रे तूँ जोगिया ।
तेरे ही कारण जोग लियों है घरि-घरि अलख जगाई ॥
दिवस न भूख रैण नाहि निद्रा तुम बिन कुछ न सुहाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलि करि तपनि बुझाई ॥

[५४]

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाइं परूँ में चेरी तेरी हौं ॥
प्रेम भगति को पैड़ो ही न्यारो हम कूँ डोल बता जा ।
अगर चँदण की चिता बणाऊँ अपने हाथ जला जा ॥
जल बल भइ भस्म की डेरी अपने अंग लगा जा ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा ॥

[५२] मीरा के कई पदों में किसी योगी का वर्णन आया है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की पीर जगाई है। योग की कतिपय क्रियाओं तथा सींग, सेली, भभूत आदि कनफटे योगियों के बाह्य प्रतीकों का भी उल्लेख यत्र-तत्र आया है, यद्यपि है वह अधूरा ही। योग की किसी सुव्यवस्थित साधना-प्रणाली का अनुसरण मीरा ने किया था, ऐसा मीरा के पदों से प्रतीत नहीं होता, परन्तु कुछ सुनी-सुनाई बातों की ओर मीरा का मन लपका था जहर। पीछे जाकर प्रेम के उपप्लव में मीरा का सारा योग-भोग बह गया। प्रेम की साधना में योग की क्रियाएँ एक हृद तक ही चल सकती हैं, आगे जाकर वे छूट जाती हैं। प्रेम एक स्वयं महायोग है जिसमें अन्य सभी योगों का लय हो जाता है। आत्मा में परमात्मा का रमण और परमात्मा में आत्मा का रमण—प्रेम की भाषा में प्रिया और प्रियतम का एकमेक होकर रमण—यह आत्मरमण, आत्म-क्रीड़ा, आत्ममिथुन ही प्रेमयोग की परमावधि है।

[५५]

हो जी म्हाराज छोड़ मत जाज्यो जी ।
 में अबला बल नाहि गुसाईं तुमहि मेरे सिरताज ।
 में गुणहीन गुण नाहि गुसाईं तुम समरथ महाराज ॥
 रावली होइ के किण रे जाऊं तुम हो हिवड़ारो साज ।
 मीरा के प्रभु और न कोई राखो अब के लाज ॥

[५६]

ऐसी लगन लगाय कहाँ तू जासी ।
 तुम देखे बिन कल न परित है तलफि-तलफि जिव जासी ॥
 तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूंगी कासी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कंबल की दासी ॥

[५७]

जोगिया से प्रीत कियां दुख होइ ।
 प्रीत किया सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोई ।
 राति दिवस कल नाहि परत है तुम मिलियां बिन मोई ॥
 एसी सूरत या जग मोही केरि न देखी सोइ ।
 मीरा के प्रभु कब रें मिलोगे मिलियां आणंद होइ ॥

[५८]

जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।
 हिलमिल बात बणावत मीठी पाछे जावत भूल ।
 तोड़त जेज करत नाहि सजनी जंसे चमेली के फूल ।
 मीरा कहै प्रभु तुमरे दरस बिन लगत हिवड़ा में सूल ।

[५९]

जाबो निरमोहिया जाणी थारी प्रीत ।
 लगन लगी जब प्रीत और ही अब कुछ और ही रीत ॥
 इमरित प्याय के बिष क्युं दीजै कूण गांव की रीत ।
 मीरा के प्रभु हरि अविनासी अपनी गरज के मीत ।

[६०]

जाबा दे जाबा दे जोगी किसका मीत ।
 सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीत ।
 बोलत बचन मधुर से भीठे जोरत नाहीं प्रीत ॥

में जाणूँ या पार निर्भंगी छाँड़ि चले अधबीच ।
मीरा के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा भीत ॥

[६१]

कोई दिन याद करोगे रमता राम अतीत ।
आसण मार अडिग होय बैठा याही भजन की रीत ।
में तो जाणूँ जोगी संग चलैगा छाँड़ि चला अधबीच ॥
आत न दीसे जात न दीसे जोगी किसका भीत ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चरणन आवे चीत ॥

[६२]

धूतारा जोगी एकर सूँ हँसि बोल ।
जगत बदीत करी मनमोहन कहा बजावत डोल ।
अंग भभूत गले अघछाला तू जन गुडिया खोल ॥
सदन सरोज बदन की सोभा ऊभी जोऊँ कपोल ।
सेली नाद बभूत न बटवो अजूँ मुनी मुख खोल ॥
चढ़ती बँस नैण अनियारे तूँ धरि-धरि तम डोल ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई बिन मोल ॥

[६३]

जोगिया री सूरत मन में बसी ।
नित प्रति ध्यान धरत हूँ दिल में निस दिन होत खुसी ।
कहा कहुँ कित जाऊँ मोरी सजनी मानो सरप डसी ।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे प्रीति रसीली बसी ॥

[६४]

जोगिया जो छाया रहा परदेस ।
जबका बिछड़िया फेर मिलिया बहोरी न दियो संदेस ।
या तन ऊपरि भसम रमाऊँ खोर कहुँ सिर केस ॥
भगवा भेख धरुँ केहि कारण डूँडत च्यारुँ देस ।
मीरा के प्रभु राम मिलन कूँ जावनि जनम अनेस ॥

[६५]

जोगी म्हाने दरस दिया सुख होइ ।
नातरि दुख जग माँहि जीवड़ो निस दिन झुरै तोइ ॥

[६४] अतीत=अधीथ, योगी (यह शब्द 'अतिथि' से विगड़कर इस रूप में रूढ़ हो गया है) ऐसा प्रतीत होता है ।

दरस दिवानी भई बावरो डोली सब ही देस ।
मीरा दासी भई है पंडर पलटाया काला केस ॥

[६६]

मीरा लागो रंग हरी सब रंग अटक परी ।
चूड़ी म्हारे तिलक अह माला सील बरत सिणगारो ।
ओर सिंगार म्हारे दाय न आबं यी गुर ग्यान हमारो ॥
कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हें तो गुण गोबिन्द का गास्या ।
जिण मारग म्हारा साध पधारे उण मारग म्हें जास्या ।
चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां काई करसी म्हारो कोई ।
गजसे उतर के खर नहि चडस्यां ये तो बात न होई ॥

[६७]

मेरो मन लागो हरि सूं अब न रहेंगी अटकी ॥
गुरु मिलिया रंदास जी दीन्हें ग्यान की गुटकी ।
बोट लगी निज नाम हरी की म्हारे हिवड़े खटके ॥
मोती माणिक परत न पहिरूं में कब की नट की ।
गणो तो म्हारे माला दोषड़ी ओर चन्दन की कुटकी ॥
राजकुल की लाज गमाई साधां के संग में भटकी ।
नित उठ हरिजी के मन्दिर जास्यां नाच्यां दे दे चुटकी ॥
भाग खुल्यो म्हारो साध संगत सू सांधरिया की बटकी ।
जेठ अह की कहण न मानूं घूंघट पड़ गई पटकी ।
परम गुरां के सरण में रहस्यां परणाम करां लुट की ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जनम मरण सूं छुटकी ॥

[६८]

म्हारे घर रमतो ही आई रे तू जोगिया ।
कानों बिच कुंडल गले बिच सेली अंग भभूत रमाई रे ॥
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है ग्रिह अंगणो न सुहाई रे ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसण थौ मोकूं आई रे ॥

[६९]

जोगिया जी आबो थें या देश ।
नैणज देखूं नाय मेरो ध्याइ कळें आवेस ।

आया सावण मास सजनी भरे जल - थल ताल ॥
 राबल कुण विलमाइ राखो धिरहनि है बेहाल ।
 बोछड़ियां कोई भी भयो रे जोगी ऐ बिल अहला जाइ ॥
 एक बेरी देह केरी नगर हमारे आइ ।
 वा मूरति मेरे मन बसे रे जोगी छिन भरि रह्यौइ न जाइ ॥
 मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसण छौ हरि आइ ॥

[७०]

जोगिया ने कह्यो जी आदेस ।
 जोगियो चतुर सुजण सजनी ध्याव संकर सेस ॥
 आऊंगी मैं नाहि रहूंगी रे म्हारा पीव बिना परदेस ।
 करि किरपा प्रतिपाल मो परि राखो न अपण देस ॥
 माला मुदरा मेखला रे बाला खप्पर लूंगी हाथ ।
 जोगणि होइ बुग ढूँढसू रे, म्हारा राबलिया री साथ ॥

[७०] आदेस=प्रणाम (योगियों में प्रचलित प्रणाम-पद्धति)

इस पद में मीरा के सामने योगिनी का जो कल्पित वेश है उसमें माला, मुंदरी, मेखला, खप्पर आदि उपकरण हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि मीरा के सामने नाथ-पंथी योगिनी का ही रूप है । उन दिनों राजस्थान में नाथ-पंथ का खूब दौरदौरा था और उनके चमत्कारों से अधिकांश मत-पंथ और सम्प्रदाय प्रभावित भी हो गए थे ।

प्रेमाभिलाषा

[७१]

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ ।
इन नैनन मेरे साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री ॥

[७२]

राणाजी म्हें तो गोविन्द का गुण गास्याँ ।
चरणामृत को नेम हमारो नित उठ दरसण जास्याँ ॥
हरि मन्दिर में निरत करास्याँ घुंघरिया घमकास्याँ ।
राम नाम का झाँझ चलास्याँ भवसागर तर जास्याँ ।
यह संसार बाड़ का काटाँ ज्याँ संगत नाँह जास्याँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर निरख परख गुण गास्याँ ॥

[७१-८६] किसी मनुष्य के प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करने के लिए मन में एक प्रबल आग्रह हुआ करता है। इसी का नाम 'प्यार' है। यह प्यार जब ईश्वर में अर्पित कर दिया जाता है तब उसी को वैष्णवगण 'अनुराग' कहते हैं। फिर आग्रह बढ़ते-बढ़ते यह दशा हो जाती है कि उससे मिले बिना काम ही नहीं चलता, सब-कुछ सूना-सूना-सा लगता है। मन के इस अत्यधिक अनुराग को 'आसक्ति' कहते हैं। तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है तब एक अतलस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मन-प्राण को आनन्द महासिधु में बहा ले जाती है। फिर अपने ऊपर अपना शासन नहीं रहता। समस्त विश्व में उस प्रेममय के स्पर्श का ही अनुभव होने लगता है। इस अवस्था में प्रेमी भक्त क्षण-भर का भी प्रियतम का विरह नहीं सह सकता। उसका हृदय नित्य नूतन हर्ष से अधीर और उन्मत्त रहता है। वह भगवान् को सब-कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है। किसी बात के लिए उसका चिन्त चंचल नहीं होता। जगत् के घन-जन, मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नहीं कर सकते।

[७३]

पियाजी म्हारे नैणां आगे रहज्यो जी ॥
 नैणा आगे रहज्यो जी म्हाने भूल मत जाज्यो जी ।
 भवसागर में बही जात हूँ वेग म्हारी सुध लीज्यो जी ॥
 राणा जी भेज्या विष का प्याला सो इमरित कर दीज्यो जी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी ॥

[७४]

थाने काई कह समझाऊँ म्हारा बाला गिरधारी ।
 पूर्व जनम की प्रीत हमारी अब नाँहि जात निवारी ॥
 सुन्दर बदन जोवते सजनी प्रीत भई छे भारी ।
 म्हारे घरे पवारो गिरधर मंगल गावे नारी ॥
 मोती चौक पुराऊँ बाल्हा तन मन तो पर वारी ।
 म्हारो सगपण तो सँ साँवलिया जुगसूँ नहीं विचारी ॥
 मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ।
 चरण सरण है दासी तुम्हारी पलक न कीजँ न्यारी ॥

[७५]

जागो म्हारा जगपति राइक हँसी बोलो क्यूँ नहीं ।
 हरि छो जी हिरदा माँहि पट खोलो क्यूँ नहीं ॥

[७२] यह पद सम्भवतः उस समय का है जब राणा ने मीरा को अन्तःपुर से बाहर जाने से मना कर दिया था और कहलाया था कि साधु-महात्माओं की भीड़ इकट्ठा करना उचित नहीं है। इस पद में मीरा ने बड़ी हड़ता से कहा है कि जो कुछ निश्चय मैं कर चुकी हूँ वही करूँगी चाहे जो हो जाए।

[७३] न मिले थे तब तक तो कोई बात न थी, मुझे पता ही न था कि मिलन का सुख कैसा होता है। परन्तु अब मिलकर मिलन का जो अमृत-मुख तुमने दिया अब बिछुड़कर उसे विघटानो मत, मिलन के बाद यह बिछोह मुझसे सहा न जाएगा।

पर जिस प्यारे ने प्रीति-परवश होकर विष के प्याले को अमृत कर दिया, वह भला अब मुझे मेरी वाँह पकड़कर यों मँझधार में छोड़ देगा? ऐसा हो नहीं सकता।

[७४] 'मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी' में कितना निगूढ़ व्यंग्य है!

[७५] जहाँ-जहाँ देखूँ म्हारों राम—

'There is nothing unholy on this earth for God's feet are everywhere.'

तन मन सुरति संजोई सीस चरणों धरूँ ।
 जहाँ - जहाँ देखूँ म्हारो राम तहाँ सेवा करूँ ॥
 सवक करूँ जी सरौर जुग जुग बारण ।
 छोड़ छोड़ी कुल की लाज साहिब तेरे कारणों ॥
 थोड़-थोड़ लिखूँ सिलाम बहुत करि जाणज्यौ ।
 हाँ हो म्हारा नाथ सुनाय बिलम नहि कीजियै ।
 मीरा चरणों की दास दरस अब दीजियै ॥

[७६]

देखो सहियाँ हरि मन काटो कियो ।
 आवन कह गयो अर्जुन आयो करि-करि बचन गयो ।
 खान-पान सब सुध-बुध बिसरी कैसे करि मैं जियो ॥
 बचन तुम्हारे तुमही बिसारे मन मेरो हर लियो ।
 मीरा कहै प्रभु गिरधर नगर तुम बिन फटत हियो ॥

[७७]

पिया मोहि दरसण दीजै हो ।
 बेर - बेर मैं टेरहूँ अहै किरपा कीजै हो ।
 जेठ महीने जल बिना पंछी दुख होई हो ।
 मोर असाइँ कुरलहे धन चात्रग सोई हो ॥
 सावण मैं झड़ लागियो सखि तीजाँ खेल हो ।
 भादरवं नदिया बहै दूरी जिन मैले हो ॥
 सीप स्वाति हो खेलती आसोजाँ सोई हो ।
 देव काती मैं पूजहे मेरे तुम होई हो ॥
 मगसर ठंठ बहोती पड़ै मोहि बेगि सँभालो हो ।
 पोस मही पाला घणा अबही तुम न्हालो हो ॥
 महामही वसन्त पंचमी फागाँ सब गावै हो ।
 फागुण फागाँ खेलहूँ बणराइ जरब हो ॥
 चैत चित्त मैं ऊपजी दरसण तुम दीजै हो ।
 वंसाख बणराई फूलवं कोइल कुरलीजै हो ॥
 काग उड़ावत दिन गया बूझूँ पिडत जोसी हो ।
 मीरा बिरहणि व्याकली दरसण कद होसी हो ॥

[७७] इस 'बारहमासे' में मीरा का ददंभरा हृदय धुलता दीख रहा है । अन्त में 'काग उड़ावत दिन गया' में कितनी गहरी उदासी है !

[७८]

म्हारे घर आज्यो प्रीतम प्यारा तुम विन सब जग खारा ॥
तन मन धन सब भेंट करूँ ओ भजन करूँ मैं यारा ।
तुम गुणवंत बड़े गुण सागर मैं हूँ जी श्रौगणहारा ॥
मैं निगुणी गुण एको नहीं तुझमें जी गुण सारा ।
मीरा कहे प्रभु कबहि मिलोगे विन दरसन दुखियारा ॥

[७९]

वारी-वारी हो राम हूँ वारी, तुम आज्या गली हमारी ।
तुम देख्याँ विन कल न पड़त है जोऊँ बाट तुम्हारी ॥
कूण सखीं सूं तुम रंग राते हम सूं अधिक पियारी ।
किरपा कर मोहि दरसन दीज्यो सब तकसीर बिसारी ॥
तुम सरणागत परम दयाला भवजल तार मुरारी ।
मीरा दासी तुम चरणन की बार-बार बलिहारी ॥

[८०]

तुम आज्यो जी रामा आवत आस्याँ सामा ।
तुम मिलिया मैं बहूँ सुख पाऊँ सरें मनोरथ कामा ।
तुम बिच हम बिच अन्तर नहीं जैसे सूरज घामा ।
मीरा मन के और न माने चाहे सुन्दर स्यामा ॥

[८१]

कोई कहियो रे प्रभु आवन की ।
आवन की मनभावन की ॥
आप न आवं लिख नहि भेजै बाँण पड़ी ललचावन की ।
ए दोइ नैना कह्यो नहि मानं नदिया बहै जैसे सावन की ॥
कहा करूँ कछु नहि बस मेरो पाँख नहीं उड़ जावन की ।
मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ॥

[८१] यह मीरा के सर्वोत्तम गीतों में सर्वश्रेष्ठ है । इसके संगीत और लय पर ध्यान दीजिए—विरहिणी का रूप सामने आ जाता है, विरह से विदग्ध पर पुनर्दर्शन की मधुमयी आशा में—इस उत्सुक अभिलाषा में कि अब कोई आए और 'उनके' आने की खबर दे दे ।

बाँण = आदत । दाँवन = दामन ।

[८२]

भोजि म्हाँरो दाँवन चीर सावणियों लूम रह्यो रे ।
 आपतो जाय विदेसों छाये जिवड़ों धरत न धीर ॥
 लिख-लिख पतियाँ संदेसा भेजूं कब घर आवे म्हाँरो पीव ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर दरसन दोने बलबीर ॥

[८३]

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूँ लिख भेजूं रे पाती ॥
 स्याम सनेसो कबहूँ न दीन्हों जानि-बूझि गुम्बुवाती ।
 डगर बुहाळूँ पंथ निहाळूँ रोय-रोय अँखियाँ राती ॥
 तुम देख्या बिन कल न पड़त है हीयो फटत मेरी छाती ।
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे पूरव जनम का साथी ॥

[८४]

गोबिन्द कबहूँ मिलै पिया मेरा ।
 चरण कवल कूँ हँसि-हँसि देखूँ राखूँ नैणाँ नेरा ।
 निरखण कूँ मोहि चाव घणरो कब देखूँ मुख तेरा ॥
 व्याकुल प्राण धरत नाहि धीरज मिलि तूँ भीत सबेरा ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताप तपन बहु तेरा ।

[८५]

राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ ।
 दरसन बिना मोहि कछु न सुहावे जक न पड़त है अँखिड़ियाँ ॥

[८३] 'पूरव जनम का साथी'

Emotional mysticism begins with personal affection. The earthly beloved becomes too good for human nature's daily food, arouses aesthetic delight and becomes the subject and later the symbol of aesthetic contemplation. Gradually the symbol empties itself of its earthly associations and we have a glorious Vision of Beauty bedecked with light that never was on sea and land. It is still the Beloved, but both the earthly lover and the Beloved are now transformed. I am the lover and Thou art the Beautiful. Beauty appears in ever new guise and yet the eyes do not have their fill.

गुम्बुवाती = मन ही मन धुँधुआना ।

तलफत-तलफत बहु दिन बीता पड़ी विरह की पासड़ियाँ ।
 अब तो बेगि दया करि साहिब में तो तुम्हारी दासड़ियाँ ।
 नैण दुखी दरसण कू तरसै नागिन बँठे साँसड़ियाँ ।
 राति दिवस यह आरति मेरे कब हरि राखे पासड़ियाँ ।
 लगी लगनि छूटण की नाहीं अब क्यूँ कोजै आँसड़ियाँ ।
 मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे पूरी मन की आसड़ियाँ ॥

[८६]

आवो सहेल्या रली करौं हे पर घर गवण निवारी ।
 झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति ।
 झूठा सब आभूषणा री साँची पियाजी री प्रीति ।
 झूठा पाट पटंबरा रे झूठा दखणी चीर ।
 साँची पियाजी री गूदड़ी जामें निरमल रहे सरीर ॥
 छप्पन भोग बूहाइ दे हे इन भोगनि में दाग ।
 लूण अलूणो ही भलो हे अपने पियाजी रो साग ॥
 देखि विराणं निवाँण कू हे, क्यूँ उपजावै खोज ।
 कालर अपने ही भलो हे जामें निपजं चीज ॥
 छैल विराणो लाख को हे अपने काज न होइ ।
 ताके संग सिधारणाँ हे भला न कहसो कोइ ॥
 वर हीणो अपने भलो हे कोड़ी कुष्टी कोइ ।
 जाके संग सिधारताँ हे भला कहै सब सोइ ॥
 अविनासी सूं बालमा हे जिन सूं साँची प्रीति ।
 मीरा कू प्रभु मिलिया हे, एही भगति की रीति ॥

[८५] घणो उमावो = तीव्र लालसा, प्रबल उमंग । प्राणेश्वर की प्रीति के अतिरिक्त सब-कुछ व्यर्थ है । उस 'अविनासी बालम' को वरण कर जीवन 'अचल सुहाग' पा जाता है । गोपियों ने कहा है—'प्रेष्ठो भवास्तनुमृतां किल बन्धुरात्मा' ।

Let Him kiss me with the kisses of His mouth
 For thy love is better than wine
 Behold Thou art fair, my Beloved, yea pleasant
 Also our bed is green
 His left hand is under my head
 And His right hand doth embrace me.

—Old Testament.

[८६] प्रियतम के सान्निध्य एवं संस्पर्श के कारण सब-कुछ सुखद एवं सुन्दर लगता है । पदार्थों में अपनी सुन्दरता नहीं है । उसकी सुन्दरता का एकमात्र हेतु यही है कि वह प्यारे की प्रीति में सराबोर है ।

अभिसार

[८७]

चलो अगम के देस काल देखत डरे ।
वहाँ भरा प्रेम का हीज हँस केल्याँ करे ॥
ओढ़ण लज्जा चीर धीरज को घाँघरो ।
छिपता काँकण हाथ सुमति को मून्दरो ॥
दिल दुलड़ी दरियाव साँच को दोवड़ो ।
उबटन गुरु को ज्ञान ध्यान को धोवणो ॥
कान अखोटा ज्ञान जुगत को झूटणो ।
बेसर हरि को नाम चूड़ो चित ऊजसो ॥
जीहर सील संतोष निरत को घूँघरो ।
बिंदली गज अरु हार तिलक मुख्यान को ॥
सज सोलह सिणगार पहिर सोने राखड़ी ।
साँवलियाँ सूँ प्रीति और सूँ आखड़ी ॥
पतिबरता की सेज प्रभुजी पधारिया ।
गावे भीराबाई दासी कर राखिया ॥

[87-112] The wild tale of pathos shall ever remain writ large on the Temple of love. She lived on tears and she slept on tears : this shall be the language of love in which Mira will go down to posterity. This child of the Lord, nursed in the heart of worldly circumstances feeling disgusted with the obstruction placed on her meeting freely her Divine Beloved directed her course to those very regions where His kingdom lay; where the mad raving of the world could not reach her. She had started in search of a place where she could lie undisturbed in the thoughts of her Beloved. While freedom was her creed and liberty her watchword : the slaves of forms, formalities and dogmas could not understand her. Her bondage lay in her love for the Beloved and the subtle chains of love that she put on herself were not visable to many eyes.

—The Story of Mirabai

[८८]

गली तो चारों बन्द हूँ मैं हरि सँ मिलूँ कैसे जाइ ।
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराइ ॥
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाइ ।
ऊँचा नीचा महल पिया का हमसे चढ़ा न जाइ ।
पिया दूर पंथ म्हाँरों शीणो मुरत झफोला खाइ ॥
कोस कोस पर पहरा बँड्या पेंड पेंड बटमार ।
हे विधना कैसी रच दीन्हों दूर बसायो म्हाँरों गाँव ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सतगुर दई बताय ।
जुयन जुगन से बिछड़ी मीरा घर में लीन्ही लाय ॥

[८९]

तेरो कोई नाहि रोकणहार मगन होइ मीरा चली ।
लाज सरम कुल की मरजादा सिर सँ दूरि करी ॥
मान अपमान बोऊ घर घरकें निकली हूँ ग्यान गली ।
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया निरगुण सेज विद्यो ॥
पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।
बाजूबंद कड़ूला सोहै सिन्दुर माँग भरी ॥
सुभिरण थाल हाथ में लीन्हा तोमा अधिक खरी ॥
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है। आज घरी ।
तुम जावो राणा घर अपणे मेरी तेरी नहीं सरी ॥

[९०]

बरजे में काहू की नाहि रहूँ ।
सुनी री सखी तुम चेतन होइ कै मन की बात कहूँ ॥
साधु-संगति करि हरि सुख लीजें जग सँ दूरि रहूँ ।
तन धन मेरे सबही जावो भलि मेरो सीस लहूँ ॥

[८९] आज पिय की सेज पर पीड़ने की शुभ घड़ी आ गई है । मीरा ने आज सोलहों श्रृंगार किया है और वह प्रीतम से मिलने के लिए अभिसार कर रही है । इस समय इसे रोकनेवाला भला कौन है ?

[९०] स्मरण का चसका ऐसा है कि जब लग जाता है तब साख कोई मना करे या बरजे, वह एक क्षण के लिए भी छूटता ही नहीं । उस रस में शरीर, मन, प्राण सभी के सभी सराबोर हो जाते हैं—बाहर आने की इच्छा ही नहीं होती । यही इस 'अमल' की विशेषता है ।

मन मेरो लागो सुमिरण सेती सबका मैं बोल सहैं ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी सतगुरु सरण गहैं ॥

[६१]

राणा जी म्हानि या बदनामी लागे मीठी ।
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूंगी चाल अनूठी ॥
साँकली गली में सतगुर मिलिया बयूँ कर फिखेंगी अपूठी ।
सतगुर जी सूँ बातों करसाँ दुरजन लोगों ने दीठी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो जा अंगेठी ॥

[६२]

सुरत दीनानाथ सूँ लगी तूँ तो समझ सुहागण नार ।
लगनी लहेंगो पहर सुहागण बीती जाय बहार ।
धन जोबन है परबणा री मिले न डूजी बार ॥
रामनाम को चूड़लो पहिरो प्रेम को सुरमो सार ।
नकबेसर हरिनाम की री उतर चलोनी परले पार ॥
ऐसे वर को क्या वरूँ जो जन्मे ओ मर जाय ।
वर बरियो एक साँवरो री (मेरो) चूड़लो अमर होय जाय ॥
मैं जान्यों हरि मैं ठग्यो री हरि ठग ले गयो मोय ।
लख चौरासी मोरचा री छिन में गेरया छैं विगोय ॥
सुरत चली जहाँ मैं चली री कृष्ण नाम शणकार ।
अविनासी की पोल पर जी मीरा करे छैं पुकार ॥

[६३]

इन सरबरियाँ पाल मीरा बाई साँपड़े ।
साँपड़े कियो असनान सुरज स्वामी जप करे ॥
होय बिरंगी नार डगराँ बिच बयूँ खड़ी ।
कहाँ थारो पीहर दूर घराँ सासू लड़ी ॥
नाहिं म्हारो पीहर दूर ना घराँ सासू लड़ी ।
चल्यो जा रे असल गुँवार तनै म्हारो के पड़ी ॥
गुरु म्हाराँ दीनदयाल होराँ रा पारखी ।
दियो म्हानें ग्यान बताय संगत कर साध री ॥
इन सरबरिया रा हँस सुरंग थारो पाँखड़ी ।
राम मिलन कद होय फड़वकं म्हारो आँखड़ी ॥

राम गये बनबास कूं सब रंग ले गए ।
ले गए म्हांरी काया को सिंगार तुलसी री माला दे गए ।
खोई कुल की लाज मुकुंद थारे कारणे ।
बेगृही लीज्यो संभाल मीरा पड़ी वारणे ॥

[६४]

नहिं भावै थारो देसलड़ो रंगरुड़ो ।
धारां देसां में राणा साध नहीं छै लोग बसै सब कूड़ो ॥
गहणा गांठी राणा हम सब त्याग्या लाग्यो करारो चूड़ो ।
काजल टीकी हम सब त्याग्या त्यायो है बांधन जूड़ो ॥
मेवा मिसरी में सब ही त्याग्या छै सक्कर बुरो ।
तन की आस कबहुँ नहिं कीनो ज्यूँ रण माही सुरो ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बर पायो में पूरो ॥

[६५]

आज हमारो साधुजन नो संगरे राणा म्हांरा भाग भल्यां ।
साधु जननो संग जो करिए चढ़े ते चौगणों रंग रे ।
साफट जनन तो संग न करिये पड़े भजन में भंग रे ।
अइसठ तीरथ संतों ने चरणे कोटि कासी ने सोय गंग रे ॥
निन्दा करसे नरककुंड मां जासे थासे आंधला अंपंग रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतों नी रज म्हांरे अंग रे ॥

[६६]

राम तने रंगराची राणा में तो साँवलिया रंग राची रे ।
ताल पखावज मिरदंग बाजा साधां आगे नाची रे ॥
कोई कहे मीरा भई बावरी कोई कहे मदमाती रे ।
बिष का प्याला राणा भेज्या अमृत कर आरोगी रे ॥
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर जनम जनम की दासी रे ॥

[६७]

राणा जी थे क्यां ने राखो म्हांसूँ बैर ।
थे तो राणाजी म्हांने ईसड़ा लागे ज्यों ब्रच्छन में कैर ।
मूँल अटारी हम सब त्याग्या त्याग्या थारो वसनो सहर ॥
काजल टीकी राणा हम सब त्याग्या भगवीं चावर पहर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इमरित कर दियो जहर ॥

[६८]

सिसोद्यो रुठ्यो तो म्हांरो कांड करलेसी ।
 म्हें तो गुण गोविंद का गास्यां हो माई ॥
 राणा जी रुठ्यो वारो देस रखासी ।
 हरि रुठ्यां कुम्हलास्यां हो माई ॥
 लोक लाज की काण न मानूं ।
 निरभे निसाण घुरास्यां हो माई ॥
 राम नाम का ज्ञान चलास्यां ।
 भवसागर तर जास्यां हो माई ॥
 मीरा सरण सांबल गिरधर की ।
 चरण कंवल लपटास्यां हो माई ॥

[६९]

राणाजी म्हांरो प्रीत पुरबली में काई करूं ।
 राम नाम बिन घड़ी न सुहावे राम मिले म्हांरा हियरा ठहराय ॥
 भोजनियां नाहिं भावें म्हाने नींदलड़ी नाहिं धाय ॥
 विष को प्यालो भेजियो जी जावो मीरा पास ।
 कर चरणामृत पी म्हांरे गिरधर रो बिस्वास ॥
 विष का प्याला पी गई जी भजन करे राठोर ।
 धारी मारी न मरूं म्हांरो राखणहारो और । ।
 छापा तिलक बनाविया जी मन नस्चय धार ।
 रामजी काज संवारिया म्हाने भावे गरदन मार ॥
 पेट्यां वासुकि भेजिया जी यो छै मोती डोरो हार ।
 नाम गले में पहिरिया म्हांरे महलां भयो उजार ॥
 राठौंडांरी धीयड़ी जी सीसोद्यारे साब ।
 जे जाती बंकुंठ कूं म्हांरी नेक न मानो बात ॥
 मीरा दासी राम की जी राम गरीबनिवाज ।
 जन मीरा को राखज्यो कोई बाह गहे की लाज ॥

[१००]

राणाजी बें जहर दियो म्हे जाणी ।
 जैसे कंचन दहत अगिन में निकसत बारह बाणी ।
 लोक लाज कुल काण जगत की दइ बहाय जस पाणी ॥

अपने घर का परदा कर ले मैं अबला धीराणी ।
तरफस तीर लग्यो मेरे हियरे घरक गयो सनकाणी ॥
सब संतन पर तन मन वारों चरण कँवल लपटाणी ।
मीरा को प्रभु राखि लई है दासी अपणी जाणी ॥

[१०१]

यो तो रंग घत्तां लग्यो ए माए ।
पिया पियाला अमर रस का चढ़ गई धूम धुमाय ।
यां तो अमल म्हांरे कबहुँ न उतरे कोटि करो उपाय ॥
साँप पिटारी राणा जी भेज्यो छो मेड़तणी गल डार ।
हँस हँस मीरा कंठ लगायो यो तो म्हांरे नौसर हार ॥
बिष को प्यालो राणाजी भेज्यो छो मेड़तणी प्याय ।
कर चरणामृत पा गई रे गुण गोविन्द रा गाय ।
पिया प्याला नामका रे और न रंग सोहाय ॥
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर कांचो रंग उड़ जाय ॥

[१०२]

मैं गोविन्द गुण गास्यां ।
राजा छठे नगरी राखै हरि छट्याँ कहै जास्यां ।
राण भेज्या जहर पियाला इमरित करि पी जाणा ॥
इबिया मैं भेज्या ज भुवंगम सालिगराम करि जाणा ।
मीरा तो अब प्रेम दिवाणी साँवलिया वर पाणा ॥

[१०३]

म्हांसूँ हरि बिन रह्यो न जाय ।
सास लई मेरी ननद खिजावे राणा रह्या रिसाय ।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो ताला दियो जड़ाय ॥
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूँ छोड़ी जाय ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर और न आवे म्हांरी बाय ॥

[१०४]

अब नाहि बिसरूँ म्हांरे हिरदे लिख्यो हरि नाम ।
म्हांरे सतगुरु दियो बताय अब नाहि बिसरूँ रे ॥
मीरा बँटी महल में रे ऊठत बँठत राम ।
सेवा करस्यां साधु की म्हांरे और न दूजा काम ॥

राणाजी बतलाइया काँइ देणो जवाव ।
 मण लागो हरिनाम सूं म्हारों दिन दिन दूना लाभ ॥
 सोप भर्यो पाणी पिवे रे टाँक भर्यो धन्न खाय ।
 बतलाया बोलो नहीं रे राणोजी गया रिसाय ॥
 विवरा प्याला राणाजी भेज्या दीजो मेड़तणी हाथ ।
 कर चरणामृत पी गई म्हारां सबल धणी का साथ ॥
 विष की प्यालो पी गई भजन करे उस ठौर ।
 थांरा मारी ना मरूँ म्हारा राखणहारो श्रीर ॥
 राणो जी भो पर कोप्यो रे मारूँ एक न सेल ।
 मार्यां पराद्धित लागसी म्हाने दीजो पीहर मेल ॥
 राणो मोपर कोप्यो रं रती न राख्यो मोद ।
 ले जाती बँकुंठ में यो तो समझ्यो नहीं सिसोद ॥
 छापा तिलक बनाइया तजिया सब सिगार ।
 म्हें तो सरणे राम के भल निन्दा संसार ॥
 माला म्हारे देवड़ी सोल बरत सिगार ।
 अबके किरिपा कीजियो, हूँ तो फिर बांधू तलवार ॥

[१०५]

रथां बेल जुताय कं ऊटां कसियो भार ।
 कैसे तोड़ूं राम सूं म्हारो भो भो रो भरतार ॥
 राणो साँड्यो मोकल्यो जाज्यो एके दौड़ ।
 कुल को तरण अस्तरी या तो मुरड़ चली राठोड़ ॥
 साँड्यो पाछो फेर्यो रे परत न देख्यां पाँव ।
 करसूरापण नीसरो म्हारे कुण राणे कुण राव ॥
 संसारी निन्दा करे रे दुखियो सब संसार ।
 कुल सारो हो लाजसी मीरा थें जो भया जो ख्वार ॥
 राती माती प्रेम की विष भगत को मोड़ ।
 राम अमल माती रहै धन मोरा राठोड़ ॥

[१०६]

मीरा - माई म्हाने सुपणों में परण गया जगदीस ।

सोती को सुपना आविया जी सुपना विस्वा बीस ॥

मा— गँली बीछे मीरा बावली सुपणा अल जञ्जाल ।

मीरा—माई म्हाने सुपने में परण गया गोपाल ॥
 अंग अंग हल्दी में करी जी सूखे भीज्यो गात ॥
 माई म्हाने सुपने में परण गया बीनानाथ ॥
 छप्पन कोटि जहाँ जान पधारे कुलहा श्री भगवान् ॥
 सुपने में तोरन बाँधियो जी सुपने में आई जान ॥
 मीरा को गिरधर मिल्या जी पूर्व जनम के भाग ॥
 सुपने में म्हाने परण गया जी हो गया अचल सुहाग ॥

[१०७]

कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊँ री ।
 उदक दादुर पीनवत है जल से ही उपजाई ॥
 पल एक जल कूँ भीन बिसरै तलफत मरजाई ।
 पिया बिन पीली भई रे ज्यों काठ घुन छाया ॥
 औषध मूल न संचरै रे (बाला) बंद फिरजाय ।
 उदासी होय बन बन फिरूँ रे बिथा तन छाई ॥
 दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या है सुखदाई ।

[१०८]

तूँ मत गरजे माइ री साधाँ दरसन जाती ।
 राम नाम हिरदै बसे माहिले भवमाती ॥
 माई कहै सुन धीहड़ी काहे गुण फूली ।
 लोक सोवै नीदड़ी थें क्यों रंणज मूली ॥
 गेली दुनिया बावली ज्याँ कूँ राम न भावै ।
 ज्याँ रे हिरदे हरि बसे त्याँकूँ नीद न आवै ॥
 चौबास्याँ की बावड़ी ज्याँकूँ नीर न पीजै ।
 हरि नाले अमृत भरै ज्याँकी आस करीजै ॥
 रूप सुरंगा रामजी मुख निरखत जीजै ।
 मीरा व्याकुल विरहिणी अपणी कर लीजै ॥

[१०९]

म्हाना गुरु गोबिन्द री आण गोरल ना पूजाँ ।
 और ज पूजै गोरज्याँ जी थें कूँ पूजो न गोर ।
 मन बंदत फल पावस्यो जी थें क्यों पूजे और ॥
 नहिं हम पूज्याँ गोरज्याँ जी नहिं पूजा अनदेव ।
 परम सनेही गोबिंदो थें काँई जानो म्हारो भेव ॥

बाल सनेही गोविंदो साध संतां को काम ।
 बं बेटी राठोड़ की धाने राज दियो भगवान् ॥
 राज करे ज्यांना करणे दीज्यो में भगतारी दास ।
 सेवा साधू जनन की म्हारे राम मिलण की आस ॥
 लाजं पीहर सासरो माइतणो मोसाल ।
 सबही लाजं मेइतिया जी थांसू बुरा कहे संसार ॥
 चोरी करी न मारगी नहि में कहे अफाज ।
 पुन्न के मारग चालतां शक मारो संसार ॥
 नहि में पीहर सासरे नह पियाजी रो साध ।
 मीरा ने गोविंद दिल्या जी गुरु मिलिया रदास ॥

[११०]

ऊदा— धाने बरज बरज में हारी भाभी मानो बात हमारी ।
 राणे रोस कियो थां ऊपर साधां में मत जा री ॥
 कुल को दाग लग छै भाभी निन्दा हो रही भारी ।
 साधां रे संग बन बन भटको लाज गमाई सारी ॥
 बड़ा घर थे जनम लियो छै नाचो दे दे तारी ।
 बर पायो हिववाणें सूरज थे काई मन धारी ॥
 मीरा गिरधर साध संग तज चलो हमारी लारी ।

मीरा—मीरा बात नहीं जग छानी ऊदा समझो सुधर सयानी ।
 साधू भात पिता कुल मेरे सजन सनेही म्यानी ॥
 संत चरण की सरण रंण दिन सत्त कहत हूँ बानी ।
 राणा ने समझावो जावो में तो बात न मानी ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतां हाथ बिकानी ॥

ऊदा—भाभी बोलो बात बिचारी ।
 साधां की संगत दुख भारी मानो बात हमारी ।
 छापा तिलक गलहार उतारो पहिरो हार हमारी ॥
 रतन जड़ित पहिरो आभूषण भोगो भोग अपारी ।
 मीरा जी धें चलो म्हेल में धाने सोमन म्हारी ॥

मीरा—भाव भगत भूषण सजे सील संतां सिंगार ।
 ओड़ी चूनर प्रेम की म्हारो गिरधर जी चरतार ॥
 ऊदाबाई मन समझ जावो अपने धाम ।
 राज पाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूं काम ॥

[१११]

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय ।
 साँप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दियो जाय ।
 न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम भई पाय ।
 जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय ।
 न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अँचाय ॥
 सूल सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुलाय ।
 साँस भई मीरा सोवन लागी मानो फूल बिछाय ॥
 मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे बिघन हटाय ।
 भजन भाव में मस्त बोलती गिरघर पै बलि जाय ॥

[११२]

मुझ अबला ने माटी नीरांत चई ।
 सामलो घरेनुं म्हारे साँचे रे ॥
 बाली गड़ाऊँ बीठल वर केरी हार हरि ने म्हारी हृदये रे ।
 बीन माल चतुरभुज चूड़लो सिद सोनी घरे जइये रे ॥
 झाँझरिया जगजीवन केरा किस्न गलाँ री कंठी रे ।
 बिधुवा घुंघरा राम नरायण अनवट अन्तरजामी रे ॥
 पेटी घड़ाऊँ पुरुषोत्तम केरो टीकम नाम नूं तालो रे ।
 कुँची कराऊँ करनानन्द केरी तेमाँ घणानूं माहूँ रे ॥
 सासर बासो सजोने बँठी हवे नथी काइ काँचूं रे ।
 मीरा के प्रभु गिरघर नागर हरिनुं चरणे जाचूं रे ॥

मिलन और आनन्दोन्माद

[११३]

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे ।
में तो मेरे नारायण की आपहि हो गई बासी रे ।
लोग कहें मीरा भई बावरी न्यात कहें कुलनासी रे ॥
विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हांसी रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे ॥

[११४]

रंग भरी रंग भरी रंग सूं भरी री ।
होली आई प्यारी रंग सूं भरी री ॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल पिचकारिनि की लगी भरी री ।
चोवा चन्दन और अरगजा केसर गागर भरी घरी री ॥
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चेरी होय पावन में परी री ॥

[113-15] "No words can express the wonderful love and the ecstasy of happiness that was shed abroad in my heart. I wept aloud with joy and love and I do not know but I should say I literally bellowed out the unutterable gushings of my heart. These waves came over me and over me and over me one after the other, until I recollect I cried out. I shall die if these waves continue to pass over me."

President Finnes's accounts in The Varieties of Religious Experiences 255

The difference between trance and transport (ecstasy) is this. In a trance the soul gradually dies to outward things, losing the senses and living unto God. But a transport came on by one sole act of His Majesty wrought in the innermost part of the soul with such swiftness that it is as if in the higher part thereof were carried away and the soul were leaving the body. Rapture comes in general as a shock quick and sharp, before you

[११५]

बदला रे तू जल भरि ले आयो ।
छोटी-छोटी बूंदन बरसन लागी कोयल सबद सुनायो ।
गाजं बाजं पवन मधुरिया अम्बर बदरां छायो ॥
सेज सँवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी भाग भलो जिन पायो ॥

[११६]

जोसीड़ा ने लाख बघाई रे अब घर आये स्याम ।
आजि आनन्द उमगि भयो है जीव लहै सुखधाम ॥
पाँच सखी मिलि पीब परसि कं आनन्द ठामूँ ठाम ।
बिसरि गई दुख निरखि पिया कूँ सुफल मनोरथ काम ॥
मीरा के सुख सागर स्वामी भवन गवन कियो राम ।

can collect your thoughts or help yourself in any way. You see and feel it as a cloud, or a strong eagle rising upward and carrying you away on its wings. You feel and see yourself carried away, you know not whither. This supreme state of ecstasy never lasts long, but although it ceases it leaves the will so inebriated and the mind so transported out of itself that such a person is incapable of attending to any thing, although wide awake. She seems asleep as regards all earthly matters."

—St. Teresa

[११५] बरसात तो यों सर्वत्र ही सुखद और सुहावनी होती है, पर राजस्थान में उसका और ही आनन्द है क्योंकि मेघ के दर्शन वहाँ दुर्लभ होते हैं । मेघ उधर गरजने-लरजने लगते हैं इधर मोर बोलने लगते हैं और पंख पसारकर नाचने लगते हैं । मिलन के समय यह सारा दृश्य मीरा के हृदय को गुदगुदा रहा है, क्योंकि 'सेज सँवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो' । सप्त प्रकृति इस मिलन-वेला में मधु घोल रही है । मीरा का सारा वातावरण सुहावना और सजीला हो गया है क्योंकि यह प्रिय-मिलन का समय है ।

[११६] इस पद में मिलनजन्य आनन्दोल्लास का बड़ा ही भव्य एवं मनोहारी चित्रण है 'बिसरि गई दुख निरखि पिया कूँ' में कितनी स्वाभाविक उल्लासपूर्ण सुखानुभूति की दिव्य व्यंजना है । 'उसे' पाकर जन्म-जन्म के प्यासे प्राण जुड़ा गए, परितृप्त हो गए ।

[११७]

रे साँवलिया म्हारे आज रंगीलो गणगोर छै जी ।
 काली-पीली बदली में बिजली चमके मेघ घटा घनघोर छै जी ॥
 दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोर छै जी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणों में म्हारो जोर छै जी ॥

[११८]

झुक आई बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की ।
 सावन में उमंग्यो मेरो मनवा मनक सुनी हरि आवन की ।
 उमड़-धुमड़ चहुँ दिसि से आयो दामिण दमक झर लावन की ।
 नाँहीं नाँहीं बँदन मेहा बरसँ सीतल पवन सोहावन की ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर आनन्द भंगल गावन की ।

[११९]

सावण वे रह्या जोरा रे घर आयो जी स्याम मोरा रे ।
 उमड़-धुमड़ चहुँ दिसि से आया गरजत है घनघोरा रे ।
 दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोरा रे ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर जो बाहूँ सो ही घोरा रे ॥

[१२०]

साजन घर आवो मिठबोला ।
 कब की ठाढ़ी पंथ निहाहूँ बाँ हीं आया होंसी नला ।
 आवो निसंक संक मत मानो आयो ही मुख रहला ।
 तन-मन बार करूँ न्योछावर दीजो स्याम मोहेला ॥
 आतुर बहुत बिलम नहिं करणा आयीं ही रंग रहेला ।
 तेरे कारण सब रंग त्यागा काजल तिलक तमोला ॥
 तुम देख्याँ बिन कल न परत है कर घर रही कपोला ।
 मीरा दासी जनम-जनम की दिल की घुण्डी खोला ॥

[१२१]

सहेनियाँ साजन घर आया हो ।
 बहोत दिनाँ की जोवती बिरहणि पिय पाया हो ।
 रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो ।
 पिया का दिया सनेसड़ा ताहि भोत निवाजूँ हो ॥

पाँच सखी इकट्ठी भई मिलि मंगल गावै हो ।
 पिय का रली बधावर्णां आणव ध्रंगि न आवै हो ॥
 हरि सागर सँ नैहरो नेणां बँप्या सनेह हो ।
 मीरा सखी के आंगणें दूधां ब्रूठा मेह हो ॥

[१२२]

म्हारी ओलगिया घर आया जी ।
 तन की ताप मिटी सुख पाया हिल मिल मंगल गाया जी ॥
 धन की धुन मुनि मोर भगन भया यूँ आणव आया जी ।
 भगन भई मिलि प्रभु अपणां सँ भौ का वग्ध मिटाया जी ॥
 चंद कूँ देखि कमोदनी फूलें हरखि भया मेरी काया जी ।
 रग रग शीतल भई शोरि सजनी हरि मेरे महल सिधाया जी ॥
 सब भगतन का कारज कींहा सोई प्रिय में पाया जी ।
 मीरा विरहणि शीतल होई दुख दुन्द न्हाया जी ॥

[१२३]

म्हें तो राजी भई मेरे मन में मोहि मिया मिले इक छिन में ।
 पिया मिल्पा मोहि किरिया कींहीं बीदार दिखाया हरि ने ॥
 सतगुरु सबद लखायो असरी ध्यान लगाया धुन में ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर भगन भई मेरे मन में ॥

[१२१] विरहिणी युग-युग से प्रीतम प्यारे की प्रतीक्षा में थी। आज वह 'उसे' पाकर निहाल हो रही है। इस मधुर मंगल मिलन में आनन्द उमड़ा-उमड़ा फिरता है, हृदय में समा नहीं रहा है। पिया ने आने को संदेश भेजा था, वह आज सच निकला, और इसलिए विरहिणी कह रही है कि मैं अपने प्यारे के संदेश का बहुत आदर करती हूँ क्योंकि वह मेरा प्रियतम अपनी बात का सच्चा है। आज आनन्द-मंगल का क्या कहना! जिस प्रकार सागर से बूँदें उठकर फिर मेघ रूप में कहीं बरस जाती हैं, इसी प्रकार हरि रूपी सागर से नेह की बूँदें उठकर आज मीरा के आँगन में भ्रमाभ्रम बरस रही हैं।

[१२२] एक बार प्रभु के शीतल अमृत स्पर्श का अनुभव कर लेने पर तन का सारा ताप, हृदय की सारी व्यथा मिट जाती है और जन्म-जन्म के संकट क्षण में दूर हो जाते हैं। हृदय के अन्दर एक अपूर्व आधार और भरोसा बना रहता है। चन्द्रमा को देखकर जिस प्रकार कुमुदिनी खिल उठती है वैसे ही मीरा का हृदय, मन, प्राण, उसका रोम-रोम खिल उठा है, रग-रग शीतल हो गया है।

[१२४]

चालां वही देस प्रीतम चालां वाही देस ।
 कहो कसूनल साड़ी रेंगावा कहो तो भगवां भेस ॥
 कहो तो मोतियन माँग भरावा कहो छिटकावा केस ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुणज्यो बिड़द नरेस ॥

[१२५]

फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे ।
 बिन करताल पलावज बाजै अन्हद की अनकार रे ॥
 बिन सुर राग छर्तीसूं गावै रोम रोम रंग सार रे ।
 सील सतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकारी रे ॥
 उड़त गुलाल लाल भए बादल बरसत रंग अपार रे ।
 घट के पट सब खोल दिए हैं लोक साज सब डार रे ॥
 होरी खेलि पीव घर आए सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल बलिहार रे ॥

[१२६]

बाल्हा में बैरागिन हूँगी हो ।
 जीं जीं भेष म्हांरो साजन रीझं सोइ भेष धरूँगी हो ॥
 सील संतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी हो ।
 जाको नाम निरंजन कहिए ताको ध्यान धरूँगी हो ॥
 गुरु ग्यान रगूं तन कपड़ा मन मुद्रा फेरूँगी हो ।
 प्रेम प्रीत सूँ हरिगुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी हो ॥
 या तन की मैं करूँ कौंगरी रसना राम रदूँगी हो ।
 मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साधां संग रहूँगी हो ॥

[१२४] मीरा कह रही है, 'ऐ मेरे साजन', चलो नुम्हारे देस चलूँ। कहो तो कुमुम्भी साड़ो पहन लूँ, कहो तो भगवा वेव धारण कर लूँ, कहो तो माँग मोतियों से भरा लूँ या कहो तो केश बिखेर लूँ।'

राजस्थान में प्रायः सुहागिनें काली चौड़ी पाटियों पर मोतियों की खड़ियों से माँग सजाती हैं।

[१२७]

तू नागर नन्दकुमार तोस्यो लाग्यो नेहरा ।
 मुरली तेरी मन हरयो बिसरयो ग्रिह व्योहार ॥
 जब ते अचननि धुनि परी ग्रिह अंगना न मुहाइ ।
 पारधि ज्युं चूकै नहीं मृगी बेधि दई आइ ॥
 पानी पीर न जाणई भीन तलफि मरि जाइ ।
 रसिक मधुप के मरम को नहि समझत कवल सुमाइ ॥
 दीपक को जू दया नहीं उड़ि उड़ि मरत पतंग ।
 भीरा प्रमु गिरधर मिले जैसे पाणी मिल गयो रंग ॥

[१२८]

हमरे रौरे लागलि कैसे छूटै ।
 जैसे हीरा हनत निहाई तैसे हम रौरे बनि आई ॥
 जैसे सोना मिलत सोहागा तैसे हम रौरे दिल लागी ।
 जैसे कमल नाल बिच पानी तैसे हम रौरे मन मानी ॥
 जैसे चँदहि मिलत चकोरा तैसे हम रौरे मिल जोरा ।
 जैसे भीरा पति गिरधारी तैसे मिलि रहू कुंज बिहारी ॥

[१२७] सच्चा प्रेमी इस बात की ओह नहीं देखता कि उसका प्रिय पात्र उससे प्रेम करता है या नहीं, वह प्रेम करने में ही आनन्द पाता है। प्रेम का नशा बहुत ही मादक होता है। हरिणी वीणा के स्वर पर आनन्द-विभोर होकर मृत्यु की गोद में छलाँग मार जाती है। जल के बिना मछली का जीवन असम्भव है, परन्तु जल को उसकी व्याकुलता का क्या पता? भीरा काठ छेद देता है पर कमल-कोष में बन्दी हो जाता है और घुट-घुटकर प्राण दे देता है परन्तु कमल उस पर क्यों प्रीति करता है? शलभ दीपक पर अपने को निद्धावर कर देता है और भस्म हा जाता है, परन्तु निर्मम दीपक को उससे क्या गरज? इसी प्रकार वह 'निठुर' (हाय, 'निठर' कहते भी तो नहीं बनता, जो प्राणों को इतना प्रिय और इतना 'अपना' है उसे 'निठुर' कैसे कहा जाए?) भले ही द्रवित न हो अपना हृदय तो प्यार किए बिना नहीं मानता। मीरा कहती है कि मैं तो अपने साँवरे के रंग में यों धुल गई जैसे पानी में रंग धुल जाता है।

[128] Nothing can show God's grace more than that He pines for man. His chosen bride whose wordliness and pride refuse to surrender to the soft alluring melodies of the flute of a reed ever resounding since man's separation from God. God

[१२६]

म्हारी जनम मरण को साथी थाने नहिं विसरें दिन राती ।
 तुम देहियां बिन कल न पड़त है जानत मेरी छाती ॥
 ऊंची चढ़ चढ़ पंथ निहाळें रोय रोय अँखिया राती ।
 यो संसार सकल जग झूठो झूठा कुलरा न्याती ॥
 दोउ फर जोड़ियां अरज हूँ सुण लीज्यो मेरी बाती ।
 यो मन मेरो बड़ो हरामी ज्यूं मदमाती हाथी ॥
 सबगुह हस्त धर्यो सिर ऊपर आँकुस दे समझाती ।
 पल पल तेरा रूप निहाळें निरख निरख सुख पाती ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणों चित राती ।

[१३०]

आली म्हाने लागे वृन्दावन नीका ।
 घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसन गोविर्द जी को ।
 निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को ॥
 रतन सिधासन आप बिराजे मुगट धर्यो तुलसी को ।
 कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ।

lays aside all His godliness in order to win over man, He tries all the arts and wiles. The climax is reached when we read in Jaideva's 'Gita Govinda' of God cajoling man by saying, "Oh Thou ! surrender to me, the generous lotus feet !"

‘देहि मे पवपल्लवमुदारम् ।’

—*Theory and Art of Mysticism*

[१३०] यह पद तब का मालूम होता है जब मीरा ने अपने 'साजन' से मिलने के लिए 'अभिसार' किया था और वृन्दावन आई थी। इस पद में मीरा के आनन्द का कितना सुन्दर और स्वाभाविक उल्लासपूर्ण वर्णन है। 'कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को' में कितनी गम्भीर व्यंजना है ! यह स्वयं मीरा के हृदय की स्थिति है—स्वयं मीरा मुरली की मोहिनी में एक कुंज से दूसरे कुंजों में भटक रही है, उस 'न मिलने वाले,' उस 'ना ना की मधुर मूरत' को भर आँख देख पाने के लिए। वृन्दावन के वे कुंज अब भी प्रिया-प्रीतम की मिलन-माधुरी से उल्लसित और सुवासित हैं ।

[१३१]

बलो मन गंगा जमना तीर ।
गंगा जमना निरमल पानी सीतल होत सरीर ।
बंसी बजावत गावत कान्हो संग लियो बलबीर ॥
भोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडल झलकत हीर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर सीर ॥

[१३२]

हो कान्हा किन गूँधी जुलफाँ कारियाँ ।
मुघर कला प्रवीन हाथन सँ जसुमतिजू ने सँवारियाँ ॥
जो तुम आओ मेरी बाखरियाँ जरि राखूँ चंदन किवारियाँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इन जुलफन पर वारियाँ ॥

[१३३]

गोकुला के वासी भले ही आए गोकुला के वासी ।
गोकुल की नारि देखत आनन्द मुखरासी ॥
एक गावत एक नाचत एक करत हाँसी ।
पीताम्बर फेटा बांधे अरगजा सुवासी ॥
गिरधर-से मुनवल ठाकुर मीरा-सी वासी ॥

[१३४]

सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।
भोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडल की शकझोर ॥
बिद्रावन की कुंज गलिन में नाचत नन्द किसोर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चितचोर ॥

[१३५]

जागो बंसीवारे ललना, जागो मेरे प्यारे ।
रजनी बीती भोर भयो है घर घर खुले किवारे ।
गोपी दही मथत मुनियत है कँगना के झनकारे ॥

[१३५] प्रिय-जागरण का कितना मनोहर दृश्य है ! सवेरा हो गया है । घर-घर के किवाड़ खुल गए हैं । ग्वालिनें दही मथ रही हैं और दही मथते समय उनके हाथों के कँगन और चूड़ियाँ बज रही हैं । ग्वाल बाल आकर शोर मचा

उठो लाल जी भोर भयो है सुर नर ठाढ़े द्वारे ।
 ग्वालबाल सब करत कुलाहल जय जय सबद उचारे ।
 माखन रोटी हाथ में लीनी गडबन के रखवारे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर शरण आया कुं तारे ॥

[१३६]

गोहनें गुपाल फिहें ऐसी आवत मन में ।
 अवलोकत बारिज बदन बिबस भई तन में ॥
 मुरली कर लकुट लेऊं पीत बसन धाहें ।
 काधो गोप भेष मुकट गोधन संग चाहें ॥
 हम भई गुल्म लता वृन्दावन रंनौ ।
 पसु पंखो मरकट सुनी श्वन सुनत बैना ॥
 गुहजन कठिन कानि कासों री कहिए ।
 मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए ॥

[१३७]

स्याम म्हांसूं ऐडो डोले हो ।
 औरन सूं खेलै धमार म्हांसूं मुख हूँ न बोले हो ॥
 म्हांरी गलियां ना फिरै तैके आंगण डोले हो ।
 म्हांरी अंगुरी ना छुवै बाकी बहियां मोरै हो ॥
 म्हांरो अंचरा ना छुवै बाको धूँघट खोलै हो ।
 मीरा के प्रभु साँवरो रंगरसिया डोले हो ॥

रहे हैं—सब-के-सब हाथ में रोटी-माखन लिये हुए गाय चराने के लिए अपने प्यारे सखा कन्हैया को बुलाने आये हैं । ऐसे भोर के समय मीरा अपने प्राणाधार श्री गिरधर नागर को जगा रही है—'जागो बंसीबारे ललना, जागो मेरे प्यारे !' यह यशोदा का अपने कुँवर क जगाना नही है, यह प्रिया का अपने प्रियतम को जगाना है ।

[१३७] इस पद में प्रणय-जन्य ईर्ष्या का कितना सुन्दर एवं भावपूर्ण भ्रमस्पर्शी चित्र है जिसमें प्रेमिका अपने प्रणय देवता की 'निष्ठुरता' की मीठी-मीठी शिकायत कर रही है ।

[१३८]

ब्राली साँवरो की वृष्टि मानो प्रेम की कटारी है ।
 लागत बेहाल नई तन की सुधि - बुधि गई ॥
 तन - मन व्यापो प्रेम मानी मतबारी है ।
 सखियाँ मिलि बुड़ चारी बावरी सी नई न्यारी ॥
 हों तो बाको नीको जानो कुंज को बिहारी है ।
 चन्द को चकोर चाहै दीपक पतंग दाहै ॥
 जल बिना मीन जैसे तैसे प्रीत प्यारी है ।
 बिनती करो हे स्याम लागों में तुम्हारे पाँव ॥
 भीरा प्रनु ऐसे जानो दासी तुम्हारी है ।

[१३९]

प्रेमनी-प्रेमनी रे मन लागे कटारी प्रेमनी रे ।
 जल जमुना माँ भरवा गयाँ ताँ हतो गागर माथे हेमनी रे ॥
 कावे ते तातणे हरिजी ए बाँधो जेम खिचे तेम तेमनी रे ।
 भीरा कहे प्रनु गिरधर नागर साँवली सूरत सुभ एमनी रे ॥

[१४०]

माई मेरो मोहने मन हर्यो ।
 कहा कहे कित जाऊँ सजनी प्राण पुरुष सूँ बर्यो ।
 हूँ जल भरने जात थी सजनी कलस माथे धर्यो ।
 साँवरी सी किसोर मूरत कछुक टोनी कर्यो ॥
 लोक लाज बिसारि डारो तबहीं कारज सर्यो ।
 दासि भीरा लाल गिरधर छान ये बर बर्यो ।

[१४१]

छाँड़ो संगर मोरी बहियाँ गहो ना ।
 मैं तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना ।
 जो तुम बहियाँ मोरी गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना ॥

[138] The mystic sees a light that never was no sea and land. He hears a sound which ear has not heard. He conquers space and time. He becomes luminous in his ecstasy and exhales sweet perfumes. Even the birds and beasts of the forest love him such is the tenderness that he diffuses all around. Strange feelings surge from the unfathomable depths of his heart. The voice of the whole humanity is uttered in his prayer.

बृन्दावन की कुंज गली में रीत छोड़ अनरीत करो ना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना ॥

[१४२]

आवत मोरी गलियन में गिरधारी में तो छुप गई लाज की भारी ।
कुमुल पाग केसरिया जामा ऊपर फूल हजारी ।
मुकुट ऊपर छत्र विराजे कुंडल की छवि न्यारी ॥
केसरी चीर बरवाई को लहेंगे ऊपर अंगिया भारी ।
आवत देखो किसन [मुरारी छुप गई राधा प्यारी ॥
मोर मुकुट मनोहर सोहे नयनी की छवि न्यारी ।
गल मोतिन की माल विराजे चरण कमल बलिहारी ॥
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है सुणजे किसन मुरारी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर वारी ॥

[१४३]

भई हों बावरी सुन के बांसुरी हरि बिन कछु न सुहाये माई ।
जवन सुनत मेरी सुध-बुध बिसरी लगी रहत तामें मनकी गांसुरी ।
नेम धरम कोन कोनी मुरलिया कोन तिहारे पासु री ।
मीरा के प्रभु बस कर लीने सप्त सुरन तानन की फांसु री ।

[१४४]

आज अनारी ले गयो सारी बंठ कदम की डारी हे माय ।
म्हारे गल पडवा गिरधारी हे माय, ॥
मैं जल जमुना भां भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय ।
ले गयो सारी अनारी म्हारी जल में ऊभी उधारी हे माय ।
सखी सयानी मोरी हंसत है हंसि-हंसि दे मोहि तारी हे माय ।
सास बुरी अर ननद हठीली लरि-लरि दे मोहि गारी हे माय ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी हे माय ॥

[१४५]

या ब्रज में कछु देख्यो री टोना ।
ले मटुकी तिर चली गुजरिया आगे मिले वाया नन्दजी के छोना ।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी ले लेहु री कोई स्याम सलोना ॥
बिद्रावन की कुंज गलिन में आँख लगाइ गयो मनमोहना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुधर रसलोना ॥

[१४६]

कोई स्याम मनोहर लो री, सिर धरं मटुकिया डोलें ।
वधि को नाम बिसरि गई ग्वालिन हरि ल्यो, हरि ल्यो बोलें ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चेरी भई बिन मोलें ।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालनि औरहि और औरें बोलें ॥

[१४७]

कमल दल लोचना तैने कैसे नाच्यो भुजंग ।
पंसि पियाल कालीनाग नाच्यो फण फण नितं करन्त ॥
कूद पर्यो न डर्यो जल मांहीं और काहूँ नहि संक ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर थी बृन्दावनचंद ॥

[१४८]

होली खेलत हैं गिरधारी ।
मुरली बंग बजत डफ न्यारो संग जुवति व्रजनारी ।
चंदन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी ।
भरि भरि मूठी गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी ।
छैल छबीले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी ।
गावत चार धमार राग तहें दे दे कल करतारी ।

[१४५-१४६] ये भोरी अहीरिनें भी कितनी भाग्यशालिनी थीं जिनकी चुटकियों पर श्यामसुन्दर नाचे । इनके पूर्व पुण्य का हिसाब कौन लगा सकता है जिन्होंने हरि को खेलाया—अन्तःमुख से खेलाया और बाह्य मुख से भी उन्हें पाकर मुख का चुम्बन दिया । भगवान् ने उन्हें अन्तःमुख दिया, जिन्होंने एकनिष्ठ भाव से उन्हें भजा । श्रीकृष्ण में जिनका तन-मन लग गया जो घर और द्वार और पति-पुत्र तक को भूल गईं, जिनके लिए धन, मान और स्वजन विषसे हो गए वे एकान्त में वन बसाने लगीं ।

इन ग्वालिनों के प्रेम का कोई क्या बखान करे ? दही बेचने चली हैं, राह में श्यामसुन्दर मिल जाते हैं, फिर सारी मुच-बुध भूल जाती हैं—'लो दही, लो दही' के बजाय 'लो गोपाल, लो गोपाल' कहने लगती हैं ।

सूरदास का 'कव की मह्यो लिये सिर डोलें' पद इसी भाव का बड़ा ही सुन्दर है ।

[१४६]

मंदनंदन बिलमाई बवरा ने घेरी माई ।
 इत धन गरजे उत धन लरजे चमकत बिज्जु सवाई ।
 उमड़ उमड़ चहुँ दिसि से आया पवन चलं पुरवाई ॥
 दादुर मोर पपीहा बोलं कीयल सबद सुणवाई ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाई ॥

[१५०]

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।
 महेल चढ़े चढ़ि जोऊ मेरी सजनो कब आवें महराज ॥
 दादुर मोर पपइया बोलं कोइल मधुरे साज ।
 उमंग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसं दामिणि छोड़ी लाज ॥
 धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज ।
 मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेगि मिलो महराज ॥

[१४६] इस पद की गति और ध्वनि पर, लय और ताल पर ध्यान दीजिये । काव्य-रचना की दृष्टि से मीरा के गीतों में यह बहुत ही पुष्ट है । उमड़ती हुई भेषमाला के साथ पुरवाई ने वर्षाकाल का एक बहुत ही सजीला चित्र उपस्थित कर दिया है । सारंग राग में यह बड़े ही मीठे ढंग से गाया जा सकता है ।

[१५०] समस्त प्रकृति निरावृत होकर, रस में सराबोर होकर, अपने प्राणवल्लभ से मिल रही है । उस समय मीरा को हरि का वियोग और खलने लगता है और बार-बार वह महल पर चढ़कर 'उन' के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है । 'दामिणि छोड़ी लाज' में कितना गम्भीर संकेत है—आज समस्त प्रकृति सज्जा छोड़कर अपने प्रिय से मिल रही है, इन्द्र से मिलने के लिए पृथ्वी ने नई हरी साड़ी पहन ली है । ऐसे समय में—जब चारों ओर मिलन का सम्राट बँधा हो, प्रियतम के विरह में मीरा भुलस रही है । वह प्रतीक्षा में है क्योंकि मिलन के इन उपकरणों में वह प्यारे की पगध्वनि गुन रही है, पैरों की बह पहचानी हुई आहट सुन रही है ।

प्रेम की पीर

[१५१]

सजन सुध ज्युं जानै त्युं लीजै हो ।
 तुम बिन मोरे और न कोई कृपा रावरी कीजै हो ।
 दिन नाह भूल रैन नाह निवरा यूं तन पल-पल छोड़ै हो ।
 मोरा के प्रभु गिरधर नागर मिल-बिछड़न मत कीजै हो ॥

[१५१-२००] भगवान् आनन्दमय है, रसस्वरूप है और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है—'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा-नन्दी भवति' । स्वयं रसरूप होकर भी वह रस का चाहक है और स्वयं आनन्दरूप होकर भी तब तक आनन्दवान नहीं होता जब तक उसे 'रस' न मिल जाए । भगवान् स्वयं इस लीला का जाल पसारे हुए है इसलिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूल है । इसी लीला के लिए प्रेम-भिखारी साईं राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है । जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रंग की लीला का अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं । पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो जाते हैं । उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है । जैसे प्रियतम ने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुस्किल है । यह पुकार सारे शरीर को बेध डालती है । इसकी कोई औषध नहीं, मंत्र नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं,—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया । साईं के इस रंग की चोट खाया मनुष्य सब रंगों से रंग जाता है और फिर भी उसका रंग सब रंगों से न्यारा होता है ।

धन्य हैं जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती हैं, धन्य हैं वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन हैं वह सखी जो ऐंचा-तानी में ही रह गई । और प्रिय का रूप क्या वर्णन किया जाए ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलग से कैसे समझाए ? वह तो उसी में समा गई है, तन्मय हो गई है । वह कहने की चीज नहीं है, अनुभव करने की चीज है—अकथ कहानी है—विरलों के नसीब में इस परम सुख का अनुभव बदा है ।

[१५२]

महारी मुध ज्यूं जानो त्यूं लीजो जी ।
 पल पल भीतर पंथ निहाहूँ दरसन म्हांनि दीजो जी ॥
 में तो हूँ बहु औगणहारी औगण चित मत दीजो जी ।
 में तो दासी थारे चरण कँवल की मिल बिछुरन मत कीजो जी ॥
 भीरा तो सतगुर जो सरणे हरि चरणाँ चित दीजो जी ॥

[१५३]

महारे घर होता जाज्यो राज ।
 अरु के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ विराज ॥
 म्हेँ तो जनम-जनम की दासी थें म्हारा सिरताज ।
 पावणड़ा म्हां के भलाँ ही पधारी सब ही सुधारण काज ॥
 म्हेँ तो बुरी छाँ थाँके भली छैँ धणेरी तुम हो एक रसराज ।
 थानि हम सबहिन की चिता तुम सबके हो गरिबनिवाज ॥
 सबके मुकट सिरोमनि सिर पर भानूँ पुण्य की पाज ।
 भीरा के प्रभु गिरधर नागर बाँह गहे की लाज ॥

[१५४]

में जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसे होई री ।
 आये मेरे सजना फिर गये अँगना में अभागण रही सोइ री ॥
 फाहेंगी चीर कहेँ गल कंधा रठेंगी बँरागण होइ री ।
 चुरिया फोहें माँग बखेहें कजरा में डालें धोइ री ॥
 निस बासर मोहि बिरह सतावे कल ना परत पल मोइ री ।
 भीरा के प्रभु हरि अविनासी मिलि बिछरो मत कोइ री ॥

[१५५]

प्रभु जो थें कहां गया नेहड़ी लगाय ।
 छोड़ गया बिस्वास संघाती प्रेम की बाती बराय ॥
 बिरह समन्व में छोड़ गया छो नेह की नाव चलाय ।
 भीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्योइ न जाय ॥

[१५४] इसमें 'मुग्धा' का रूप सामने आता है। एक बार सपने में 'वह' आया, मिलने के लिए भुजाएँ बढ़ायी ही कि वह 'छलिया' खिसक गया। मिलन का 'सुख' कैसा होता है वह जान ही न पाई।

[१५६]

डारि गयो मनमोहन पासी ।

आंवा की डारि कोयल इक बोलीं मेरो मरण अरु जग केरी हांसी ।

विरह की भारी में बन-बन बोलीं प्राण तजूं करवत ल्यूं कासी ।

मीरा के प्रभु हरि अविनासी तुम मेरे ठाकुर में धारी दासी ॥

[१५७]

माई भहारी हरिहू न बूझी बात ।

पिड मांसू प्राण पापी निकसि ब्यूं नहि जात ॥

पाट न खाल्या मुखां न बोल्या साँझ भई परमात ।

अबोलण जुग बीतण लागो तो काहे की कुसलात ॥

सावण आवण कह गया रे हरि आवण की आस ।

रैण अंधेरो बीज चमकै तारा गिणत निरास ॥

लेइ कटारो कंठ माखे मरुंगी बिब खाइ ।

मीरा दासी राम राती लालच रही ललचाइ ॥

[१५८]

परम सनेही राम की निति ओलीं री आवैं ।

राम हभारे हम हैं राम के हरि बिन कछु न गुहावैं ॥

[१५६] 'मेरो मरण अरु जग केरी हांसी' में कितनी निगूड़ व्यथा की संकेत-भरी व्यंजना है ! विरहिणी व्यथा में जल रही है, मर रही है, और दुनिया तमाशा देख-देखकर हँस रही है। उस वेदना को जगत् क्या समझे; क्यों दुनिया समझे ! उसे समझने की क्या पड़ी है ?

[१५७] इस पद में प्रिय की उपेक्षा पर प्राणों की खीझ का कितना सुन्दर एवं भावपूर्ण वर्णन है। साँझ हुई, सवेरा हुआ, रात आई, रात गई, दिन आया, पर एक बार भी 'वह' मुझसे मुँह खोलकर बोला तक नहीं, और इस प्रकार बिना बोले युग पर युग निकल गया। सावन-भादों में आने की बात थी, पर वह वायदा भी वायदा मात्र रह गया। रात अंधेरी है, बिजली रह-रहकर चमक उठती है और प्राणों के हाहाकार को उकसा रही है। ऐसा जी करता है कि कटार लेकर छाती में घुसेड़ लूँ। परन्तु, तुरन्त स्मरण हो आता है, नहीं नहीं, 'वह' आने को कह गए हैं, कभी न कभी, एक-न-एक दिन मेरे भाग्य खुलेंगे, उनके दर्शन होंगे। इसी आशा-भरे लालच में मीरा 'अपघात नहीं करती।

आवण कह गये अजहूँ न आये जिवड़ो अति अकुलावै ।
 तुम दरसन की आस रमैया कब हरि दरस दिखावै ॥
 चरण कँवल की लगन लगी नित बिन दरसन बुल पावै ।
 मीरा कूँ प्रभु दरसन वीज्यो आणंद बरष्युँ न जावै ॥

[१५६]

रमइया बिन रह्योइ न जाय ।
 खान पान मोहि फौको सो लागं नैणा रहे मुरझाइ ॥
 बार बार में अरज करत हूँ रेण गई बिन जाइ ।
 मीरा कहै हरि तुम मिलिया बिन तरस तरस तन जाइ ॥

[१६०]

हेरी में तो दरद दिवाणी भेरो दरद न जाणं कोइ ।
 घाइल की गति घाइल जाणं कि जिण लाई होइ ।
 जोहरी की गति जोहरी जाणं कि जिण जोहर होइ ॥
 सुली ऊपरि सेज हमारी सोवणा किस विध होइ ।
 गवन मंडल पै सेज पिया की किस विध मिलणा होइ ॥
 दरद की मारी बन बन डोलूँ बँद मिल्या नहि कोइ ।
 मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब बँद साँवलिया होइ ॥

[१६१]

पिया बिन रह्योइ न जाइ ।
 तन मन मेरो पिया पर बाखँ बार बार बलि जाइ ॥

[१६१] 'लीज्यौ कंठ लगाइ'

बाला सेज हमारी रे तूँ आव हीं बारी रे दासी तुम्हारी रे ।
 तेरा पंथ निहाळूँ रे सुन्दर सेज सवाळूँ रे जियरा तुम पर बाळूँ रे ।
 तेरा अंगना पेलों रे, तेरा मुखड़ा देखो रे तव जीवन लेखों रे ॥
 मिलि मुखड़ा दीजे रे, यह लहर लीजे रे, तुम देखे जीजे रे ।
 तेरे प्रेम कर भाती रे तेरे रंगड़े राती रे, दादू बारणे जाती रे ॥

—दादू

बाल्हा आव हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे ।
 सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोको कहै अंदेह रे ।
 एकमेक हूँ संग न सूती तव लग कैसा नेह रे ॥
 है कोइ ऐसा पर उपकारी हरि सो कहै सुनाइ रे ।
 ऐसे हाल कबीर भए हैं बिन देखे जिव जाइ रे ॥

निस दिन जोहूँ बाट पिया की कब रे मिलोगे आइ ।
भीरा के प्रभु आस तुम्हारी लीज्यो कंठ लगाइ ॥

[१६२]

मैं विरहिणि बँठी जागूँ जगत सब सोवै री आली
विरहिणि बँठी रंगमहल में गोतियन की लड़ पोवै ।
इक विरहिणि हूँ ऐसी देखी अंगुवन की भाला पोवै ॥
तारा गिण-गिण रंण बिहानी मुख की घड़ी कब आवै ।
भीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल के बिछुड़ न जावै ॥

[१६३]

सखी मेरी नौद नसानी हो ।
पिया के पंथ निहारत सिगरी रंण बिहानी हो ॥
सब सखियन मिल सीस बई मन एक न भानी हो ।
बिन देख्याँ कल नाहि पड़त जिय ऐसी ठानी हो ॥
अंगि अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो ।
अंतर बेदन विरह की वह पीड़ न जानी हो ॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो ।
भीरा व्याकुल विरहिणी सुध - बुध बिसरानी हो ॥

[१६४]

मैं हरि बिन क्यूँ जीवूँ री माइ ।
पिय कारण बीरी भई ज्यूँ काठहि घुन खाइ ॥
श्रोत्रद मूल न संबरै मोहि लाग्यो बीराह ॥
कमठ दादुर बसत जल में जलहि तें उपजाइ ।
मीन जलके बीछुरै तन तलफि करि मरि जाइ ॥
पिय हँडन बन बन गई कहूँ मुरली धुन पाइ ।
भीरा के प्रभु लाल गिरधर मिलि गए सुलवाइ ॥

[१६५]

प्रभु बिना सरै माई ।

मेरा प्राण निकस्या जात हरि बिन ना सरै माई ॥

[१६५] इस पद से भीरा के सजीले हृदय का भोलापन फूट निकल
है । 'मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई' में भीरा की स्वाभाविक
असहायावस्था का चित्रण है । भीरा की अलहड़ लालसा कितनी स्वाभाविक,

कगठ बाबुर बसत जल में जल से उपजाई ।
 भीन जल से बाहर कीना तुरत भर जाई ॥
 काठ लकरी बन परी काठ धुन खाई ॥
 ले अगन प्रभु डारि दाये भसम हो जाई ।
 बन बन दुँडत में फिरी आली मुधि नहि पाई ।
 एक बेर दरसन दीजे सब कसर मिटि जाई ॥
 पात ज्यू परी पीरी अरु बिपत तन छाई ।
 वासि मीरा लाल गिरधर मिल्या सुख छाई ॥

[१६६]

रमया बिन नींद न आवै ।
 नींद न आवै बिरह सतावै प्रेम की आँच हुलावै ॥
 बिन पिया जोत मन्दिर अँधियारो बीपक बाय न आवै ।
 पिया बिना मेरी सेज अलूनी जागत रँण बिहावै ॥
 पिया कब रे घर आवै ।
 बाबुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणावै ।
 धुंमट घटा ऊलर होइ आई दामिन बमक डरावै ।
 नैना शर लावै ।
 कहा कहँ कित जाऊँ मेरी सजनी वेदन कूण बुतावै ।
 बिरह नागण मोही काया डसी है लहर जिव जावै ।
 जड़ी घस लावै ।
 को है सखी सहेली सजनी पिया कू आन मिलावै ।
 मीरा कू प्रभु कब रे मिलोगे मनमोहन मोहि भावै ।
 कबँ हँस कर बतलावै ।

कितनी सहज है ! — 'एक बेर दरसन दीजे सब कसर मिटि जाई' तथा 'मिल्या सुख छाई' ।

कमल जो विगसा मानसर
 बिनु जल गदउ सुखाइ ।
 सृष्टि बेलि पुनि पलुई
 जो पिउ सींचे आइ ॥

[१६७]

सोवत ही पलका में मैं तो
 पलक लगी पलकें पिय धाये ।
 मैं जु उठी प्रभु आवर देण कूं
 जाग परी पीव दूँड न पाये ।
 और सखी पिय सोइ गमाये
 मैं जु सखी पिय जागि गमाये ।

[१६८]

धाये धाये जो म्हारो म्हाराज धाये ।
 निज भक्तन के काज बनाये ।
 तज बैकुंठ तज्यो गरुडासन पवन बेग उठ धाये ।
 जब ही दृष्टि पड़े नंदनंदन प्रेम भगति रस धाये ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाये ॥

[१६९]

पतियां मैं कैसे लिखूं लिख ही न जाइ ।
 कलम धरत मेरो तन कांपत हिरबो रहो थराइ ।
 बात कहूं मोहि बात न आवे नैन रहै झराइ ॥
 किस बिध चरण कमल में गहिहों सबहि अंग थराइ ।
 मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर सब ही दुख बिसराइ ॥

[१७०]

प्रीतम कूं पतियां लिखूं कडबा तू ले जाइ ।
 जाइ प्रीतम जो सूं यूं कहै थारो बिरहणि धान न खाइ ॥
 मीरा दासो ब्याकुली रे पिय पिय करत बिहाइ ।
 बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्योइ न जाइ ॥

[१६७] मुघर स्याम सखि स्वप्न मिलि सपदि सिरायो जीव ।
 वै जिमि सोय गँवावती जागि गमायो पीव ॥

—अर्जुनदास

घाजु सखी सपने हरि धाये री ।
 और सखी पिय सोइ गमावत हौं सखि साजन जागि गमायो री ॥

—सूरदास

[१७१]

नीदलड़ी नाहि आवे सारी रात किस बिधि होइ प्रभात ॥
 चमक उठी सपने सुध भूली चंद्रकला न सोहात ।
 तलफ तलफ जिव जाय हमारो कव रे मिलो दिनानाय ॥
 नदहूँ दिवानी तन सुध भूली कोई न जानी म्हारी बात ।
 मीरा कहै बातों सोइ जानै भरण जीवण उण हाय ॥

[१७२]

नातो नाम का रे मोंसो तनक न तोड़यो जाइ ।
 पानां उर्युं पीली पड़ो रे लोग कहें पिड रोग ॥
 छाने लाँवण में किया रे राम मिलन के जोग ।
 बाबल बंद बुलाइया रे पकड़ दिखाइ म्हारी बाँह ॥
 मूरिख बंद मरम नाहि जाणै करक कलेजा माँह ।
 जा बैदाँ घर आपणे रे मेरो नांव न लेइ ॥
 मैं तो दाधी विरह की रे तूँ काहे को श्रौवद देइ ।
 मांस गले गल छीजिया रे करक रह्या गल आहि ॥
 श्रांगलिया रो भूवड़ो म्हारै आवण लागो बाँहि ॥
 रहो रहो पापी पपीहरा रे पिव को नाम न लेइ ।
 जे कोइ विरहणि साम्ले पिव कारण जिव देइ ॥
 खिण मंदिर खिण श्रांगणे रे खिण खिण ठाड़ी होइ ।
 घायल ज्युं घूमूं सवा री म्हारी बिया न बूझै कोइ ॥
 काड़ि कलेजो में धरूँ रे कौवा तू ले जाइ ।
 ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसै बँ देखै तू खाइ ॥
 म्हारै नातो नांव को रे श्रौर न नातो कोइ ।
 मीरा ब्याकुल विरहिणो रे पिया दरसन दीजो मोइ ॥

[१७३]

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री ।
 तलकत तलकत कल न परत है विरह बाण उर लागी री ॥
 निस दिन पंच निहाहूँ पीव को पलक न पल भरि लागी री ।
 पीव पीव में रटूं रात दिन दूजो सुधि बुधि भागी री ॥
 विरह भूबंग मेरो उस्थो है कलेजो लहरि हलाहल जागी री ॥
 मेरी आरति मेटि गोसाईं आइ मिलो मोहि सागी री ।
 मीरा व्याकुल अति उकलाणो पिया की उमंगि अति लागी री ॥

[१७४]

राम नाम मेरे मन बतियो रसियो राम रिशाऊँ ए माय ।
 मैं मंदभागिण करम अभागिण कीरत कैसे गाऊँ ए माय ॥
 बिरह पिजर को बाढ़ सखी री उठकर जी हुलसाऊँ ए माय ।
 मन कूँ मार सजूँ सतगुरु सूँ दुरमत दूर गमाऊँ ए माय ॥
 जाको नाम सुरत की डोरी कड़ियाँ प्रेम चढ़ाऊँ ए माय ।
 सान को ढोल बन्धो अति भारी भगन होय गुण गाऊँ ए माय ॥
 तन कहूँ ताल मन कहूँ मोरचंग सोती सुरत जगाऊँ ए माय ।
 निरत कहूँ मैं प्रीतम आगे अमरापुर पाऊँ ए माय ॥
 मो अंबला पर किरपा कीज्यो गुण गोविन्द के गाऊँ ए माय ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर रज चरणाँ की पाऊँ ए माय ॥

[१७५]

स्यामसुन्दर पर बार ।
 जीबड़ा मैं बार डाहूँगी स्यामसुन्दर ॥
 तेरे कारण जोग धारणा लोक लाज कुल डार ।
 तुम देख्याँ बिन कल ना पड़त है नैन चलत दोऊ बार ॥
 कहा कहूँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन बिरह की धार ।
 मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे तुम चरणाँ आधार ॥

[१७६]

पिया इतनी बिनती सुण मोरी कोई कहियो रे जाय ।
 औरन सूँ रसबतियाँ करत हो हम सूँ रहे बित चोरी ॥
 तुम बिन मेरे और न कोई मैं सरणागत तोरी ।
 आवन कह गये अजहूँ न आये दिवस रहे अब थोरी ।
 मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे अरज कहूँ कर जोरी ॥

[१७७]

करणाँ सुणि स्याम मेरी ।
 मैं तो होइ रहौं चेरी तेरी ।
 दरसन कारण भई बावरी बिरह बिया तन घेरी ।
 तेरे कारण जोगण हूँगी दूंगी नग्न बिच फेरी ।
 कुंज सब हेरी हेरी ॥
 अंग भभूत गले अंग छाला यो तन भसम कहूँगी ।

अजहूँ न मिल्या राम अबिनासी बन बन बीच फिरूंगी ।
रोऊँ नित टेरी टेरी ॥

जन मीरा को गिरधर मिलिया दुख भेटण सुख भेरी ।
रुम रुम माता भई उर में भिट गई फेरा फेरी ॥

[१७८]

पिया अब घर आज्यो मेरे तुम मोरे हूँ तोरे ।
में जन तेरा पथ निहाहूँ मारग चितवत तोरे ॥
अवधि बदी तो अजहूँ न आये दुतियन सूं नेह जोरे ।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे दरसन बिन दिन दोरे ॥

[१७९]

भुवनपति तुम घर आज्यो हो ।
बिधा लगी तन मांहिने म्हारी तपन तुझाज्यो हो ॥
रोवत रोवत डालतां सब रंण बिहावं हो ।
भूख गई निदरा गई पापी जीव न जावं हो ॥
दुखिया कूं सुखिया करो मोहि दरसन दीजं हो ।
मीरा क्याकुल बिरहिणि अब बिलम न कीजं हो ॥

[१८०]

आवो मनमोहना जी जोऊँ थारी बाट ।
खान पान मोहि नेक न भावं नैण न लगे कपाट ।
तुम आया बिन सुख नहि मेरे दिल में मोत उचाट ॥
मीरा कहै मैं भई रावरी छाँड़ो नाहि निराट ॥

[१८१]

आवो मनमोहना जी मीठा थारो बोल ।
बालपना की प्रीत रमयाजी कवे नाहि आयो थारो तोल ॥
दरसन बिन मोहि जक न परत है चित मेरो डाँवाडोल ।
मीरा कहै मैं भई रावरी कहो तो बजाऊँ डोल ॥

[१८२]

पड़ी एक नहि आवड़े तुम दरसन बिन भोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी कासूं जीवन होय ॥
धान न भावं नौद न आवं बिरह सतावं भोय ।
घायल सी घूमत फिरूं रे मेरो दरद न जाणो कोय ॥

दिवस तो खाय गमाइयो रे रैण गमाई सोय ।
 प्राण गमाइया झूरताँ रे नैण गमाया रोय ॥
 जो में ऐसा जागती रे प्रीत कियाँ दुख होय ।
 नगर डिंडोरा फेरती रे प्रीत करो मत कोय ॥

[१८३]

दरस बिन दुखन लागै नैण ।
 जब से तुम बिछुरे प्रभु भोरे कबहुँ न पायो चैन ॥
 सबद सुणत मोरि छतियाँ काँपे भीठे लागे बैन ।
 बिरह बिधा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करबत ऐन ॥
 एक टकटकी पंथ निहाळूँ भई छमासी रैण ।
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख भेटण सुख वैण ॥

[१८४]

तुमरे कारण सब सुख छाड़्या अब मोहि क्यूँ तरसावौ हो ।
 बिरह बिधा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हो ॥
 अब छोड़त नहिं बणं प्रभु जो हँसि करि तुरत बुझावौ हो ।
 मीरा दासी जनम-जनम की भंग से भंग लगावौ हो ॥

[१८३] मीरा के सर्वोत्तम पदों में यह एक अन्यतम है—इसके एक-एक शब्द में मीरा के घायल हृदय की तसवीर उतर आई है ।

‘छमासी रैण’—बिरह की रात इतनी लम्बी होती है कि काटे नहीं कटती । सूरदास में भी बिरह की ‘छमासी रैन’ का उल्लेख कई स्थलों पर आया है ।

[१८४] ‘भंग से भंग लगावौ हो’ ।

Thus does God, when he raises a soul to union with Himself suspend the natural action of all her faculties. She neither sees, hears, nor understands so long as she is united with God. God establishes Himself in the interior of this soul in such a way that when she returns to herself it is wholly impossible for her to doubt that she has been in God and God in her.

—St. Thresa

[१८५]

पिय बिना सूनो छै जी म्हाँरो देस ।
 ऐसा है कोई पीब कूं मिलार्ब तन मन कह्ले सब पेस ।
 तेरे कारण बन-बन डोलूं कर जोगण को भेस ।
 अवधि बदी थी अर्जून आये पंडर हो गया केस ॥
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तजि दियो नगर नरेस ॥

[१८६]

हो गये स्याम दुइज के चंदा ।
 मधुवन जाइ भए मधुवनिया हम पर डारो प्रेम को फंदा ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर अब तो नेह परो कछु मंदा ॥

[१८७]

हो जी हरि कित गये नेह लगाय ।
 नेह लगाय मेरो मन हर लीन्हो रस भरी टेर सुनाय ।
 मेरे मन में ऐसी आवे मल्ले जहर बिस लाय ॥
 छाँड़ि गए बिसवास सँवाती करि नेह की नाव चढ़ाय ।
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे रहे मधुपुरी छाय ॥

[१८५] प्रियतम के बिना मेरे लिए यह सारा संसार सूना है, उजड़ा है। यदि कोई मुझे उस प्रणरमण से मिला दे तो उसके हाथों बिक जाऊँ क्योंकि उन्होंने आने की जो अवधि दी थी वह बढ़ती ही जा रही है। राह देखते-देखते बाल सक्रंद हो चले। प्रतीक्षा की भी हद है।

[१८७] रस-भरी टेर सुनाकर उसने मन मोह लिया और जब प्राण व्याकुल होकर उसके पथ में चल पड़े तो फिर उसका 'बिस्वासघात' ही हाथ आया क्योंकि वह 'नेह' लगाकर 'मधुपुरी' में छाये हुए हैं।

यह देखना चाहिए कि भगवान् की अनेकानेक लीलाओं में से केवल मधुरागमन की लीला ही मीरा के प्रेमप्रवण हृदय को अधिक स्पर्श कर सकी क्योंकि विरह को—अनन्त और अवधिहीन विरह को उभारनेवाली यह सबसे गम्भीर लीला है। १८६वें पद में 'मधुवन जाइ भए मधुवनिया' में कितनी गम्भीर व्यंग्योक्ति है! 'मधुवनिया'—(मधुवन-निवासी, मधु का 'बनिया') शब्द के दिल्घ्तार्थ पर ध्यान दीजिए।

[१८८]

सखी री लाज बँरण भई ।
श्रीलाल गोपाल के संग काहे नाहि गई ॥
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कहँ नई ।
रथ चढ़ाय गोपाल लंगो हाथ मीजत रही ॥
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिरहते तन तई ।
दासि मीरा लाल गिरधर बिलर बयूँ ना गई ॥

[१८९]

अपने करम को छै दोस काकूँ दीजै रे ऊधो ॥
मुणियो मेरी भँण पड़ोसण गेले चलत लागी चोट ।
पहली ग्यान मान नाहि कीन्हौ मैं मनता की बाँधी पोट ॥
मैं जाण्युँ हरि नाहि तजंगे करम लिख्यो भलि पोच ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी परो निवारो नी सोच ॥

[१८८] 'लाज बँरण भई'—'देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहि'—
आँखों की इस बेवसी का अनुभव सभी प्रेमियों को है। प्राणनाथ को देखे
बिना चैन नहीं मिलती और, जब 'बे' सामने आ जाते हैं तो आँखें लाज के
मारे भ्रम जाती हैं। फिर जब वह हृदयरमण आँखों से ओभल हो जाता है तो
जी तड़पने लगता है और मन-ही-मन हम अपने को धिक्कारने लगते हैं कि
उसके विरह में अभी तक प्राणों का भार क्यों ढो रहे हैं। जब 'बे' आये तो
आँखें चूक गईं, जब 'बे' चले गये तो फिर आँसुओं की रिमझिम !

[१८९] अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम को लेकर चले गये हैं उस समय
का यह पद है। गोपियों ने उस समय कहा था—यह अक्रूर ! इस महाक्रूर
का नाम भला अक्रूर किसने रखा, प्यारे प्राणवल्लभ को रथ पर बिठाकर
लिये जा रहा है। अब यह दुःख सहना तो दूर रहा, हमारा जीवित रहना भी
कठिन है। जो सायंकाल के समय गोधूलि से धूसरित माला पहने, वंशी बजाते
हुए बलरामजी के साथ गोपों से घिरे हुए व्रज में प्रवेश करते समय मन्द-मन्द
मूसकान और कटाक्षयुक्त अवलोकन से हमारे चित्त को हरते थे उन श्रीकृष्ण
के बिना हम कैसे जीएंगी ?

'सूरसागर' में इस स्थल के पद बड़े ही मार्मिक तथा हृदय हिना देने
वाले हैं।

[१६०]

कुण बाँचें पाती विना प्रभु कुण बाँचें पाती ।
 कागद ले ऊधोजी आए कहाँ बाल रह्या साथी ॥
 आवत जावत पाँव धिस्व्या रे अँखियाँ भई राती ।
 कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती ।
 नैण नीरज में अंबु बहे रे (बाला) गंगा बहि जाती ।
 पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे (बाला) अन्न नहि खाती ।
 हरि विन जिवडो यूँ जले रे (बाला) ज्यूँ दीपक संग बाती ।
 म्हाने भरोसा राम को रे (बाला) डूब तिरयो हाथी ।
 दासि मीरा लाल गिरधर साँकड़ारो साथी ॥

[१६१]

सागो सोही जाणो कठण लगण दी पीर ।
 विपति पड़्या कोई निकट न आवँ सुख में सबको सीर ।
 बाहरि घाव कछु नहि दीसै रोम रोम दी पीर ।
 जन मीरा गिरधर के ऊपर सवकै कहुँ सरीर ॥

[१६०] इस पद में विरहिणी राधा का बड़ा ही सजीला चित्र है । 'कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती' में विप्रलम्भ का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन है ! आँखों से गंगा-जमुना बह रही है—आँसुओं की इस धारा को देखकर मीरा कहती है—'नैण नीरज में अंबु बहे रे'—कमल-कोष से जल की धारा ढुलक रही है । राधा पके पान की तरह पीली पड़ गई है और हरि के विना विरह में उसका जीवन वैसे ही जल रहा है जैसे दीपक के साथ बाती जलती है । परन्तु तुरन्त मीरा को स्मरण हो आता है कि वह तो 'साँकड़ारा साथी' है, संकट का मित्र है ।

चित्त दै सुनौ स्याम प्रबीन ।

हरि तुम्हारे विरह राधा में जु देखी छीन ॥
 तज्यो तेल तमोल भूषण अंग वसन मलीन ।
 कंकना कर बाम राख्यो गाढ़ भुज गहि लीन ॥
 जब संदेसों कहन सुन्दरि गवन मोतन कीन ।
 खसि मुद्रावलि चरण अरुभी गिरि घरनि बलहीन ॥
 कंठ वचन न बोल आवँ हृदय अँसुवनि भीन ।
 नैन जल भरि रोइ दीनों प्रसित आपद दीन ॥
 उठी बहुरि सँभारि भटु ज्यों परम साहस कीन ।
 सूर प्रभ कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन ॥

[१६२]

हे मेरो मनमोहना
 आयो नहीं सखी री हे मेरो मनमोहना ।
 कं कहूँ काज किया सन्तन का कं कहूँ गल भुलावना ।
 कहा कहेँ कित जाऊँ मोरी सजनी लाग्या है बिरह सतावना ।
 मीरा दासी दरसण प्यासी हरिचरणों चित लावणा ॥

[१६३]

किण संग खेलूँ होली पिया तजि गये हैं अकेली ।
 माणिक मोती सब हम छोड़े गले में पहनी सेली ।
 भोजन भवन भलो नहि लागे पिया कारण भे गेली ॥
 मुझे दूरी बरूँ म्हेली ।
 अब तुम प्रीत और सूँ जोड़ी हमसे करी बरूँ पहेली ।
 बहु दिन बीतेँ अजहूँ न आये लग रही तालाबेली ॥
 किण बिलमाये हेली ।
 स्याम बिना जिवड़ो मुरझावे जंसे जल बिन बेली ।
 मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो जनन जनम की चेली ।
 दरस बिना खड़ी दुहेली ।

[१६४]

इक अरज सुनो पिया मोरी, मैं किन संग खेलूँ होरी ।
 तुम तो जाय बिदेसाँ ध्याये हमसे रहे चित चोरी ।
 तन आभूषण छोड़्या सब ही तज दियो पाट पटोरी ॥
 मिलन की लग रही डोरी ।
 आप मिल्याँ बिन कल न पड़त है त्यागे तिलक तमोली ।
 मीरा के प्रभु मिलज्यो माधो सुणज्यो अरजी मोरी ।
 दरस बिन बिरहिन चोरी ॥

[१६५]

होली पिया बिन लागे सारी सुनो री सखी मोरी प्यारी ।
 सुनो गाँव देस सब सुनो सुनी सेज अटारी ।
 सुनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज बई पिव पियारी ॥
 भई हूँ या दुख कारी ।
 देस बिदेस न पहुँचै होय अदेसा भारी ।
 गिणताँ गिणताँ धिस गई रेखा आंगुलियाँ की सारी ।

अजहूँ नहि आये मुरारी ।
 बाजत शीत मृदंग मुरलिया बाज रही इकतारी ।
 आयो बसंत कंत घर नाहीं तन में जर भया भारी ।
 स्याम मन कहाँ विचारी ।
 अब तो मेहर करो मुझ ऊपर चित दै सुनो हमारी ।
 मीरा के प्रभु मिलिग्यो माधो जनम जनम को कुंआरी ॥
 लगी दरसन की तारी ॥

[१६६]

होली पिया बिन मोहि न भावै घर आंगण न सुहावै ।
 दीपक जोय कहा करुँ हेली पिय परदेश रहावै ।
 सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक-मुसक जिया जावै ।
 नींद नहि आवै ।
 कब की ठाड़ी में भग जोऊँ निसदिन विरह सतावै ।
 कहा कहूँ कछु कहत न आवै हिवड़ो अति अकलावै ।
 पिया कब दरस दिखावै ।
 ऐसा है कोई परम सनेही तुरत संदेसो लावै ।
 वा बिरियाँ कद होसी मों कूँ हँसकर निकट बुलावै ।
 मीरा मिल होली गावै ॥

[१६७]

मतवारो बादल आए रे हरि को संदेसो कछु न लाए रे ।
 दाबुर मोर पपइया बोलै कोयल सबद मुणाए रे ।
 कारी अंधियारी बिजरी चमकै बिरहिन अति डरपाए रे ।
 गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति शड़ लाए रे ।
 कारी नाग बिरह अति जारी मीरा मन हरि भाए रे ॥

[१६८]

बादल देख शरी हो स्याम में बादल देख शरी ।
 काली पीली घटा उभंगी बरस्यो एक धरी ॥
 जित जाऊँ तित पाणीहि पाणी हुई सब भोम हरी ॥
 जा का पिया परदेस बसत हैं भीजूँ बार खरी ।
 मीरा के प्रभु हरि अविनासी कीज्यो प्रीति खरी ॥

[१६६]

पपइया रे पिव की बाणी न बोल ।
 सुणि पावेली बिरहणी रे धारो राखेली पाँख मरोड़ ॥
 चोंच कटाऊँ पपइया ऊपरि कालर लूण ।
 पिय मेरा में पिव की रे तू पिव कहै सकूण ॥
 धारा सबद सुहावन रे जो पिव मेल्या आज ।
 चोंच मड़ाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिरताज ॥
 प्रीतम को पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ ।
 प्रीतम जू सू यूँ कहे रे थारी बिरहिणि धान न खाइ ॥
 मीरा दासी ध्याकुली रे पिव-पिव करत बिहाइ ।
 बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्योइ न जाइ ॥

[२००]

रे पपइया प्यारे कब को बँर चितार्यो ।
 में सूतो छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकार्यो ॥
 दाध्या ऊपर लूण लगायो हिवड़ो करवत सार्यो ।
 उठि बैठो वृच्छ की डाली बोल-बोल कंठ सार्यो ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ चित धार्यो ।

[१६६-२००] मीरा अपने महल में सोई थी कि पास के एक वृक्ष से 'पपइया' ने 'पीपी' की टेर लगाई। फिर क्या था, मीरा ने उस 'छेड़नेवाले' को सम्बोधित कर अपने हृदय का मधु उड़ेलना शुरू किया, क्योंकि निश्चय ही वह इस विरह की अवस्था में जले पर नमक छिड़क रहा है।

पर वे सारी वस्तुएँ, जो विरह के समय दाहक और दाहण प्रतीत होती हैं मिलन के समय वे ही सुखद और सुहावनी मालूम होने लगती हैं। यदि प्रिय मिल जाए तो मीरा पपीहे की चोंच को सोने से मढ़ाने की प्रतिज्ञा लेती है। हिन्दी में इसी भाव की बहुत कविताएँ हैं, मीरा जैसा उनमें दर्द भले न हो। सूरदास ने भी पपीहे को सम्बोधित कर कई ऐसे पद कहे हैं।

स्वगत

[२०१]

अच्छे मीठे चाख चाख बोर लाई भीलनी ।
ऐसी कहा अचारवती रूप नहीं एक रती ।
नीच कुल ओछो जात अति ही कुचीलणी ।
जूठे फल लीन्हे राम प्रेम की प्रतीत जाण;
ऊँच नीच जाने नहीं रस की रसीलणी ।
ऐसी कहा वेद पढ़ी छिन में विमान चड़ी;
हरि जी सूं बाँध्यो हेत दास भीरा तरं जोड़,
पतितपावन प्रभु गोकुल अहीरिणी ॥

[२०२]

देखत श्याम हँसे सुदामां कूं देखत श्याम हँसे ।
फाटी तो फूलड़ियां पाँव उभाणे चलतं चरण घसे ॥
बालपणे का भीत सुदामा अब वर्गू दूर बसे ॥
कहा भावज ने भेंट पठाई तांडुल तीन पसे ।
कित गई प्रभु म्हारी टूटी टपरिया हीरा मोती लास कसे ॥
कित गई प्रभु मोरी गजवन बड़िया द्वारा बिच हसती फसे ।
भीरा के प्रभु हरि अविनासी सरने तोरे बसे ॥

[२०३]

बन्दे बन्दगी मत भूल ।
चार दिनां की करले खूबो ज्यूं दाड़िमदा फूल ।
आया था ए लोन के कारण मूल गमाया भूल ॥
भीरा के प्रभु गिरधर नागर रहना है बे हजूर ।

[२०४]

राम नाम रस पीजे मनुआं राम नाम रस पीजे ।
तज कुसंग सत्संग बँठ नित हरि चरणां सुख लीजे ॥
काम कोष मद लोन मोहू कूं बित से बहाय दीजे ।
भीरा के प्रभु गिरधर नागर ताहि के रंग में भीजे ॥

[२०५]

मेरो मन रामहि राम रटै रे ।

राम नाम जप लीजे प्राणी कोटिक पाप कटै रे ।

जनम जनम के खत जु पुराने नामहि लेत कटै रे ॥

कनक कटोरे इच्छित भरियो पीवत कौन नटै रे ।

मीरा कहै प्रभु हरि अबिनासी तन मन ताहि पटै रे ॥

[२०६]

भज मन चरण कौवल अबिनासी ।

जेतइ दीसे धरण गगन बीच तेतइ सब उठ जाती ।

कहा भयो तीरथ व्रत कीन्है कहा लिए करवत कासी ॥

इस बेही का गरब न करणा माटी में मिल जाती ।

यो संसार चहर की बाजी साँझ पड़्या उठ जाती ॥

कहा भयो है भगवा पहुर्यां घर तज भए संन्यासी ।

जोगी होय जुगति नहि जाणी उलटि जनम फिर आसी ॥

अरज करौं अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर काटो जनम की फाँसी ॥

[२०५] सभी संत, महात्मा, भक्त, ज्ञानी, वैरागी, योगी, यती, संन्यासी, श्रीलिया, फकीर, दरवेश, आउल, बाउल, शास्त्र, पुराण, कुरान एक स्वर से नाम की महिमा गाते हैं। नाम के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। मीरा ने नाम-स्मरण को 'अमृत-पान' कहा है।

[२०६] इस क्षण-क्षण विध्वंसी अनित्य जगत् में प्रभु के चरणों में शरणापन्न हो जाना ही परम पुरुषार्थ है। संन्यास या वैराग्य लेकर मन को मारना और अपनी इच्छाओं को जीतना बहुत कठिन कर्म है। मन को कहीं-न-कहीं टिकाव चाहिए ही। यह चंचल मन कोई-न-कोई आधार ढूँढता है अतएव यहाँ के नाम और रूप से हटाकर प्रभु के नाम और रूप में इस मत-वाले मन को डुबो दिया जाए तभी परम शान्ति मिल सकती है।

यहाँ, इस धरती और आकाश के बीच का जब सब-कुछ नदवर ही है तो ममत्व किस पर किया जाए ? इस उठती पैठ का क्या भरोसा ?

इन विरागात्मक पदों में संसार के प्रति उदासीनता का जो भाव है उसे वैरागियों की उदासीनता न समझकर भक्त की ईश्वरोन्मुखता तथा एकान्त भगवदासक्ति समझनी चाहिए। मीरा के विराग का अर्थ है भगवान् के प्रति अटूट अनुराग।

दीसे = दीखता है। जासी = जाएगा।

'सी' प्रत्यय राजस्थानी में सामान्य भविष्यत् में लगता है।

[२०७]

करम गति टारे नाहि टरे ।
 सतवादी हरिचंद से राजा (सो तो) नीच घर नीर भरे ॥
 पाँच पांडु श्रव सती द्रौपदी हाड़ हिमालै गिरे ।
 जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासन सो पाताल धरे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर बिल ते अछित करे ॥

[२०८]

नाहि ऐसो जन्म बारंबार ।
 का जानूँ कछु पुण्य प्रगटे मानुसा अवतार ॥
 बहुत छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार ।
 बिरछ के ज्यूँ पात टूटे बहुरि न लागे डार ॥
 भौसागर अति जोर कहिए अनंत ऊँडी धार ।
 राम नाम का बाँध वेड़ा उतर परले पार ॥
 ज्ञान चौसर मंडी चौहटे सुरत पासा सार ।
 या दुनियाँ में रची बाजी जीत भाव हार ॥
 साधु संत महंत ज्ञानी चलत करत पुकार ।
 दासि मीरा लाल गिरधर जीवणाँ दिन चार ॥

[२०९]

जग में जीवणा थोड़ा राम कुण कह रे जंजार ।
 मात पिता तो जन्म दिया है करम दियो करतार ॥
 कइरे खाइयो कइरे खरचियो कइरे कियो उपकार ॥

[२०७] कर्म की गति बड़ी गहन है—इस सम्बन्ध में कई दृष्टांत देकर अन्त में मीरा का ध्यान अपने पर जाता है तो वह सकुचा जाती है क्योंकि उसके लिए तो प्रभु ने हलाहल को अमृत कर दिया ।

[२०८] मीरा में विरागात्मक पद बहुत थोड़े मिलते हैं । मीरा में वैराग्य वहीं मिलता है जहाँ जीवन की तुच्छता तथा अपना गम्भीर दायित्व का ध्यान आया है । ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती है त्यों-त्यों आयु घटती जाती है और मनुष्य मृत्यु के निकट आता जाता है । इस संसार-सागर की लहरें बड़ी विकराल हैं । इसमें पड़कर बड़े-बड़े चकनाचूर हो गए । इस नदवर संसार में केवल भगवान् की भक्ति और उसमें अनन्य श्रद्धा ही मनुष्य का एकमात्र आचार है और इस महासागर से पार होने के लिए एकमात्र भगवान् की कृपा का ही आसरा है ।

दिया लिया तेरे संग चलेगा और नहीं तेरी सार ।
भीरा के प्रभु गिरधर नागर भज उतरो भव पार ॥

[२१०]

मनुखा जन्म पदारथ पायो एसी बहुत न आती ।
अबके मोसर ज्ञान विचारो राम नाम मुख गाती ।
सतगुरु मिलिया खुज पिछाणी ऐसा ब्रह्म में पाती ॥
सतगुरु सूरु अमृत पीवे निर्गुण प्यासा जाती ।
भगन भया मेरा मन मुख में गोविंद का गुण गाती ॥
साहव पाया आदि अनादी नातर भव में जाती ।
भीरा कहे इक आस आप को भीरां सँ सकुचाती ॥

[२११]

लेतां लेतां राम नाम रे लोकड़िया तो लाजां भरे छै ।
हरि मंदिर जातां पावलियां रे दूखे फिरि आवे सारो गाम रे ।
झगड़ो थाय तयां दौड़ी ने जाय रे भूकी ने घर ना काम रे ।
भांड भवैया गणिका नृत करतां बेसी रहे चार जाम रे ।
भीरांनां प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित हाम रे ॥

[२१२]

यहि विधि भगति कैसे होय ।
मन की मेल हिये तें न छूटी दियो तिलक सिर धोय ।
काम कूकर लोभ डोरी बांधि मोहि चंडाल ।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ॥
बिलार विधया लालची रे ताहि भोजन देत ।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से राम नाम न लेत ॥
आपहि आप पुजाय के रे फूले अंग न समात ।
अभिमान टीला किए बहु कहु जल कहाँ टहरात ॥
जो तेरे हिय अंतर की जानै तासों कपट न बनै ।
हिरदे हरि को नाम न आवे मुखतें मनिया गनै ॥
हरि हितु से हेत कर संसार आसा त्याग ।
दासि भीरा लाल गिरधर सहज कर बेराग ॥

[२१३]

रमइया बिन यी जिवड़ो दुख पावै ।
कहो कृण धीर बंधावै ।
यी संसार कूबुधि को भाड़ो साथ संगति नहि भावै ॥

राम नाम बिन मुकुति न पावै फिर चौरासी जावै ।
साध संगति में कबहूँ न जावै मूरख जनम गमावै ॥

[२१४]

मेरे मन राम नामा बसी ।
तेरे कारण स्याम सुन्दर सकल लोगां हँसी ॥
कोई कहै मीरा भई बावरी कोई कहै कुलनासी ।
कोई कहै मीरा दीप आगरी नाम पिया सूँ रसी ॥
झाड़ धार भवती की न्यारी काटिहै जम फँसी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सख्य सरोवर घँसी ॥

[२१५]

गोबिन्द सूँ प्रीत करत तबहिं क्युँ न हटकी ।
अब तो बात फँल पड़ी जैसे बीज बटकी ॥
बीज को बिचार नाहिं छाँय परी तटकी ।
अब चूको तो ठौर नांही जैसे कला नटकी ॥
जल के बूड़ी गाँठी परी रसना गुन रटकी ।
अब तो छुड़ाय हारी बहुत बार झटकी ॥
घर घर में धोल भठोल बानी घट घट की ।
सब ही कर सीस धारि लोक-लाज पटकी ॥
मद की हस्ती समान फिरत प्रेम लटकी ।
दासि मीरा भक्ति बुन्द हिरदय बिच गटकी ॥

[२१६]

हेली सुरत सोहागिन नार सुरत मेरी राम से लगी ।
लगनी लहंगा पहिर सोहागन बीती जाय बहार ॥
धन जोवन दिन चार का है जात न लागे चार ।
झूठे वर को के बहूँ अध बिच में तज जाय ॥
वर बरिए वह साँवरो म्हारो चूड़लो अमर हो जाय ।
राम नाम का चूड़लो हो निरगुन सुरमो सार ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ बलिहार ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

परिशिष्ट

[क]

मीरा पदावली

ढाकोर की प्रति से—

(१)

म्हाराँ री गिरधर गोपाड़ दूसराँ णा कूयां ।
दूसरां णां कोयां साधाँ सकड़ ड़ोक जूयां ।
भाया छाँडचा बंधाँ छाँडचा, छाँडचा सर्गाँ सूयां ।
साधाँ संग बेठ बेठ लोक-लाँज खूयां ।
भगत देख्याँ राजी ह्ययाँ, जगत देख्याँ रूयाँ ।
असवाँ जड़ सींच-सींच प्रेम वेड़ बूयाँ ।
दध मय धृत काड़ लयाँ, डार दयाँ छूयाँ ।
राणा बिधरो प्याड़ा भेज्याँ, पीय मगण हूयाँ ।
अब त बात फेड़ पडचा, जाण्याँ सब कूयाँ ।
मीरां री लगण लग्याँ होणाँ हो जो हूयाँ ॥

(२)

भज मण चरण कंवड़ अवणासी ।
जेताई दीसां धरण गगण माँ तेताई उट्ठ जासी ।
सीरथ बरताँ ग्याण कथन्ताँ कहा लयाँ करवत कासी ।
यो देही रो गरव णा करणा माटी मा मिड़ जासी ।
यो संसार चहर राँ बाजी साँभ पडचाँ उठ जासी ।
कहा भयाँ धाँ भगवा पहरचाँ धर तज लयाँ सण्यासी ।
जोगी ह्योयाँ जुगत णा जाणा उलट जणम राँ फाँसी ।
अरज कराँ अबड़ा कर जोड़चाँ, स्याम () दासी ।
मीराँ रे प्रभ गिरधर नागर, काठचाँ म्हारी गाँसी ॥

(३)

म्हौ मोहण रो रूप लुभाणी ।

मुन्दर बदण कमड़ दड़ सोचण बाँकाँ चितवण नैणा समाणी ।

जमणा किणारे कान्हा घेणु चरावाँ बंसी बजावाँ मीट्ठाँ बाणी ।
तण मण घण गिरघर पर दाराँ चरण कंवड़ मीराँ बिलमाणी ॥

(४)

म्हारो परनाम वाँकेबिहारी जी ।
मोर मुगट माथीँ तिड़क बिराज्याँ कुंडड़ अड़काँ कारी जी ।
अघर मघुरघर बंसी बजावाँ रीभ रिभावाँ ब्रजनारी जी ।
या छव देख्याँ मोह्याँ मीराँ मोहण गिरवरधारी जी ॥

(५)

निपट बंकट छव अटके म्हारे नैणा णिपट बंकट छव अटके ।
देख्याँ रूप मदण मोहण री पियतपियूख ण मटके ।
बारिज भवाँ अड़क मंतवारी नैण रूप रस अटके ।
टेढ्याँ कट टेढे कर मुरड़ी टेढ्या पाग लर लटके ।
मीराँ प्रभु रे रूप लुभाणी गिरघर नागर नटके ॥

(६)

साँवरे मारघा तीर ।
री म्हारा पार निकड़ गयाँ तीर साँवरे मरघा तीर ।
बिरहा अनड़ लागीँ उर अन्तर ब्याकुड़ म्हाराँ सरीर ।
चंचड़ चित्त चड्याँ णा चाड़ाँ बाँध्याँ प्रेम जंजीर ।
क्याँ जाणाँ म्हरो प्रीतम प्यारो क्या जाणा म्हापीर ।
म्हारो काँई णा बस सजणी नैण भरघाँ दो नीर ।
मीराँ रो प्रभु थे बिछुड़्याँ बिण प्राण घरत णा घीर ॥

(७)

चाड़ाँ मण वा जमणा काँ तीर ।
वा जमणा काँ निरमड़ पाणी सीतड़ होयाँ सरीर ।
बंसी बजावाँ गावाँ कान्हाँ संग लियाँ बड़बीर ।
मोर मुगट पीतांबर सोहाँ कुंडड़ भड़क्याँ हीर ।
मीराँ रे प्रभु गिरघर नागर क्रीड्याँ संग बलबीर ॥

(८)

अली म्हाँरो लागीँ बृन्दावण णीकाँ ।
घर-घर तुड़सी ठाकर पूजाँ दरसण गोविन्द जी काँ ।

निरमड़ नीर बह्या जमणा काँ भोजण दूध दह्यां काँ ।
रतण सिंघासण आप विराज्यां मुगट घरचाँ तुड़शी काँ ।
कुंजण कुंजण फिरचाँ सांवरा सबद सुरण्या मुरड़ी काँ ॥
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर भजण विणा नर फीकाँ ॥

(६)

जाणाँ रे मोहणा जाणाँ थारी प्रीत ।
प्रेम भगति रो पंडा म्हारो, और ण जाणाँ रीत ।
इमरत पाइ विपाँ क्यूँ दीज्याँ कूँण गाँव री रीत ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी अपणो जण रो मीत ॥

(१०)

म्हाँ गिरधर रंगराती ।
पचरंग चोड़ा पहेरचाँ सखि म्हा भरमट खेलण जाती ॥
वाँ भरमट माँ मिड़घा सांवरो देख्याँ तण मण राती ।
जिणरो पियाँ परदेस बस्याँ री डिखडिख भेज्याँ पाती ॥
म्हारा पियाँ म्हारे हीयडे बसताँ ना आवाँ ना जाती ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवाँ दिण राती ॥

(११)

प्रभुजी थे कटचाँ गयाँ नेहडा लगाय ।
छोडघा म्हा बिसवास संगती प्रीत री बाती जडाय ।
विरह समन्द मा छोड गयाँ छो नेह री नाव डचाय ।
मीराँ रे प्रभु कवरे मिलोगाँ थें विण र्हायाँ णा जाय ॥

(१२)

हरि म्हारा जीवण प्रान अघार ।
ओर आसिरो णा म्हारा थे विणा तीणू लोक मभार ।
थें विणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार ।
मीराँ रे प्रभु दासी रावड़ी डीज्यो णेक णिहार ॥

(१३)

माई री म्हाँ डियाँ गोविन्दाँ मोड़ ।
थे कह्याँ छाणे म्हाँ काँ चोड्डे डियाँ बजन्ताँ डोड़ ।
थे कह्याँ मूँहोष म्हाँ कह्याँ सुस्तो डियाँ री तराजाँ तोड़ ।
तण वाराँ म्हाँ जीवणवाराँ वाराँ अमोड़क मोड़ ।
मीराँ (कूँ) प्रभु दरसण दीज्याँ पुरव जणम को कोड़ ॥

(१४)

मण धें परस हरि रे चरण ।
 मुभग सीतड़ कंवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा-हरण ।
 इण चरण प्रह्लाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण ।
 इण चरण ध्रुव अटड़ करस्यां सरण असरण सरण ।
 इण चरण ब्रह्मांड भेटर्थां णखससिखां सिरि भरण ।
 इण चरण कालियां णाथ्यां, गोपड़ीड़ा करण ।
 इण चरण धारयां गोवरघण गरब मधवा हरण ।
 दासि मीरां लाल गिरघर अगम तारण तरण ॥

(१५)

आड़ी री म्हारे णेणा बाण पडी
 चित्त चडी म्हारे माधुरी मूरत, हिवडीं अणी गडी ।
 कब री ठाडी पंथ निहारीं, अपणे भवण खडी ।
 अटक्यां प्राण सांवरो प्यारो, जीवन मूर जडी ।
 मीरां गिरघर हाथ विकानी, लीग कहां विगडी ॥

(१६)

आवां मोहणा जी जोवां धारी बाट ।
 खाण पाण म्हारे णेक णा भावां नेणा खुडां कपाट ।
 थे आयां विण शुख णा म्हारो हिवडो घणो उचाट ।
 मीरां थे विण भई बावरी छांडर्थां णा गिरबाट ॥

(१७)

पीया विण रखां न जावां ।
 तण मण जीवन प्रीतम बारर्थां ।
 निसदिण जोवां बाट कब रूप लुभावां ।
 मीरां रे प्रभु आसा धारी दासी कंठ आवां ॥

(१८)

स्याम विणा सखि रखां णा जावां ।
 तण मण जीवन प्रीतम वारसा धारे रूप डुभावां ।
 खाणपाण म्हाणे फीकां डगां णेणा रखां मुरभावां ।
 निसदिण जोवां बाट मुरारी कब रो दरसन पावां ।
 बार-बार धारी अरजां करख्यूं रेण गयां दिण जावां ।
 मीरां रे हरि धें मिड्यां विण तरश-तरश जीया जावां ॥

(१६)

हेरी म्हाँ तो दरद दिवाणो म्हारां दरद णा जाण्यां कोय ।
घायड री गत घायड जाण्या हिवडो अगण संजोय ।
जौहर कीमत जौहरां जाण्यां क्या जाण्यां जिण खोय ।
दरद री मारघां दर-दर डोड्यां वैद मिड्या णा कोय ।
मीरां री प्रभु पीर मिटांगां जद वैद सांवरो होय ॥

(२०)

दरस विण हूखां म्हारा णेण ।
सबदां मुणतां छतियां कांपां मीठो थारो वेण ।
विरह विधा कांशूरी कह्यां पेठां करवत ऐण ।
कड णां पडतां हरि मग जोवां भयां छमाशी रेण ।
थें विछडघां म्हाँकडपां प्रभुजी म्हारो गयो शव चेण ।
मीरां रे प्रभु कव रे मिलोगां दुख भेटण शुख देण ॥

(२१)

घडी चेण णा आवडां थे दरसण विण [?] ।
धाम णा भावां नीद णा आवां विरह सतावां [?] ।
थायड री घुमां फिरां म्हारो दरद णा जाणचां कोय ।
प्राण गुमायां भूरतां रे णेण गुमायां रोय ।
पंथ निहारां डगर मभारां ऊभी मारग जोय ।
मीरां रे प्रभु कवरे मिलोगां थे मिड्या शुख होय ॥

(२२)

स्याम म्हाँ बांहडियां जी गह्यां ।
भोसागर भोभघारां वूडघां थारी सरण लह्यां ।
म्हारे अवगुण वार अपारां थे विण कूण सह्यां ।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी इज विरद री बह्यां ॥

(२३)

भुवणपति थे घरि आज्यां जी ॥
विधा लगा तण जारां जीवण तपतां विरह बुभयाज्यां जी ।
रोवतां रोवतां डोडतां सब रैण विहावां जी ।
भूख गयां निदरां गयां पापी जीव णा जावां जी ।
दुखियाणां शुखियां करां म्हाणे दरसण दीज्यां जी ।
मीरां व्याकुड विरहणी अब विडम णा कीज्यां जी ।

(२४)

माई म्हारी हरिद्रू णा वृभां वात ।
 पिड मांसू प्राण पापी निकड क्यू णा जात ।
 पटा णा खोड़यां मुखां णा बोड़यां सांभभयां परभात ।
 अबोड़णां जुग बीतण झागां कायां री कुशडात ।
 सावण आवण हरि आवण री सुण्या म्हाणे वात ।
 धोर रैणां बीजु चमकां वार गिणतां प्रभात ।
 मीरां दासी स्याम राती इडक जीवणां जात ।

(२५)

पिया धारे णाम डुभाणी जी ।
 णाम डैतां तिरतां सुण्यां जग पाहण पाणी जी ।
 कीरत काई णा कियां घणां करम कुमाणीजी ।
 गणका कीर पड़ावतां वैकुंठ बसाणी जी ।
 अरघ णाम कुंजर लयां दुख अवघ घटाणी जी ।
 गरुड छांड पग घाइयां पसु-जूण पटाणी जी ।
 अजामेड़ अघ ऊधरे जम-वास णसाणी जी ।
 पूतणाम जश गाइयां जग सारा जाणी जी ।
 सरणागत धे वर दियां परतीत पिछ्छाणी जी ।
 मीरां दासी रावली अपणी कर जाणी जी ।

(२६)

जाण्यां णां प्रभु मिड़णबिघ कयां होय ।
 आया म्यारे आंगणा फिर गया जाण्यां खोय ।
 जोवतां मग रैण बीतां दिवश बीतां जोय ।
 हरि पघारां आगणां गया म्हेँ अभागण सोय ।
 बिरह व्याकुड़ अणड अन्तर कड़ णा पडतां रोय ।
 दासी मीरां डाड़ गिरधर मिड़ णा बिछड़घां कोय ॥

(२७)

स्याम शुंदर पर वारां जीवडा डारां स्याम ।
 धारे कारण जग जण त्यागां डोक डाज कुड़ डारां ।
 धे देख्यां बिण कडणां पडतां णेणा चडतां धारां ।
 कयां सू कहवां कोण बुभावां कठण बिरह री धारां ।
 मीरां रे प्रभु दरशण दीश्यो धे चरणां आधारां ॥

(२८)

सांवरो म्हारी प्रीत णिभाज्यो जी ।
 थें छो म्हारो गुण रो शागर औगुण म्हां विशराज्यो जी ।
 डोक णा शीभयां मण णा पतीज्यां मुखडा सबद शुणाज्यो जी ।
 दासी धारी जणम जणम री म्हारा आंगण आज्यो जी ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर बेडा पार इगाज्यो जी ॥

(२९)

म्हारे घर होतां आज्यो महाराज ।
 नेण विछपाशुं हिवडो डाश्यूं सरपर राखूं विराज ।
 पांवडां म्हारो भाग सवारण जगत उधारण काज ।
 संकट भेटघां भगत जणारां थाप्यां पुन्न रा पाज ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर बांह गह्यां री डाज ॥

(३०)

धाणे काई काई बोड शुणावां म्हारां सांवरा गिरधारी ।
 पुरव जणम री प्रीत पुराणी जावा णा णिरवारी ।
 शुन्दर बदण जोवतां साजण धारी छबि बडहारी ।
 म्हारे आंगण स्वाम पधारां मंगड गावां नारी ।
 मोती चौक पुरावां णेणां तण मण डारां वारी ।
 चरण शरण री दासी मीरा जणम जणम री क्वारी ॥

(३१)

गिरधारी शरणां धारी आयां राख्यां किरपानिघाण ।
 अजामेड अपराधी तारयां तारयां नीच सदाण ।
 डूबतां गजराज राख्यां गणका चढ़यां विमाण ।
 ओर अघम बहुतां थें तारघां भाख्यां सणत सुजाण ।
 भीडण कुबजां तारघां गिरघर जाप्यां शकड जहाण ।
 बिरद वस्ताणां गणतां णा जाणा थाकां वेद पुराण ।
 मीरां प्रभु री सरण रावली विणतां दीश्यो काण ॥

(३२)

कमड दड डोचणां थें णाध्यां काड भुजंग ।
 काडिन्दी दह णाग णाध्यां काड फण फण निरत करंत ।
 कूदां जड अन्तर णा डरघां थें एक बाहु अणन्त ।
 मीरा रे प्रभु गिरघर नागर ब्रज वणतां रो कंत ॥

(३३)

रावडो विड्ड म्हाणे णूडो ड़ागां पीडत म्हारो प्राण ।
 शगां शणेहां म्हारे णां काई बर्यां सकड़ जहाण ।
 ग्राह गह्यां गजराज उवारयां अछत करघां बरदाण ।
 मीरा दासी अरजां करतां म्हारो सहारो णा आण ॥

(३४)

म्हा सुण्या हरि अघम उधारण ।
 अघम उधारण भव भय तारण ।
 गज बूडतां अरज सुण घायां भगतां कष्ट निवारण ।
 दुपद सुता णो चीर बडघयां दुसासण मद मारण ।
 प्रहड्हाद परतग्या राख्यां हरणाकुस णो उदर विदारण ।
 थे रिख पतणीं किरपा पायां विप्र शुदामा विपत विडारण ।
 मीरां रे प्रभु अरजी म्हारी अब अवेर कुण कारण ॥

(३५)

म्हाणे चाकर राखांजी गिरघारी ड़ाडा चाकर राखां जी ।
 चाकर रहस्यूं बाग ड़गास्यूं णित उठ दरशण पास्यूं ।
 बिन्द्रावण री कुंज गैड मां गोविण्ड ड़ीडा गास्यूं ।
 चाकरी मा दरसण पास्यूं शुमरण पास्यूं लरची ।
 भाव भगत जागीरां पास्यूं जणम जणम री तरशी ।
 मोर मुगट पीताम्बर शोहां गड़ बैजण्तां माडो ।
 बिन्द्रावण मा घेण चरावां मोहण मुरडी वाडो ।
 हरे हरे णवां कुंज लगास्यूं वीचां बीचां बारी ।
 सांवरयां रो दरशण पास्यूं पहण कुशुंबी शारी ।
 आघां रात प्रभु दरशण दीस्यो जमणा जी रे तीरां ।
 मीरा रे प्रभु गिरघर नागर हिवडो घणो अघीरां ॥

(३६)

माई म्हाणो शुपणा मां परण्यां दीणानाय ।
 छप्पण कोटां जणां पघरघां दूल्हो सिरि बजनाय ।
 शुपणां मां तोरण बंध्या री शुपणां मां गह्या हाय ।
 शुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचड़ शुहाग ।
 मीरां रो गिरघर मिडपा री पुरब जनण रो भाग ॥

(३७)

थे मत बरजाँ माई री साधाँ दरसण जावाँ ।
 स्याम रूप हिरदाँ बसाँ म्हारे ओर णा भावाँ ।
 सब सोवाँ मुख निदडो म्हारे रैण जगावाँ ।
 ग्याण णशाँ जग बावरा ज्याकूँ स्याम णा भावाँ ।
 मा हिरदाँ बस्या साँवरो म्हारे णीद णा आवाँ ।
 चौमाश्याँ री बावड़ी ज्याकूँ णीर णा पीवाँ ।
 हरि निर्भर अमरित भरयाँ म्हारी प्याश बुभावाँ ।
 रूप सुरंगा शामरो मुख निरखण जावाँ ।
 मीरा व्याकुड़ बिरहणी आपणी कर इघावाँ ।

(३८)

पपैया म्हारो कब रो बैर चितायाँ ।
 म्हा सोबूँ छी अपणे भवणमाँ पियु-पियु करताँ पुकारघाँ ।
 दाघ्याँ [] लूण इगायाँ हिबडे करवत सारघाँ ।
 ऊभा बेटघाँ विरछ री डाड़ी बोड़ा कंठ णा सारघाँ ।
 मीराँ रे प्रभु गिरघर नागर हरि चरणाँ चित घारघाँ ॥

(३९)

सखी म्हारी णीद णशाणी हो ।
 पिय रो पंथ निहारताँ शब रैण बिहाणी हो ।
 सखियाँ शब मिड़ सीख दयाँ मण एक णा माणी हो ।
 बिण देख्याँ कड़ णा पड़ाँ मण रोस णा ठाणी हो ।
 अङ्ग खीण व्याकुड़ भयाँ मुख पिव पिव वाणी हो ।
 अण्तर बेदण विरह री म्हारी पीड़ णा जाणी हो ।
 ज्यूँ चातक घण कूँ रटाँ मछरी ज्यूँ पाणी हो ।
 मीरा व्याकुड़ बिरहणी सुव-बुव विसराणी हो ॥

(४०)

हरि बिण क्यूँ जिवाँरी माय ।
 श्याम बिणा बौराँ भयाँ मण काठ ज्यूँ घुण खाय ।
 मूड ओखद णा इग्याँ म्हाणे प्रेम पीडा खाय ।
 मीण जड़ बिछुडचा णा जीवाँ तड़फ़ मर-मर ज्याय ।
 हूड़ताँ बण स्याम डोड़ा मुरडियाँ घुण पाय ।
 मीराँ रे प्रभु डाड़ गिरघर बेग मिड्यो आय ।

(४१)

देखीं माई हरि मण काठ कियीं ।
 आवण कह गयीं अजां णा आयीं कर म्हाणे कोइ गयीं ।
 खाण-पाण सुध-बुध सब बिसरघां काईं म्हारो प्राण जियां ।
 धारो कोइ विरुद जग धारो थे काईं विशर गयीं ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर थे विण फटां हियां ॥

(४२)

थ विण म्हारे कोण खबर डे गोबरघण गिरघारी ।
 मोर मुगट पीताम्बर शोभां कुंडड री छव प्यारी ।
 भरी सभां मा द्रुपद सुतारी राख्या ड़ाज मुरारी ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर चरण कवड बड़हारी ॥

(४३)

म्हारो जणम-जणम रो शायी धाणे ना विशरघा दिण रांती ।
 घां देख्यां विण कड ना पडतां जाणे म्हारी छांती ।
 ऊचां चढ-चढ पंथ निहारघां कडप-कडप अखयां रांती ।
 भोसागर जग वंघण भूठां-भूठां कुड रां प्याती ।
 पड-पड धारां रूप निहारां णिरख-णिरख मदमांती ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर हरि चरणा चितरांती ॥

(४४)

जोशीडा णे लाख बघायां रे आख्यां म्हारो स्याम ।
 म्हारे आणंद उमंग भरघां री जीव लह्यां शुखधाम ।
 पांच शख्यां मिड पीव रिभावां आणंद ठामाठाम ।
 विशर जावां दुख निरखां पिया री सुफड मणोरथ काम ।
 मीरां रे शुखसागर स्वामी भवण पधारघां स्याम ।

(४५)

शुण्या री म्हारे हरि आवांगा आज ।
 म्हैडा चढ-चढ जोवां सजणी कव आवां महाराज ।
 दादुर मोर पपीआ बोडघां कोइइ मधुरां शाज ।
 उमग्यां इंद चहूँ दिश बरघां दामण छोटघां ड़ाज ।
 परती रूप नवां-नवां घरघां इंद मिडण रे काज ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर बेग मिडघो महाराज ॥

(४६)

वस्यां म्हारे णेणण मां नण्डलाइ ।
 मोर मुगट मकराकृत कुंडइ अरुण तिइक सोहां भाइ ।
 मोहण मूरत सांवरौं दूरत नैणां वण्या विशाइ ।
 अघर मुधारण मुरड़ी राजां उर बैजण्ठां माइ ।
 मीरां प्रभु संतां शुखदायां भगत बछइ गोपाइ ।

(४७)

पग बांध घुंघर्यां णाच्यां री ।
 डोग कल्यां मीरां वावरी शासू कल्या कुडनाशां री ।
 बिखरो प्याडो राणां भेज्यां पीवां मीरा हांशां री ।
 तण-मण वारचां हरि चरणां मां दरसनअमरित पास्यां री ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर धारी शरणं आख्यां री ।

(४८)

सांवरियो रंग रांचां राणां सांवरियो रंग रांचां ।
 ताइ पखावजां मिरदंग बाजां साधां आगे णाचां ।
 वूभया माणे मदण वावरी श्याम प्रीत म्हां कांचां ।
 बिखरो प्याडो राणां भेज्या आरोम्यां णा जांचां ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर जणम-जणम रो सांचां ॥

(४९)

वादइ देखां भरी स्याम वादइ देख्यां भरी ।
 काडा पीडा घटचां ऊडघमां बरस्यां च्यार घरी ।
 जित जोवां तित पाणी-पाणी प्यासां भूम हरी ।
 म्हारा पिया परदेसां बसतां भोज्यां दार खरी ।
 मीरां रे प्रभु हरि अविणासी करदयो प्रीत खरी ॥

(५०)

बरसां री बदरियां शावण री शावण री मणभावण री ।
 वावण मां उमग्यो म्हारो मण री भणक शुण्या हरि आवण री ।
 उमड-धुमड घण मेघां आयां दामण घण भर झावण री ।
 बीजां बूदां मेंहां आयां वरसां शीतइ पवण शुहावण री ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर वेडा मंगड गावण री

(५१)

बिध बिधना री प्यारों ।
 दीरघ नेंग मिरघ कूँ देखौ वण-वण फिरताँ मारां ।
 उजड़ो बरण बागड़ीं पावौ कोयड़ बरणाँ कारौ ।
 नदयाँ-नदयाँ निरमड़ धाराँ समुंद करयाँ जड़ खाराँ ।
 मूरख जण सिंगासण राजौ पंडित फिरताँ द्वाराँ ।
 मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर राणाँ भगत संघाराँ ।

(५२)

बादड़ा रे धें जड़ भराँ आज्यो ।
 भर-भर बूदाँ बरवाँ आड़ी कोयड़ सबद शुणाज्यो ।
 गाज्याँ बाज्याँ पवण मधुरघो अंबर बदराँ छाज्यो ।
 शेज सवारघा पिय घर आश्याँ शखयाँ मंगड़ गाश्यो ।
 मीराँ रे प्रभु हरि अबिणासी भाग भड़घाँ जिणपाश्यो ॥

(५३)

पिया बिरण सूणो छे म्हांरां देस ।
 एसां णा काँई पीव मिड़ावां तण मण वारां असेस ।
 धारे कारण वण वण डोड़याँ ड्याँ जोगण रो भेस ।
 बीतां चुमसां मांसां बीतां पंडर री म्हारा केस ।
 मीरां रे प्रभु कबरे मिड़ोगां तज दघाँ णगर णरेश ।

(५४)

करम गत टारां णा री टरां ।
 सतवादी हरचंदां राजां डोम घर णीरां भरां ।
 पाँच पांडु री राणी द्रपता हाड़ हिमाड़ां गरां ।
 जग्ग कियां बड़ डेण इंद्राशण जांयां पताड़ परां ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिख हूँ अमरित करां ॥

(५५)

स्याम विण दुख पावां सजणी कुण म्हां धीर बांधावां ।
 यो संघार कुबुध रो भांडो साध शंगत णा भावां ।
 साधां जण री निघां ठाणां करम राँ कृगत कुमावां ।
 साध शंगत माँ भूड़ णा जावां मूरिख जणम गुमावां ।
 मीरां रे प्रभु धारी सरणां जीव परम पद पावां ॥

(५६)

म्हारो झोड़गियां घर आज्यो जी ।
 तण री ताप मिटघां शुक्ल पाख्यां हिड़मिड़ मंगड़ गाज्यो जी ।
 घण री धुण घुण मोर मगण भयां म्हारे आंगण आज्यो री ।
 चंदा देख कमोदण फूड़ां हरख भयां म्हारे छाज्यो जी ।
 रूम रूम म्हारो शीतड़ सजणी मोहण आंगण आज्यो जी ।
 सब भगतां रा कारज शाघां म्हारां परण निभाज्यो जी ।
 मीरां बिरहण गिरघर नागर मिड़ दुल्ल दंदां छाज्यो जी ॥

(५७)

सखि म्हारो सामरिया णे देखवां करां री ।
 सांवरो उमरण सांवरो सुमरण सांवरो ध्याण घरां री ।
 ज्यां ज्यां चरण घरघां घरणीघर () निरत करां री ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर कुंजां गैड़ फिरां री ॥

(५८)

म्हारो मण सांवरो णाम रटघां री ।
 सांवरो णाम जपां जग प्राणी कोटघा पाप कटघां री ।
 जणम जणम री खतां पुराणी णामां स्याम मटघां री ।
 कणक कटोरां इअत भरघां पीवतां कूण नटघां री ।
 मीरां रे प्रभु हरि अविणासी तण मण स्याम पटघां री ॥

(५९)

म्हां गिरघर आगां नाच्यां री ।
 णाच णाच म्हां रसिक रिभावां प्रीत पुरातण जांच्यां री ।
 स्याम प्रीत रो बांच धूघरघां मोहण म्हारो सांच्यां री ।
 डोक दाज कुडरां मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री ।
 प्रीतम पड़ छड़ णा विसरावां मीरां हरि रंग राच्यां री ॥

(६०)

बरजी री म्हां स्याम विणा न रहां ।
 साघां संगत हरि शुक्ल पाख्यूं जग धू दूर रहां ।
 तण घण म्हारो जावां जादयां म्हारो सीस ढहां ।
 मण म्हारो डाय्यां गिरघारी जग रा बोड़ शहां ।
 मीरां रे प्रभु हरि अविणासी थारी सरण गहां ॥

(६१)

माईं म्हा गोविन्द गुण गाणा ।
 राजा ह्दयां णगरी त्यागां हरि ह्दयां कठ जाणा ।
 राणा भेज्यां विखरो प्याडा चरणामृत पी जाणा ।
 काडा पाग पिटार्यां भेज्यां शाङ्गराम पिछाणा ।
 मीरां गिरघर प्रेम वावरी सांवड्या बर पाणा ॥

(६२)

म्हारो गोकुड रो ब्रज वाशी ।
 ब्रजडीडा इख जण सूख पावां ब्रज बणतां सुखराशी ।
 णाच्यां गावां ताड बज्यावां पावां आणद हाशी ।
 णण्ड जसोदा पुन्न री प्रगटचां प्रभू अविनाशी ।
 पीताम्बर कट उर बैजणतां कर शोहां री बांशी ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर दरशन दीश्यो दाशी ॥

(६३)

धारो रूप देख्यां अटकी ।
 कुड कुटम्ब सजण सकड वार वार हटकी ।
 विश्रयां णा इगण इगां मोर मुगट णटकी ।
 म्हारो मण मगण स्याम डोक कह्यां भटकी ।
 मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्यां घट घट की ॥

(६४)

बडे घर ताडो लागां री पुरबडा पुन्न जगावां री ।
 भीड्ड्यां री कामणा म्हारो डावरां कुण जावां री ।
 गंगा जमणा काम णा म्हारे म्हा जावां दरयावां री ।
 कामदार शू काम णा म्हारे जावां म्हा दरवारां री ।
 हेड्या मेड्या काम णा म्हारे वैट्या मिड शरदारां री ।
 कांच कथीर शू काम णा म्हारे चड्या घण री सार्यां री ।
 सोणा रूपां शू काम णा म्हारे हीरां रो व्योपारां री ।
 भाग हमारो जाग्यां रे रतणाकर म्हारी शीरचां री ।
 प्याडो अन्नत छांद्यां रे कृण पीवां कडवां नीरयां री ।
 भगत जणा प्रभु परचां पावां जावां जगतां दूरयां री ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर मणरथ करस्यां पूरचां री ॥

(६५)

म्हारो मण हर झीण्यां रणछोड़ ।
 मोर मुगट शिर छत्र बिराजां कुंडड़ री छव भोर ।
 चरण पखार्यां रतणाकर री धारा गोमत जोर ।
 घजा पताका तट तट राजां भाडर री भकभोर ।
 भगत जाण्यां रो काज संवार्यां म्हारा प्रभु रणछोर ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर कर गह्यो णण्ड किसोर ॥

(६६)

पिया म्हारे णेणां आगां रहज्यो जी ।
 णेणा आगां रहज्यो म्हणे भूड़ णा जाज्यो जी ।
 भोसागर भ्हा वूड़चा चाहो, स्याम वेग सुघ झीज्यो जी ।
 राणा भेज्या बिल्लरो प्याडो थें इमरत वर दीज्यो जी ।
 मीरा रे प्रभु गिरघर नागर मिड़ विछड़ण मत कीज्यो जी ॥

(६७) क

काईं म्हारो जणम वारम्बार ।
 पुरबलां काईं पुन्न खूट्यां माणशा अवतार ।
 बढ्या छिण-छिण घट्या पड़-पड़ जात णा कछ वार ।
 बिरछ रां जो पात टूट्यां लग्यां णा फिर डार ।
 भौ समुन्द अपार देखां अगम ओखी धार ।
 डाड़ गिरघर तरण तारण वेग करव्यो पार ॥

(६७) ख

रास पूणो जणमिया री राधका अवतार ।
 ज्ञाण-चोसर मंडी चोंहटें खेड़तां संसार ।
 गिरघरां री रची बाजी जीत भावांहार ।
 साध संता ज्ञाणवन्ता चालतां उच्चार ।
 दासि मीरां डाड़ गिरघर जोवणा दिण च्यार ॥

(६८)

अव तो निभायां बांह गह्यां री डाज ।
 असरण सरण कह्यां गिरघारी पतित उवारण पाज ।
 भोसागर मभधार अधारां, थें विण घणो अकाज ।
 जुग जग भीर हरां भगतां री दीश्यां मोच्छ नेवाज ।
 मीरां सरण गह्यां चरणां री लाज रखां महाराज ॥

(६६)

हरि धें हरघां जण री भीर ।
 द्रोपता री ङाज राख्यां धें बढघायीं चीर ।
 भगत कारण रूप णरहरि घरघां आप सरीर ।
 वूडतीं गजराज राख्यां कटघा कुंजर पीर ।
 दासि मीरा ङाड़ गिरघर हरां म्हाारी भीर ॥

[स्त]

काशी की प्रति से—

(७०)

होड़ी पिया विण म्हाणे एा भावां घर आंगणाणा शुहावां ।
 दीपां जोयां चोक पुरावां हेड़ी पिया परदेस शजावां ।
 दूणी शेजां ब्याड़ बुभावां जागा रेण बितावां ।
 णीद नेणा णा आवां ॥
 कब री ठाड़ी म्हा मग जोवां णिवा दिण विरह जगावां ।
 मया शू मण री विथा बतावां हिवडो म्हां अकुड़ावां ।
 पिया कब दरश दस्तावां ॥
 दीख्यां णा काई परम सरोही म्हारो सरोशा लावां ।
 वां विरयां कब होशी म्हारो हंस पिय कण्ठ ङगावां ।
 मीरा होड़ी गावां ॥

(७१)

चाड़ा अगम वा देस कोड देख्यां डरां ।
 भरां प्रेम रां होज हंस केड़ा करां ।
 साधा सन्त रो शंग म्याण जुगतीं करां ।
 घरां साँवरो ध्यान चित्त उजड़ो करां ।
 सील धूँघरां बाध तोस निरतीं करां ।
 साजां शोड़ शिगार शोणा रो राजड़ां ।
 साँवडया शू प्रीत शोर शू आलड़ां ॥

(७२)

णन्द णण्डण मण भायाँ बादहाँ णभ छायाँ ।
इत घण डरजाँ उत घण गरजाँ चमकाँ विज्ज डरायाँ ।
उमड घुमड घण छायाँ () पवण चल्याँ पुरवायाँ ।
दादर मोर पपीया बोलाँ कोयड शबद शुणायाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरघर नागर चरण कंवड चितड़ायाँ ॥

(७३)

रंगभरी रागभरी राग सूं भरी री ।
होड़ी खेड्या स्याम वांग रंग शूं भरी री ।
उठत गूडाड लाड बादडा रो रंग डाड ।
पिचकाँ उडावाँ रंग-रंग री भरी री ।
चोवा चन्दण अरगजाँ म्हाँ केसर णो गागर भरी री ।
मीराँ दासी गिरघर नागर चेरी चरण घरी री ॥

(७४)

साँवडिया म्हारो छाया रह्या परदेस ।
म्हारा विछडया फेर न मिड्या भेज्याँ णा एक शन्नेस ।
रतण आभरण भूखण छाड्याँ खोर कियाँ शर केस ।
भगवाँ भेल्ल घर्याँ थें कारण हूँड्याँ चार्याँ देस ।
मीराँ रे प्रभु स्याम मिडण विणा जीवण जणम अणेस ॥

(७५)

तणक हरि चितवाँ म्हारी ओर ।
हम चितवाँ थे चितवाँ णा हरि हिवडो बडो कठोर ।
म्हारी आसा चितवण धारी ओर णा दूजाँ दोर ।
ऊम्याँ ठाडी अरज करूँ छूँ करताँ-करताँ भोर ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी देख्युँ प्राण अंकोर ॥

(७६)

णातो साँवरो री म्हासूं णा तोडया जाय ।
पाणाज्युँ पीडी पडी री लोग कहाँ पिड बाय ।
बावडा वेद बुडाडया री म्हारी बाँह दिखाय ।
वेदा मरम णा जाणा री म्हारों हिवडो करकाँ जाय ।
मीराँ व्याकुड विरहणी प्रभु दरसण दीश्यो आय ॥

(७७)

साँवरी शुरत मण रे बशी ।
गिरधर ध्याण घराँ निश बासर मूरत मोहण म्हारे बशी ।
कहा कराँ कित जावाँ सजणी म्हा तो स्याम डशी ।
मीराँ रे प्रभु कबरे मिड़ोगाँ णित णव प्रीत रशी ।

(७८)

नागर णंद कुमार लाग्यो धारो णेह ।
मुरड़ी घुण सुण बीसराँ म्हारो कुणबोगेह ।
पाणी पीर णा जाणई तड़फ मीण तज्याँ देह ।
दीपक जाणा पीर णा पतंग जड़या जड़ खेह ।
मीराँ रे प्रभु साँवरो थे विण देह अदेह ॥

(७९)

साजण म्हारे घर आयीं हो ।
जुगाँ-जुगाँ री जोवतां बिरहण पिव पायां हो ।
रतण कराँ नेवछावरां डे आरत साजां हो ।
प्रीतम दयां संगेसड़ां म्हारों घणों णेबाजां हो ।
पिय आया म्हारे साँवरा अंग आणंद साजां हो ।
मीरां रे शुख सागराँ म्हारे सीश बिरांजां हो ॥

(८०)

म्हाणे क्यां तरशावां ।
धारे कारण कुड़जग छांड्या अब थें क्यां विशरावां ।
बिरह विथा ड्याया उर अन्तर थे आश्यां णां बुभावां ।
अब छांड्या णा बणे मुरारी सरण गह्यां बड़ जावां ।
मीरां दाशी जणम-जणम री भगतां पेज णिभावां ॥

(८१)

नीदडी आवाँ णा शारां रात कुण बिष होय प्रभात ।
चमक उठाँ शुपणा इख सजणी शुच णा भूड्याँ जात ।
तड़फाँ-तड़फाँ जीयरा जायाँ कब मिड़ियाँ दीणापाय ।
भयाँ बावराँ सुध-बुध भूडाँ पीव जाण्या म्हारी बात ।
मीराँ पीड़ा शोई जाणां मरण जीवण जिण हाथ ॥

(८२)

धें जीम्या गिरघर लाड़ ।

मीरां दासी अरज कर्यां छे म्हारो लाड़ दयाड़ ।
छप्पण भोग छतीशां विजण पावां जण प्रतिपाड़ ।
राजभोग आरोग्यां गिरघर सण्मुख राखां थाड़ ।
मीरां दासी सरणां ज्यांशी कीज्यां वेग निहाड़ ॥

(८३)

माई सांवरे रंग रांची ।

साज शिगार बांध पग धूंधर डोक ड्राज तज रााची ।
गयां कुमत ड्यां साधां शंगत स्याम प्रीत जग शांची ।
गाथां गार्यां हरि गुण णिस दिण काड़ व्याड़ री बांची ।
स्याम विणा जग खारां लागीं जगरी वातां कांची ।
मीरां सिरी गिरघर नटनागर भगत रसीड़ी जांची ॥

(८४)

जग मा जीवणा थोड़ा कुणो लयां भव भार ।

मात-पिता जग जणम दयांरी करम दयां करतार ।
खायां खरचां जीवण जावां काई करयां उपकार ।
साधां संगत हरिगुण गास्यां ओर णा म्हारी लार ।
मीरां रे प्रभु गिरघर नागर थे बड़ उतर्यां पार ॥

(८५)

सांवरो णदणण्दरा दीठ पडयां माई ।

डारयां शव डोक लाज शुध-बुध विशराई ।
मोर चन्द्रका किरिट मुगट छव शोहाई ।
केसर रो तिड़क भाल डोचण शुख दाई ।
कुंडल भडकां कपोल अडकां लहराई ।
मीणा तज सर वर ज्यों मकर मिलण घाई ।
नटवर प्रभु भेख घरयां रूप जग डोभाई ।
गिरघर प्रभु अंग-अंग मीरां बड़जाई ॥

(८६)

अंखयां तरवां दरसण प्याशी ।

मग जोवां दिण बीतां सजणी रैण पडया दुख राशी ।
डारां बेठ्यां कोयड़ बीड्यां बोड़ शुण्या री गांशी ।
कडवां बोड़ डोक जग बोड्यां करस्यां म्हांरी हांशी ।
मीरां हरि रे हाथ विकारणी णम जणम री दाशी ॥

(८७)

णेणा डोभां घाटकां शक्यां णा फिर आय ।
 रूम-रूम णख सिल लख्यां लहक-लहक अकुडाय ।
 म्हा ठाडी घर आपणे मोहण णिकड्यां आय ।
 वदण चन्द परगासतां मण्द मण्द मुशकाय ।
 शकड कुटम्बां वरजतां बोड्यां बोड बणाय ।
 णेणा चंचड अटक णा माण्या पर हय गयां विकाय ।
 भलो कहां काई कहां बुरोरी शव लयां सीश चढाय ।
 मीरां रे प्रभु गिरघर नागर विणा पड रखां णा जाय ॥

(८८)

माई री म्हारे णेणा बाण पडी ।
 ज्यां दिण णेणा स्याम निहारयां विशरयां णाहि घरी ।
 चित्त वश्यां म्हारे सांवरो मोहण तण मण शुघ विशरी ।
 णा छाकां रस रूप माघुरो छांण थक्यां डगरी री ।
 मीरां हरि रे हाय विकानी जग कुड काण सरी री ॥

(८९)

लगण म्हारी स्याम शूं लागी ।
 णेणा गिरख शुख पाय ।
 साजां सिगार शुहागां सजणी प्रीतम मिड्यां घाय ।
 बर णा बरयां वापुरो जणम्या जणम णसाय ।
 बरयां साजण सांवरो म्हारो चुडडो अमर हो जाय ।
 जणम-जणम रो काण्हडो म्हारी प्रीत बुभाय ।
 मीरा रे प्रभु हरि अविणासी कब रे मिड्यो आय ॥

(९०)

प्यारे दरशण दीश्यो आय थे विणा रखा णा जाय ।
 जड विणा कंवड चंद विणा रजणी थे विणा जीवण जाय ।
 आकुड व्याकुड रेण बिहावां विरह कडेजो साय ।
 दिवस णा भूख निदरां रेणा मुखशूं कहा णा जाय ।
 कोण सुणे काशूं कहियां री मिड पिय तपण बुभाय ।
 क्यूं तरशावां अन्तरजामी आय मिडो दुख जाय ।
 मीरा दासी जणम जणम री थारो णेह लगाय ।

(६१)

छोड़ मत जाज्यो जी महाराज ।
 म्हा अबड़ा बड़ म्हारो गिरधर थें म्हारो सरताज ।
 म्हा गुनहीन गुणागर नागर म्हा हिवड़ो रो साज ।
 जग तारण भोभीत निवारण थें राख्यां गजराज ।
 हारयां जीवण सरण रावलां कठे जावां ब्रजराज ।
 मीरां रे प्रभु ओर णा काई राखा अबरी डाज ॥

(६२)

आजु शुण्या हरि आवां री ।
 आवांरी मण भावां री ।
 हरि णा आवां गेंड लखावांगेंड वाण पडया डडचावां री ।
 णेणा म्हारों कह्यां णा माणा पीर भरयां निश जावां री ।
 काईं करयां कछ णा वस म्हारो णा म्हारे पंख उडावां री ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बाट जोहां थे आवां री ॥

(६३)

स्याम मिड़ण रे काज सखि उर आरत जागी ।
 तड़फ-तड़फ कड़ णा पड़ां विरहाणड़ डागी ।
 निशदिण पंथ णिहारां पिव रो पड़क णा पड़ भर डागी ।
 पीव-पीव म्हा रटां रेण दिण डोक लाज कुड़ त्यागी ।
 विरह मुवंगम डस्यां कड़ेज्यां इहर हड़ा हड़ जागी ।
 मीरा व्याकुड़ अत अकुडाणी स्याम उमंगा डागी ।

(६४)

मुरडिया बाजां जमणा तीर ।
 मुरड़ी म्हारो मण हर इन्हो चित्त घरां णा धीर ।
 श्याम कण्ठैया स्याम कमरयां स्याम जमण रो नीर ।
 धुण मुरड़ी शुण शुच बुध विशरां जर जर म्हारो सरीर ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेग हरयां म्हा पीर ।

(६५)

म्हारो सांवरो ब्रज बाशी ।
 जग शुहाग मिथ्या री सजणी होवां हो मटज्याशी ।
 बरन करयां अविनाशी म्हारो काड़ व्याड़ णा साशी ।
 म्हारो प्रीतम हिरदां बसतां दरस लहयां शुख राशी ।
 मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी सरण गहयां थे दाशी ॥

(६६)

री म्हा बैठ्यां जागां जगत शब शोवां ।
 बिरहण वेठ्यां रंग महड मा णेणा लड्या पोवां ।
 तारां गणता रेण बिहावां सुख घड्यां री जोवां ।
 भीरां रे प्रभु गिरघर नागर मिड बिछड्यां णा होवां ।

(६७)

सजणी कब मिडव्या पिव म्हारां
 चरण कवड गिरघर सुख देश्यां राख्यां णेणा णेरां ।
 णिरखां म्हारो चाव घणेरो मुखडा देख्यां थारां ।
 व्याकुड प्राण धरयां णा धीरज बेग हरयां म्हा पीरां ।
 भीरां रे प्रभु गिरघर नागर थे विण तपण घणेरां ।

(६८)

सांवरे री म्हा तो रंग राती ।
 स्याम सणेशो म्हा णा दीश्यां जीवण जोत बुभाती ।
 ऊंचा डच चड पंथ निहारयां मग जोवां दिन राती ।
 थें देख्यां विण कड णा पडतां फाट्यां री म्हा छाती ।
 भीरां रे प्रभु दरसण दीश्यो बिरह विथा विडलाती ॥

(६९)

म्हा लागां लगण सिरि चरणा री ।
 दरस विणा म्हाणे कळ णा भावां जग माया या सुपणा री ।
 भो सागर भय जग कुड वण्वण डार दयां हरि चरणां री ।
 भीरां रे प्रभु गिरघर नागर आस गह्यां थे सरणा री ।

(१००)

गिरघर म्हारो प्यारो ।
 जणम लयां मधुरा णगरी मां विणरावण पग धारो ।
 गत दीश्यां पूतणा कटभां केतां अघम उधारो ।
 जमणा तीरां धेण चरावां ओढां कामर कारो ।
 श्यामड वदण कमड दड लोचणां पीताम्बर पटवारो ।
 मोर मुगट भकराकृत कुंडड करमा मुरडी धारो ।
 जड बूडतां राख्यां ब्रजवासी छागण गिरघर धारो ।
 भीरां रे प्रभु गिरघर नागर थे म्हा प्राण अघारो ॥

(१०१)

माईम्हा गोविन्द गुन गाव्यां ।
 चरणान्नतरौ नेम शकारे णित उठ दरसण जाव्यां ।
 हरि मंदिरमा निरत करावां धूंधरयां घमकाव्यां ।
 श्याम नाम रा भ्राभू चडाव्यां भोसागर तर जाव्यां ।
 यो संसार बीड रो कांटो गेड प्रीत अटकाव्यां ।
 मीरां रे प्रभू गिरधर नागर गुन गावां शुख पाव्यां ।

(१०२)

होडी पिया विण लागां री खारी ।
 शूणो गांव देस शव शूणो शूणी सेज अटारी ।
 शूणी बिरहण पिब विण डोडां तज गयां पीब पियारी ।
 [बिरहा दुख मारी ॥
 देस बिदेशा गा जावां म्हारो आणेशा भारी ।
 गणतां गणतां घिश गयां रेखां आंगरियां री शारी ।
 आयां णा री मुरारी ॥
 बाज्यां भ्राभू मिरदंग मुरडियां बाज्यां कर इकतारी ।
 आयां बसंत पिया घर णा री म्हारी पीडा भारी ।
 स्याम मण क्यां री बिसारी ॥
 ठाडी अरज करां गिरधारी राख्यां डाज हमारी ।
 मीरां रे प्रभू मिहदयो माघो जणम जणम री क्वारी ।
 मणे लागी दरसण तारी ॥

नोट—१ से ६६ तक के पद ढाकोर की हस्तलिखित प्रति से अविकल रूप में लिये गए हैं। इनमें प्रायः 'ल' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग है। मूल प्रति में इसका चिह्न कुछ-कुछ मराठी के 'ल' से मिलता जुलता है, किन्तु इसका उच्चारण कोमल 'ड' की तरह होता है।

काशी की प्रति में कहीं 'ल' के स्थान पर सम्पूर्ण 'ड' का प्रयोग किया गया है और कहीं 'ल' का ही। सम्भव है हस्तलिखित प्रतियों की अति प्राचीनता काल के कारण कहीं-कहीं अशुद्ध पाठ जान पड़े, किन्तु चेष्टा यही की गई है कि मूल में जो पाठ उपलब्ध हैं वे ही ज्यों-के-स्थान प्रस्तुत पदावली में रखे जाएं।

काशी की प्रति से उद्धृत (संख्यां ६६ से आगे के) पदों की नाथा में भारत के कुछ प्रचलित प्रयोगों की मात्रा अधिक देख पड़ेगी।

(१०३)

षेणा वणज बसावां री म्हारा सांवरा आवां ।
 षेणा म्हारा सांवरा राज्यां डरतां पड़क णा डावां ।
 म्हारा हिरदां बस्यां मुरारी पड़ पड़ दरशण पावां ।
 स्याम मिलण सिंगार शजावां शुख री सेज बिछावां ।
 मोरां रे प्रधु गिरघर नागर बार-बार बड़ जावां ॥

शब्दानुक्रमशिका

अ			
		अनुलाप	८९
		अपलाप	८९
अनुराग	७५, ९०	अतिदेश	८९
अर्जुनदास	२६५	अपदेश	८९
अप्रकटलीला	९३	अमर्ष	८८
अरुण	८८	असूया	८८
अंगज	८९	अनिरुद्ध	१०८
अनुलाप	८९	अभिलाष	९२
अभिसार	७९	अथर्वं शीष	१०५
अपर्णा	७९	अच्युत	१०६
अभिशाप	७८	अमृततत्व	८६
अग्निशर्मा दुर्वासा	७६	अकल	१०३
अमितार्था	८५	अनीह	१०३
अघरदंशन	८५	अर्द्ध नारीश्वर	९५
अनुकूल	८५	अन्तःसम्मिलन	९६
अयौथिकी	८४	अलबस्तामी	९४
अष्टांग	८५	अन्तमिलन	११९
अघीरा	८४	अर्द्ध सिद्धि	१५०
अभिसारिका	८४	अलवार भक्त	१५५
अनसूया	७५	अजात रति	१५४
अनुभावों की विशेषता	८९	अनाहत	२२२
अष्टकालीन लीला	९३	अनुभवैकगम्य	२४४
अधिरुद्ध	९०	अव्ययकालत्व	१५९
अनहद	१२२, २०४	अन्तर्वासी	२३२
अपस्मार	८८	अघरामृत	७०
अवहित्या	८८	अहल्या	६९

अनुराग	११०	आनन्दस्पृहा	११२
अजामिल	१६१	आरोप	६६
अष्टसिद्धियाँ	६८	आदि बुद्ध	६४
अन्नमय	६७	आत्मनिवेदनासक्ति	१२०
अंताल	१०६	आध्यात्मिक प्रणय	१२८
अंगिरस	१०६	आनन्दोपलब्धि	१४५
अंतरंग साधना	६७	आज्ञा	१५६
अंगसौरभ	८७	आशाबंध	१६०
अंगुरीयक	८७	आँख-मिचौनी	२३४

आ

आत्मरति	१२७, २१७	आत्मनिवेदन	२२५
आत्मप्रकाश	१२६	आश्रयालंबन	१६१
'आँसू'	१४०	आनन्दानुभूति	२५२
आथेलो	१४१	आत्ममिथुन	२१७, २८१
आदि पुरुष	७४	आत्मक्रीड़ा	२१७, २८१
आदि वासना	७४	आत्मरमण	२८१
आत्मानुभूति	८५	आत्मानन्द	२१७
आलिंगन	६३	आत्मसमर्पण	७५
आँखमिचौनी	६३	आनन्द-विलास	२१६
आत्मसमर्पण	६०	आनन्दमय	६७
आत्मवंचित्य	६०	आनन्द-मधु	७६
आत्म-विस्मरण	६०	आत्मदान	७८
आवेग	८८	आराधना	७८
आलाप	८६	आध्यात्मिक परिणम	७७
आत्मतर्पणैकतात्पर्याँ	८६	आश्रम कन्या	७६
आह्लादिनी शक्ति	१०६	आलेप	८७
आलवार	१०६	आंतरायिक	८७
आत्मापण	१०६	आकल्प	८७
आनंदभोग	११२	आप्तदूती	८५
आत्मदर्शी	१०८	आप्त	८५
		आनन्दमधु	७१
		आलम्बन विभाव	८५

कायासिद्धि	६६	कृष्णरति	८६
कायाशोधन	६६	कन्दर्प	८६
कान्ताभाव	१२५	कीट्स	७१
कान्तासक्ति	१२०	कृष्णसेवा	८४
कात्यायनी देवी	१३५	काव्य-शास्त्र	८४
कुमारसम्भव	७८, १४१	कृष्ण-कृपा	८३
कृष्णभावनामृत	१५५	कनिष्ठा	८४
क्लेशघ्नी	१५८	क्रोशन	८८
कामगन्धहीन	२४६	कल्कि	८८
कामरूपा	१५६	कूर्म	८८
कवीन्द्र रवीन्द्र	२२३	कपिल	८८
कालिदास	२५३	कंबु	८७
कान्तरति	२५०	कण्व	७५
कबीर २६३, ६६, २१२, १२४, २१७		कान्होपात्रा	१०६
कैकयी	६६		
कृष्णाभिसार	१८१, ७६	ख	
कृष्ण	६८, ६८, ७६, ८८	खंडता	८४
कौशल्यानन्दन	६८		
कृष्णोपनिषद्	६८	गोपीकृष्ण	७१
कन्यका	८३	गौड़ीय वैष्णव	१५४
केशवसन	८६	गोलोक	८४, ८५
क्रीडा-माधुरी	१६०	गर्व	८८
केयूर	८७	ग्लानि	८८
कुंडल	८७	गोपियाँ	८६
किरीट	८७	गीता	१०६, ११७
कबूर	८७	गुण-कीर्तन	६२
कवरी	८७	गोपाल कृष्ण	१०५
केशवन्धन	८७	गोपाल तापनी	१०५
कंचुक	८७	गुह्यसाधना	६४
कैशोर	८६	गीत	८८
कोमार	८६	गोपीगीत	१३३
कायिक	८६	गौराङ्ग देव	१५५

जीव-जीवन	६३	दक्षिण	८५
जल्वागर	१४२	दुर्लभता	८६
जीव गोस्वामी	८२, ८३, १५३, १५४,	दैन्यज्ञा	८५
जातति	१५५, ६७	दुष्टवध	८६
जनकपुर	६६	दुष्यन्त	७५, ७८
जलालुद्दीन	१८१	दोहद	७८
जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्यजी	६६	दादू	२००, २१३
जूभा	८६	दानलीला	६३, १६०
जैवधर्म	८१	दास्यरस	८१
जड़जगत्	८१	देवकीपुत्र	६८
जमना	७६	दधिवेचन लीला	१६१
जूट	८७	दाम्पत्यरति	१६२
	ड	दास्य	७०, २४८
डायना	७२	दूरत्व	७०
	त	दिग्घ	६६
तैत्तिरीय	१०५, ११२	दान्ते	१३६
तानव	६०	दिव्य रोमांस	१२४
तन्मयतासक्ति	१२०	दिव्यानंद	६४
तन्मयता	१२०	दिव्य शरीर	१०१
तरीकत	२२५	दक्षिण भारत की मीरा	११०
तंत्र-मंत्र	३८	देवदासी	१०६
तालावेली	२१४	दिव्योन्माद	६१
तुलसी साहब	२१२	दैन्य	८८
तुलसी	८७, १३५	दुर्वासा	७६
तिलक	८७	द्युतकीड़ा	६३
ताम्बूल	८७	द्वारकापुरी	८५
तुडबंघ	८७	दिव्यदेह	८३
	द	दशन	६३
देवता	८८	दास्यासक्ति	१२०
देवी	८४		
द्वारका	८३	घृति	८८
		घ	

प्रेयसी	८८	प्रलाप	६१, ८६
प्रियंबदा	७५	प्रेमसाधना	६६
पुष्टिमार्ग	१५७	प्राच्य साधना	११६
प्यार	७६	पूर्वराग	६२, ६१
प्रेम	७६, ८६	पाश्चात्य साधना	११६
पीत	८८	प्रौढ़	६२
पाण्डुर	८८, ८७	प्रणय पिपासा	६२
पत्र भंग	८७	प्रतीक उपासना	१०५
प्रसाधन	८७	प्रजल्प	६१
प्रस्वेद	१६५, ७६	परीक्षित	१०६
प्रीति पुरातन	७६	परमभाव	७०, १०६,
पीगण्ड	८६	प्रद्युम्न	१०८
प्रणय	६०	प्रत्याख्यान	७८
प्रणय लीला	२४६	पुरुष हृदय	१०८
पूर्ण	८८	परम विरहासक्ति	१२०
प्रकंप	१६५	प्रेमरशना	१२०
पण्डरपुर	११०	पंत	१४२
प्रणय मिलन	७८	परदानशीं	१४३
पुराण	८४	प्रपत्ति	१४६
प्राचीना	८४	प्रेम की पीर	१५०
पद्म	८४	पद्मावत	१५०
परम प्रेष्ठ	८४	पूजासक्ति	१२०
प्रियसखी	८४	पुष्पचौर्य	६३
प्राणसखी	८४	प्रज्ञापारमिता	६४
पिगला	८८	प्राणायाम	७३, ६४
प्रलय	८८	प्रीतम की सेज	१५०
प्रज्ञा	६६	पंचम पुरुषार्थ	१२१
प्रियता	८८	प्रकटलीला	६३
पदांक	८७	प्रेमास्वादन	१२८
पर्ववासर	८७	प्रसाधन	८६
परात्पर तत्व	११६, ६५	प्रीतम की अटारी	२४६
परम प्रेम	६६	परोढ़ा	८६

परोढ़ाभिमान	८६	प्रेयस	८८
पद्मावती	२१४	फ	
'प्रसाद'	२५१	फागलीला	१६१
प्राकृत काम	८२	ब	
प्रीतिसंदर्भं	८१, ८२	बारहमासे	२११, २२१, २२७
प्रौढ़ा	८२	ब्रीडा	८८
पूर्वानुराग	१७६	ब्राउनिंग	११५
परकीय	८२	ब्रजरस	८५
परकीया	८२, ८४, ८५, २४६	ब्रह्मज्ञान	८५
परकीयाभाव	८२, ८३	बलराम	८८
परकीय रस	८३	बुद्ध	८८
प्रतीप	६७	बोध	६६
पद्मपुराण	८१	बोध	८८
पिय परिचय	१०५	ब्रह्म संहिता	८८, १०५, ८१
प्राणवल्लभ	७६	ब्राह्मी स्थिति	१०६
प्रियादासजी	६८	ब्राह्मत्वमक्य ज्ञान	१०६
प्रीति	८८	बिहार-वासना	१३२
पनघट लीला	१६१	बाइबिल	१४५
प्रेय	७०	ब्रह्मरन्ध्र	१५१
पीपा	६६	बडंस्वर्यं	११६
प्रबंध	२२५	बिम्बाधर सुधापान	६३
प्रिय नर्म सखा	८५	ब्रह्मानंद	१५०
पीठमर्दक	८५	ब्रजवासिनी	८६
परिचारिका	८५	ब्रजवासी	८६
पत्रहारिका	८५	ब्रजगोपीत्व	८६
प्राणमय	६६	ब्रजलीला	८२
प्रेम तत्व	७१	बृहद् गीतमीय	८१
प्रगल्भा	८४	ब्रह्मवैवर्त	८१
प्रेममयी तृष्णा	१५६	बाललीला	१६१
परव्योम	८४	बिदकी	१५५
प्रोषितभर्तृका	८४	ब्रह्मवाद	६६
प्रेमाभक्ति	१५८	ब्रजपुरी	८५

मुंडक	१०५	माघुर्य	२४८
मन्युपनिषद्	१०६	मान शून्यता	१६०
महाभारत	१०६	मार्फत	२२५
महासुख	६४, ६६	महादेवी	१७८, २२५
मूलाधार	२२१, ६५	मुक्तक	२२५
मधुर भाव	६३	मेदम ग्यों	१८१
मिलन मन्दिर	११६	मीरा बाई	६६
मिथुन भाव	१२०	मथुरा गमन	१६१
माता वाशुली	१३०	महाप्रभु श्री चैतन्य देव	१००
मध्यमा	८४	मणिपुर	२२२
मायिक विश्व	८३	मनोमय	६७
मत्स्य	८८	मोट्टायित	८६
माधव	८८	मिलन लीला	१६१
मित्रता	८८	महासती	७७
मधुर	८८	महादेव	७७, ७८
मुरली	८७	मदन	७८
मैदम ब्रूयर	१३०	मन्मथमथन	७७
महाधि वाल्मीकि	१३६	मजनु	७७
मेटरलिक	१४०	मिथिलेश नन्दिनी	८७
मैकवेध	१४१	मण्डन	८७
मरीचि	७८, १४१	मृदुता	८६
मानस-प्रखालन	१४१	मानसिक	८६
महा लक्ष्मी	१४६	महामिलन	७१
महाविष्णु	१४६	मिथिला	७१
मधु मालती	१५२	मध्व	७०
मृगावती	१५२	मुनि	८४
मधुसूदन सरस्वती	१५०	मुग्धा	८४
मैथिल-कोकिल	१५२	मध्या	८४
महा वाणी	१५३	मथुरा में पूर्णता	८२
मंजरी स्वरूप	१५५		
मानस-पूजा	२२२		
मधुरा रति	८२, २४६		

य

यौधिकी

३७६

युग	८७	राधा	८४
युगल	९५	रामी	१३०
यामल	९५	राघव	८८
युगनद्ध	९५	रौद्र	८८
युगलोपासना	९६	रंग	८८
योगसाधना	९७	रूप-श्री	१०४
यथार्थवाद	११५	रुक्मिणी	८९
यज्ञ	१०५	रति का उदय	८९
याग	१०५	रसाणव सुधाकर	९१, ९३
यम	१०४	रागानुगा	१५४, १५९
यमुना	९३	रुद्र	१०६
यौवन वसन्त	१२९	रामभक्ति शाखा	१०८
यशोदा	७०	रामावतार	१३६
राम	७६, ६८	रासपंचाध्यायी	१३३, १३४
रत्नमाला	८७	रासमण्डल	१३४
राधारानी	७६	रास	९३
रसिकशेखर श्रीकृष्ण	७६	रूपासक्ति	१२१
रोमांच	१९५, ७६	रूपमुचा	१२८
रूप	६७, ८६	रास	८६
रसायन	९६, २०४, ६८	रबिया	२५४
रवीन्द्रनाथ	१९८, २०६, २०७	रूप-भावृती	१९२
रघुनाथदास गोस्वामी	९३	रसास्वादन	८२
रसीली भगति	२०३	रति	८२
रक्तिमा	९०	रत्याभासज	९७
रक्तिमराम	९०	रूपलावण्य	८०
रूप गोस्वामी	८६, १८७	रैदास	६९, ९, १००, २२३
रामायण	१०८	रूसी	१८३
रसखान	१०९	रस	६७, ८८
रक्त	८८	रुचिभक्ति	१५४
रति	८८	रामत्व	६९
रससिद्धि	९६	रामचन्द्र	१५५
रानटे ब्रीजेज	११५	रामनाम	६९

रामात्मिका	१५६	वनसृज	८७
रुद्र	६६	वलय	८७
राधिकावल्लभ	६८	बृहदारण्यक	२४६
रामतापनी उपनिषद्	६८	विश्वम्भ	८६
रहस्यमयी	७१	वात्सल्य	७०, २४६
राजस्थान	७०	व्यक्त	८८
		व्याधि	८८
श्लोक-संग्रह	७६	विधाक्त	८८
संलित	८६	वितर्क	८८
सांग फेलो	११४	व्यासदेव	१०६
लावण्य	८८	बृहदवामन पुराण	८४
सालसा	६०	बृन्दावनेश्वरी	८४
सलिता	१३७	वाराह	८८
सियर	१४०	विलुठित	८८
सीलाविलास	६५	वेपथु	८८
सैला	७७	वज्रसत्व	६६
लोकमर्यादा	७०, ७८	वीभत्स	८८
लौ	१०२	वीर	७६
लक्ष्मण	७८	विश्वस्त	८८
लीला	८६	वेणु	८७
लीलामापुरी	१६०	वंशी	८७
लीला बिहार	१५५	विस्मय	८८
लौल्य	१६०	विश्वसंगीत	८८
लास्य	८५	व्याभिचारी भाव	८८, ६७
लिगिनी	८५	वैद्यवधर्म	१०८, २५०
		विलाप	६४, ८६
वाल्मीकि	७८	व्यपदेश	८६
वैजयन्ती	८७	विप्रलम्भ	८६
वेणी	८७	वैवर्ष्य	६३
विशेषवसन	८७	विष्णु-छन्द	१०५
वसन	८७	विजल्प	६०
वैवर्ष्य	११, ८८, २२३	विष्णु	६६, १०५, १०६

वरण	१०४	वल्लभ सम्प्रदाय	७०
वासुदेव	१०८, ६८, ६९	विरहित	१६०
वात्सल्यासक्ति	१२०	विषयालंबन	९६
वल्लभाचार्य	१०८	ब्रजेन्द्रनन्दन	८५
व्याधि	९२	वनदेवी	८५
वैष्णव सम्प्रदाय	१३२	विदूषक	८५
विष्णु स्वामी	१०८	विट	८५
वियत्रिस	१३९	वामता	८५
वार्तालाप	९३	विसृष्टार्था	८५
विशिष्टाद्वैत	१४९, ७०	वासकसज्जा	८४
वृन्दावन क्रीड़ा	९३		
विश्वरूप दर्शन	११८	व	
वंशी चोरी	९३	विप्रलब्धा	८४
वैष्णव सहजिया	८४	वृन्दावन लीला	८३
वस्त्राकर्षण	९३	वज्र	८४
वनवृन्दावन	९३	वैकुण्ठ	८४
वयःसंधि	८६	विरजा	८४
वाचिक	८६	विजय कृष्ण गोस्वामी	७४
बिलापकुसुमांजलि	१५३	विश्ववेदना	७५
विषयालंबन	२४९		
वृहद् भागवतामृत	१५३	श	
वात्सल्यरस	७८, ८२	शोक	८८
विश्वनाथ चक्रवर्ती	८३	शांत	८८, २४७
विग्रह माधुरी	१२३, १९१	शंका	८७
वज्रलेप	७८	शुकदेव	१०६
विरहिणी	७८	शांडिल्यसूत्र	१०५, २४९
विच्छिन्ति	१२३	शेक्सपियर	१४१, १४२
वंशीवादन	८९	शरणागति	१४९
विद्यापति	७०	शक्ति	२२१
वंशीवादन लीला	१९१	शरीरगत	२२६
वेणुमाधुरी	१९८	शांडिल्य	२४९
विभीषण	७०	श्याम राम	९०
		शबरी	७०, १९१

शिव	६६, ७७		
शकुन्तला	७७, ७८, २१४	षट्कर्म	१८०
शांतरस	८०	षड्भूतु	२१३
शिल्पकारी	८५		
शठ	८५	स	
शृंगार	७६, ८५, ८८ ६०	सनत्कुमार तन्त्र	१५५, २४७
श्रम	८८	सूरदास	१८७, २११, २१२
श्रीकृष्णार्पण	१०६, ६६	सीता	७६, २१३
श्रीरंगनाथ	१०६	स्मित	८१
श्री विट्ठल	१०६	सौंदर्य	८०
श्रीमद्भागवत	१०६, १०८, १३१, १५१	सुरत	१८६
श्री अरविन्द	४१, २१६	सम्प्राप्तसिद्धि	८५
श्रीकृष्णवासुदेव	१०६	साहब	१८६
शृंगार वृत्ति	१२७	सिद्ध	७६
शृंगारवासना	७१	सायक	८५
श्री कृष्णोपनिषद्	१३२	सुन्न महल	१८६
श्रीनिम्बाकीचार्य	६६	सुमैत्र	६०
श्री सम्प्रदाय	१५०	सिद्ध देह	२४७
श्रीस्वामी	१५१	स्नेह	८८, ६०
श्री चैतन्य चरितामृत	१५३	सख्य	६०, ७०, २४७
श्री कृष्णदास कविराज	१५३	साहचर्य-सुख	१८५
श्रीहरिव्यास जी	६८	सुसख्य	६०
श्रीनिवास	१५६	स्मृति	८८
श्रीकृष्णाकपिणी	१५६	सुप्ति	८८, १००
श्रेय	७०	स्नेह-चुम्बन	७८
श्रीकृष्ण संदर्भ	८१	सूफी फकीर	६४
श्रीरूपगोस्वामी	७८	समरस	६६
शृंग	८७	सखी	७६
श्रीसीताराम	६६	सहजिया	६५
श्रीकृष्णप्रेमजी	७१	समरस की स्थिति	६५
श्रीगिरिधरगोपाल	७१	सहज्यार	६५, ६६
श्रीचैतन्यदेव	७१	स्तम्भ	८२

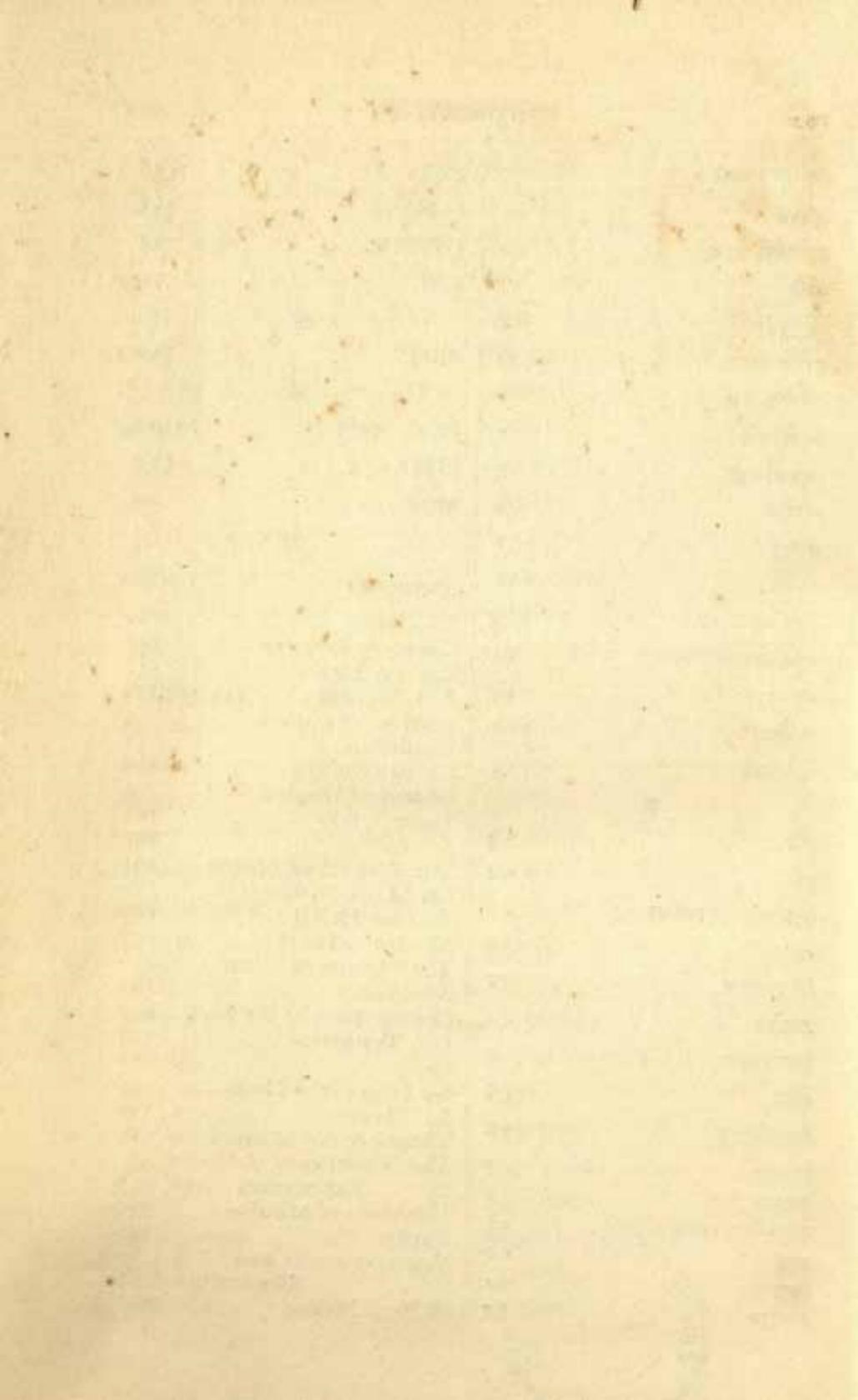
स्वरभंग	८८	सिद्ध-सन्तों	१२१
समरस	६५, ६७	संप्रयोग	६२
सुषुम्ना साधना	६५	सौन्दर्य-मधु	१२७
सदाशिव	६५	सहज साधना	१२७
स्वकीया	८४, २४७	सनातन नारी	१२७, २४७
संदेश	८६	स्वयं	८४
साधारणी	८६	स्वसंवेद्य	२४४
समंजसा	८६	सुजान	२२१
रस साधना	६६	सूफी मतवाद	२२७
स्नेह	८६	सेन्ट टेरेसा	२५३
सृष्टि का सनातन प्राण	११६	सिद्ध-देह	१५४
संभोग	६०	संकल्प कल्पद्रुम	१५४
सुजल्प	६०	समरसता	२१६
स्थितप्रज्ञ	१०७	स्वाधिष्ठान	२२०
साधना	७६, ७८	सूर	१०८, २५२
स्मरणासक्ति	१२०	स्वरूप सक्ति	८२
सख्यासक्ति	१२०	स्वकीय	८२
सांख्यमार्ग	१०६	सुदामा	१६१
स्पर्श	६३	सत्वाभासज	६७
'साधारणीकण'	१४१	सख्यरस	८१
स्वामी रामानुज	१४६	सम्मोहनतन्त्र	८०
सामवेद	११७	सुदीप्त	६७
सौन्दर्योपासना	१२५	स्वभावज	८६
संत ज्ञानदास	१२५	सर्वात्मसमर्पण	१६८
सुन्नमहल	१२४	सिद्धान्त रत्नाञ्जलि	१५३
सहज साधना	६४	सुग्रीव	६६
संजल्प	६३	सहज समाधि	२२१
संस्पर्श	६३	सहज समाज	२२१
संदर्शन	६३	सहजावस्था	२२१
सुरंग सुषुम्ना	१५२	स्वामी रामानन्दजी	६६
सुषुम्ना	१५२	समुत्कंठा	१६०
स्वयं लिंग	१५२	सम्बन्धरूपा	१६०

स्वामी रामानुज	६६	हलूल	२२६
स्निग्ध	६६	हकीकत	२६५
सात्त्विक भाव	६६	हरिवल्लभा	८५
सखी	८५	हास	८८
स्वयंदूती	८५		
साधन भक्ति	१५६	क्षान्ति	१६०
स्वकीय रस	८४		
स्वाधीनभर्तृका	८५	त्रिपाद विभूति	८४
साधनसिद्धा	८५	त्रिकुटी महत्त्व	१५१
संब्योम	८४	त्रास	८८
सार्ष्ट	१५६		
सायुज्य	१५६	ज्ञानसमुच्चय	१०६
सुदुर्लभा	१५६	Abu Said	२७०
सान्द्रानन्दविशेषात्मा	१५६	Coventry Patmore	२३५
सारूप्य	१५६	Eastern Lights	२५४
सामीप्य	१५६	E. Underhill	१६६, १८३, १६६
सालोक्य	१५६	Francis Thompson	६
		Gardener	१३३
		George Russell	२६०
		Hound of Heaven	६
		Inner lights	१२२
		Jalaluddin	२७३
		The Festival of Spring	२७३
		M. M. G. N. Kaviraj	६३
		Mansur Hallaj	२७३
		Meister Eckhart	२७३, १८१
		The Mystics of Islam	२७०, २१७
		Newman	१०२
		On the Steps of the Soul	२६८
		Old Testament	२३३
		Sapho	१६४
		St. John of the Cross	२५६
		St. Theresa	२६३, २०४, २४७
		Theory & Art of mysticism	१४५
		The Varieties of Religious	
		Experiences	२६२, २६७
		The story of Mirabai	२३६
		Taular	२६५
		Vaisnava faiths and	
		Movements	८३
		Wilfred Monod	२७१

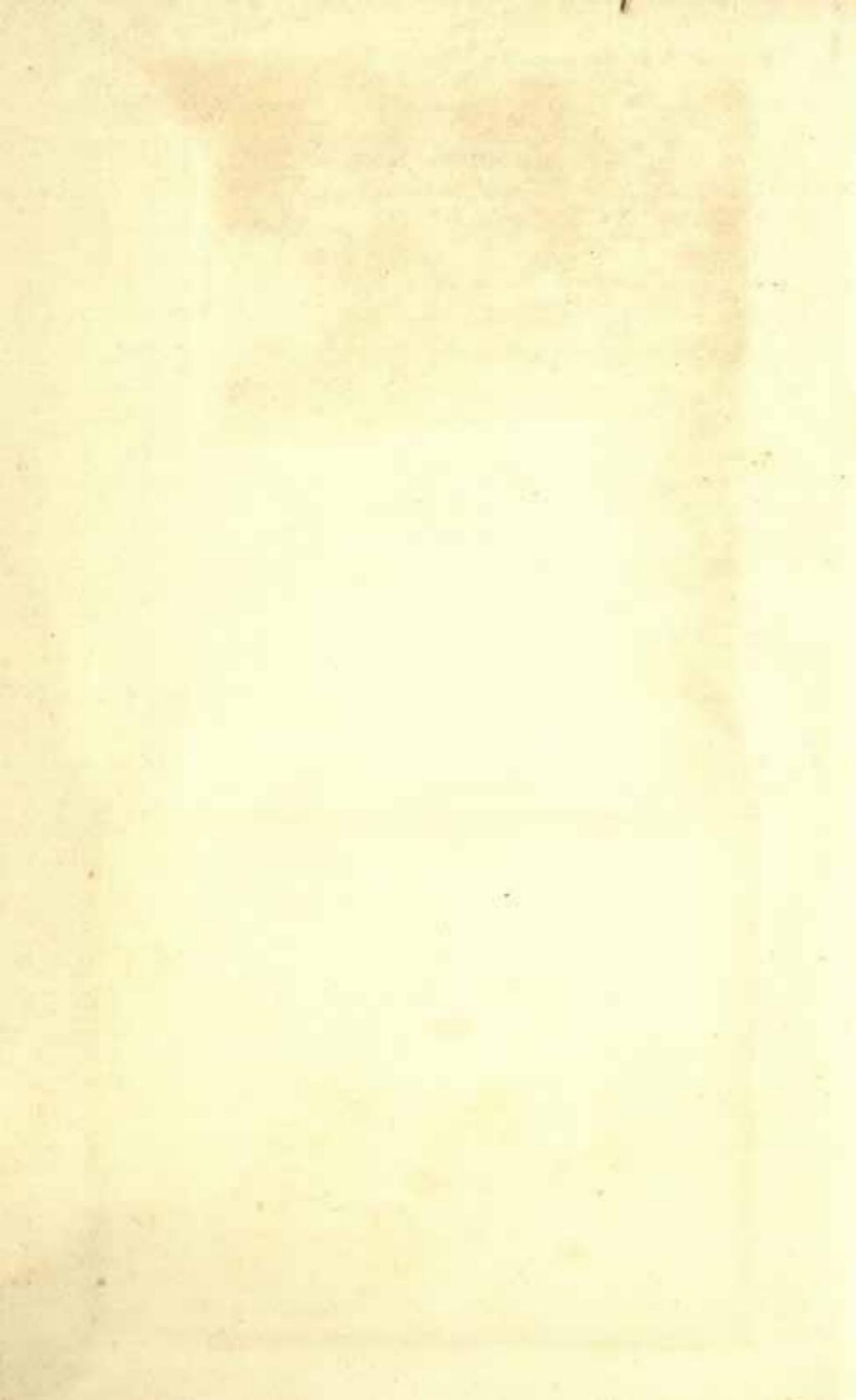
ह

हार	८७
हर्ष	८८
ह्लादिनी महाशक्ति	८५
हास्य	८५
हिन्दू तन्त्र	६५
हठयोग	६८, ६७
हृदयद्रावण	८६
हेलेन	११६
हितहरिवंश	७१, १०८
हैमलेट	१४१
हल्लाज मंसूर	२१४
हरिभक्ति रसामृत सिद्ध	८१
हाव	८६
हेला	७०
हनुमान	६६









Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

Call No. 891.431 / Mis (43749)

Author— मिश्र, मुवनेरनाथ

Title— मीरा की प्रेम-साध

Borrower No.

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.